भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक मेरे समय-समय पर लिखे गए निवन्धों का संग्रह-मात्र है, जिनका रचना-काल सन् '४५ और '५५ के बीच झूल रहा है; अतः इनमें विचारों की अन्विति और निष्कर्षों की संगति ढूँढ़ना उचित न होगा। मैं यह मानता हूँ कि इन दस वर्षों में मैं बदला हूँ और मेरे विचार बदले हैं। फलतः इन निवन्धों में अगर कहीं असंगत तर्क, अनियंत्रित विचार और असंतुलित निष्कर्ष पाये जायें तो कोई ताज्जुब नहीं; क्योंकि ये सब-के-सब, भिन्न-भिन्न पत्र-सम्पादकों की बढ़ती हुई सामाजिक माँगों पर, मित्रों के पड़ते हुए दबाव पर और कभी-कभी अध्यापन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर, लिखे गए हैं। अतएव, इनकी विचार-भूमि एक नहीं है। इसके अतिरिक्त, भिन्न-भिन्न मानसिक स्थितियों में लिखे जाने के कारण इन निबन्धों के विचार और निष्कर्ष का सामान्य स्तर भी एक नहीं है।

लेकिन, इतना अवश्य है कि इन सबमें मेरा मूल दृष्टिकोण एक ही है। मैं साहित्य को युग-चेतना का सृजनात्मक वरदान कहता हूँ और उसको किसी 'वाद' की परिधि में रखकर परखने का अभ्यासी नहीं; क्योंकि साहित्य में कोई भी 'वाद' अपनी सामूहिकता में न तो पूर्ण है, न विश्वसनीय और न स्थायी ही। अतः साहित्यालोचन में समन्वय और सामंजस्य से काम लेना मैं हितकर समझता हूँ।

इन्हीं शब्दों के साथ मैं यह भूमिका समाप्त करता हूँ और अपने श्रद्धालु पाठकों से सत्परामर्श और सुझावों की अपेक्षा करता हूँ। पुस्तक जैसी है, आपके हाथ में है। पढ़िये और परखिये।

पुस्तक के प्रकाशन में प्रकाशक तथा व्यवस्थापक श्री भीमसेन जी ने जितनी शीघ्रता की और तत्परता दिखलाई, इसके लिए मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ। पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने में प्रो० रामकृष्ण प्रसाद मिश्र तथा श्री लवण मिश्र-जैसे कुछेक प्रिय शिष्यों ने समय-समय पर पर्याप्त सहायता की है। अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

१० फरवरी '५६ —वासुदेव

क्रम

[पहला खण्ड : सामान्य समीक्षा : पृष्ठ १ से पृष्ठ ११० तक]

[दूसरा खण्ड : युग-प्रवर्तक गद्यकार : पृष्ठ १११ से १४६ तक]

[तीसरा खण्ड : युगान्तरकारी कहानीकार : पृष्ठ १४७ से पृष्ठ १९२ तक]

[चौथा खण्ड : आधुनिक अमर कृतियाँ : पृष्ठ १९३ से पृष्ठ २८२ तक]

[पाँचवाँ खण्ड : तुलनात्मक समीक्षा : पृष्ठ २८३ से पृष्ठ २९८ तक]

[छठा खण्ड : समस्या : पृष्ठ २९९ से पृष्ठ ३१२ तक]

[सातवाँ खण्ड : प्रांतीय साहित्य : पृष्ठ ३१३ से पृष्ठ ३३४ तक]

[आठवाँ खण्ड : नवोदित हिन्दी-कलाकार : पृष्ठ ३३५ पृष्ठ ३४४ तक]

पहला खण्ड

सामान्य समीक्षा

: १ :

प्राचीन भारत की साहित्यिक देन

'साहित्य' अर्थ की व्यापकता

प्राचीन भारत की राष्ट्रभाषा संस्कृत थी। इसी भाषा में, भारत के साहित्य, व्याकरण, दर्शन, धर्म, सभ्यता और संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले अनेक अमूल्य ग्रंथ लिखे गए हैं। प्राचीन काल में 'साहित्य' और 'काव्य' का व्यवहार प्रायः एक ही अर्थ में होता था, जिसका प्रयोग बड़ा व्यापक था। उन दिनों साहित्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई थी—'सहितस्य भावः साहित्यं'—सहित होने के भाव को साहित्य कहते हैं। कहने का मतलब यह है कि "जो हमारे भावों और विचारों को इकट्ठा करके या मानव-जाति में एकसूत्रता उत्पन्न करके अथवा जो काव्य के शरीर-स्वरूप, शब्द और अर्थ को परम्परा के अनुकूल सप्राण बनाकर मानव-जाति का हित करे, वही साहित्य है।" वास्तव में, उस समय 'काव्य' शब्द का वही अर्थ था जो 'साहित्य' शब्द का प्रायः होता है। साहित्य की यह परिभाषा प्राचीन भारत के मौलिक चिन्तन की देन है। साहित्य की इतनी व्यापक परिभाषा अब तक किसी भी दूसरे देश ने नहीं दी। अतएव, साहित्य के क्षेत्र में प्राचीन भारत की देन असाधारण और अमूल्य है। इसमें उसने अपने स्वतन्त्र चिन्तन, मनन और अध्ययन का परिचय दिया है। इस दृष्टि से 'साहित्य' में दर्शन, गणित, समाज-शास्त्र, ज्योतिष, अर्थ-शास्त्र, नीति-शास्त्र, पुराण, वैद्यक-शास्त्र इत्यादि का समावेश किया है। ऐसी अवस्था में प्राचीन साहित्य ज्ञान-वृद्धि का एक-मात्र साधन था। साहित्य के इस प्राचीन अर्थ में चारों वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्व वेद तथा अठारह पुराण सभी उसके अन्तर्गत आते हैं। इनके साथ ही चाणक्य का अर्थशास्त्र, पाणिनी का व्याकरण, चरक का वैद्यक-शास्त्र, वात्स्यायन का 'कामसूत्र'—सभी साहित्य में समाविष्ट हैं, क्योंकि ये सभी शास्त्र मनुष्य के सामान्य ज्ञान-विस्तार में सहायक हैं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् विन्टर नित्ज और मैक्समूलर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में सभी ज्ञानवर्द्धक विषयों तथा शास्त्रों को एक साथ मिलाकर भारतीय साहित्य की विवेचना की है। भारतीय साहित्य की चिन्ता-धारा में उपर्युक्त विषयों का अपना स्थान तो है ही, इसके साथ ही प्राचीन काल में साहित्य का प्रयोग दूसरे अर्थ में भी होता था। शुद्ध साहित्य के अर्थ में, जिन पुस्तकों का सम्बन्ध मनुष्य के सामाजिक अथवा वैयक्तिक ज्ञान-विज्ञान से होता था, उन्हें साहित्य की श्रेणी में नहीं

रखा जाता था। सीमित अर्थ में प्राचीन साहित्य का उद्देश्य केवल मनुष्य के मस्तिष्क को सन्तुष्ट करना नहीं वरन् मनुष्य-जीवन को अधिक सुखी और अधिक सुन्दर बनाना था। प्राचीन साहित्यकार साहित्य के माध्यम से मानव-जीवन के दुःखों और संकटों को क्षण-भर के लिए भुलाने में समर्थ था। उन दिनों साहित्य से उन्ही ग्रंथों का बोध होता था जिनमें कला की चेतना होती थी। इस अर्थ में प्राचीन संस्कृत-साहित्य में साहित्य को हर जगह काव्य की संज्ञा दी गई है और इसके दो मुख्य भेद माने गए हैं। पहले प्रकार के काव्य को 'श्रव्यकाव्य' और दूसरे प्रकार के काव्य को 'दृश्यकाव्य' कहा गया है। श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खंडकाव्य आदि आते हैं; और दृश्यकाव्य के अन्तर्गत नाटक, रूपक आदि। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत का प्राचीन साहित्य, व्यापक और सीमित, दोनों अर्थों मे लिया जाता था और उसके दो स्पष्ट भेद थे।

स्वरूप

प्राचीन भारत के हवा-पानी में कुछ ऐसा जादू था, कुछ ऐसा असर था कि उस समय के मनुष्य-जीवन की समस्त क्रियाओं, प्रयत्नों और चेष्टाओं में एकता होती थी और इसलिए प्राचीन साहित्यकारों ने, दार्शनिकों की तरह, जीवन और जगत् में आत्मा और सत्य की खोज की थी। शेक्सपीयर ने अपने नाटक में एक स्थान पर लिखा है कि साहित्य पृथ्वी और स्वर्ग के बीच की वस्तु है। किन्तु वास्तव में प्राचीन भारत के साहित्यकारों की गति त्रिशंकु की-सी नही होती थी। वह न तो विश्वामित्र की तरह अपने यजमान को सदेह स्वर्ग पहुँचाने का दावा करता था और न अपनी कल्पना के डैने फैलाकर दूर शून्य नीलाकाश में निरर्थक चक्कर ही लगाया करता था। प्राचीन भारत का पवित्र साहित्य उस आत्मा की खोज है जिसको पाने के लिए युग-युग से मानव प्रयत्नशील रहता आया है। प्राचीनों ने साहित्य के इस मर्म को अच्छी तरह समझा था; इसीलिए उन दिनों साहित्यकारों की संख्या कम होती थी। उनका प्रयास जीवन के नंगे रहस्य को जान लेना था, परख लेना था। प्राचीन साहित्य भेद में अभेद, समूह में इकाई, तूफान में तिनके और अनेक में एक का अन्वेषण करता रहा है। वह जीवन के आनन्द और विषाद, आकर्षण और विकर्षण, अनुराग और विराग, आत्मा और परमात्मा, जड़ और चेतन को, संयोग-वियोग के सत्य रूप को, जानना चाहता था और उसने जाना भी था। इसीलिए भारत के उन हँसते-खेलते दिनों का साहित्य आज भी उसी तरह निर्मल, स्वच्छ और ताजा बना हुआ है जिस तरह प्रतिदिन सुबह गुलाब, अपनी नई पंखुरियों के साथ, ताजगी और सौन्दर्य का नूतन निखार लेकर पृथ्वी पर अवतरित होता है। अतः हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि प्राचीन भारत का साहित्य किसी एक युग की आलोचना नहीं, वरन् युग-युग की शंकाओं, चिन्ताओं और प्रश्नों का समाधान है। इसीलिए प्राचीन भारत के प्रहरियों, जैसे, कालिदास, भवभूति, भास, हर्ष, अश्वघोष आदि महान् कवियों की अमर कृतियाँ आज भी हमारे शरीर में पहले-जैसा रोमांच भरती हैं, हृदय को स्पंदित करती हैं और आत्मा का परिष्कार करके अन्तर के उदात्त

गुणों को प्रोत्साहित करती हैं। संक्षेप में, प्राचीन साहित्य, आत्मानुभूति, आत्म-परिष्कार और आत्म-विकास का मुख्य साधन था, जिसका उद्देश्य व्यक्ति-जीवन के साथ सामाजिक जीवन को अधिक उन्नतिगामी बनाना था। 'साहित्य-दर्पण' में कहा गया है कि साहित्य अथवा काव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का मुख्य साधन है। साहित्य के प्रयोजन की जितनी सुन्दर व्यावहारिक और संतुलित व्याख्या प्राचीन साहित्य में हुई है वैसी विश्व-साहित्य में दुर्लभ है। दूसरे देशों में इसका अनुकरण अवश्य हुआ; पर उससे बाजी मार ले जाने की कल्पना अब तक किसी ने नहीं की। यह थी प्राचीन भारत की साहित्यिक विजय और उसकी एकान्तिक साधना।

आत्मा की खोज

प्राचीन भारत का साहित्य इतना ऊपर उठा कि फिर उसे और ऊपर उठाने की आवश्यकता ही न पड़ी। संस्कृत-साहित्य में काव्य-शास्त्र पर बहुत गहरा अध्ययन और व्यापक छान-बीन हुई है। उन साहित्यकारों के निष्कर्ष सार्वभौम सार्वकालिक और चिरन्तन सत्य हैं। गुप्तकाल भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण युग' कहा जाता है। आदिकवि वाल्मीकि से हर्ष तक भारतीय काव्य ने जितना विकास किया, उतने समय में विश्व के किसी भी दूसरे देश ने अपने साहित्य को इतना समृद्ध नहीं किया। कविता, नाटक, गद्य और काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में भारत ने आशातीत उन्नति की थी। वाल्मीकि-जैसे महाकवि, कालिदास-जैसे नाटककार, बाणभट्ट-जैसे गद्यकार; और दंडी, आनन्दवर्द्धन, धनंजय, राजशेखर, मम्मट-जैसे काव्याचार्य विश्व-साहित्य के, विशेषतः भारत के, जगमगाते रत्न हैं, जिनकी तुलना किसी भी अन्य देश के साहित्यकार से नहीं की जा सकती। कहने को तो हम भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र की तुलना ग्रीक विद्वान् अरिस्टॉटल की 'पोयटिक्स' से, वाल्मीकि की तुलना होमर-वर्जिल से, कालिदास की गेटे-शेक्सपियर से और चाणक्य की तुलना मेशियावली से कर देते हैं, लेकिन इस तरह की तुलना निराधार और निरर्थक है। आज स्वतन्त्र भारत में इस तरह की तुलना के लिए कोई गुञ्जाइश नहीं है। प्राचीन भारतीय साहित्य पाश्चात्य साहित्य से उसी तरह भिन्न और अलग रहा जिस तरह सामाजिक जीवन में संसार की समस्त नारियाँ पुरुषों से भिन्न अलग रहती आई हैं। साहित्य के क्षेत्र में भारत की देन अद्भुत और निराली है।

इस देश के अतीत में काव्य-शास्त्र ने अपूर्व उन्नति की थी। कुछ प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—भट्टि का 'अलंकार', भामह का 'काव्यालंकार', दंडी का 'काव्यादर्श', उद्भट का 'ध्वन्यालोक', राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा', धनञ्जय का 'दशरूपक', भोज का 'सरस्वती कण्ठाभरण', मम्मट का 'काव्य प्रकाश', रुय्यक का 'अलंकार सर्वस्व', जयदेव का 'चन्द्रालोक', विश्वनाथ का 'साहित्य दर्पण' और पंडितराज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर' विश्व-आलोचना-साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं और संस्कृत-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनमें अधिकांशतः काव्याचार्यों ने काव्य के स्वरूप, महत्त्व, कवि के साधन, काव्य की उत्कृष्टता, काव्य

की आत्मा, शब्द-शक्ति, काव्य के गुण-दोष, अलंकार, रस आदि विषयों पर गम्भीर शास्त्रीय विवेचन किया है। भारतीय काव्य-शास्त्र के उपरिलिखित आचार्यों को पाँच सम्प्रदायों में बाँटा गया है। वे इस प्रकार हैं—दंडी-भामह का अलंकार-सम्प्रदाय, कुन्तक का 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय', वामन का 'रीति-सम्प्रदाय', आनन्दवर्द्धन का 'ध्वनि-सम्प्रदाय' और विश्वनाथ का 'रस-सम्प्रदाय'। इन सब आचार्यों ने काव्य की आत्मा को विशेष रूप से अपनी मीमांसा का विषय बनाया था। काव्य की आत्मा क्या है, इस छोटे-से विषय को सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त काव्य-सम्प्रदायों का जन्म हुआ था। यहाँ भी उन्होंने आत्मा की खोज की है। कुछ लोगों ने अलंकार को काव्य की आत्मा कहा, तो कुछ ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया। इसी तरह यदि कुछ आचार्यों ने रीति तथा ध्वनि को आत्मा कहा तो कुछ ने रस को सबसे ऊँचा स्थान दिया। कहने का मतलब यह कि दर्शन और अध्यात्म के इस देश ने साहित्य के संसार में भी आत्मा की खोज का काम बराबर जारी रखा।

ग्रीक और भारत

साहित्य के क्षेत्र में भारत की देन को अच्छी तरह समझने के लिए यह आवश्यक होगा कि इसके साथ प्राचीन यूरोपीय साहित्य और उसकी सामान्य प्रवृत्तियों को समझने की चेष्टा की जाय। यहाँ मेरा तात्पर्य ग्रीक-साहित्य से है। वास्तव में, प्राचीन विश्व में ग्रीक-साहित्य और भारतीय साहित्य की पर्याप्त उन्नति हुई थी। भारतीय साहित्य की अपेक्षा ग्रीक-साहित्य ने अनुकरण (Imitation) पर विशेष जोर दिया है। अरिस्टॉटल ने स्वयं काव्य का मूल 'अनुकरण' में माना है, क्योंकि अनुकरण और कार्य (Action) दोनों में मनुष्य आनन्द प्राप्त करता है। यही कारण है कि पाश्चात्य साहित्य में घटनाओं तथा कार्यों पर विशेष बल दिया गया है। पर भारतीय साहित्यकारों ने अनुकरण के स्थान पर 'सृजन' (Creation) को ही अधिक प्रश्रय दिया, क्योंकि उनका विश्वास था कि जहाँ अनुकरण होता है वहाँ जीवन की सजीवता नहीं होती, और जहाँ सृजन होता है वहाँ आत्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ अभिव्यक्त नहीं होतीं। अतः प्राचीन कवियों तथा काव्याचार्यों ने फाटोग्राफी की अपेक्षा चित्र-कला को ऊँचा स्थान दिया है। हमारे यहाँ काव्य में अनुभूति का विशेष महत्त्व माना गया है। प्राचीन साहित्य का मुख्य उद्देश्य जीवन का बालकोचित अनुकरण नहीं, प्रत्युत आनन्द की सृष्टि और उपलब्धि था। अतः कविता का ध्येय किसी बात को प्रभावशाली ढंग से कहने में था, जबकि ग्रीक-साहित्य में उसका उद्देश्य जीवन का यथार्थ चित्रण रहा। ग्रीक-साहित्य में दुःखान्त नाटकों की संख्या की अधिकता का यही कारण है। भारतीय साहित्य में दुःखान्त रचना का सर्वथा अभाव है। ग्रीक-साहित्य में दुःखान्त नाटकों को सर्वोत्कृष्ट साहित्य के अन्तर्गत रखा गया है, पर हमारे यहाँ सुखान्त नाटकों के लिखने की प्रेरणा दी गई है, क्योंकि हमारे साहित्यकारों ने जीवन को यथार्थ रूप में न लेकर आदर्श रूप में लिखा है। हमारे यहाँ काव्यानन्द और ब्रह्मानन्द को एक ही कोटि में रखा गया है। पाश्चात्य दार्शनिक हीगल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Philosophy of

'Fine Arts' में पूर्व और पश्चिम के साहित्य की तुलना करते हुए ठीक ही लिखा है कि—"The oriental consciousness is, for example, in general more poetic than the Western mind. In the East, the principle predominant, is always that of coherence solidarity, unity substance...For the oriental nothing persists as well, substantive but everything appears as continent discovering its supreme forms, stability and final justification in the one, the Absolute, to which it is referred." साहित्य में रस और अलंकार को प्रमुखता मिलने के कारण भारत का साहित्य आदर्शवान् रहा है; जीवन के प्रति भौतिक सजगता होने के कारण पश्चिम का साहित्य आज भी यथार्थवादी बना हुआ है। हमारा साहित्य मानव-कल्याण, देश-कल्याण, समाज-कल्याण तथा आत्म-कल्याण की ओर सदैव प्रवृत्त रहा है। खेद है कि हमारे सुखद और गौरवपूर्ण अतीत ने साहित्य की जो दीर्घ परम्परा चलाई थी वह प्रसाद, पंत, महादेवी, निराला, रवीन्द्र, सुब्रह्मन् भारती आदि वर्तमान अमर कवियों तक पहुँचकर विनष्ट होती जा रही है। इतिहास साक्षी है कि प्राचीन भारत ने कभी भी, किसी युग में, किसी भी अन्य देश के साहित्य का अनुकरण नहीं किया। फिर आज क्यों ? क्या इससे यह व्यंजित नहीं होता कि हमारे आज के साहित्यकारों में अब कालिदास, वाल्मीकि, भवभूति-जैसे विश्वजनीन कवियों की सृजनात्मक कल्पना-शक्ति नहीं रही या वह किसी कोने में मुँह छिपाकर, हमारी संकीर्ण दृष्टि पर, विलख रही है ! हमें उसके आंसू पोंछने होंगे। जब गेटे, शोपेनहावर, मैक्समूलर, इमर्सन, टालस्टाय, विटमैन-जैसे विदेशी साहित्यकार और विद्वान्, जो हमारे देश में कभी नहीं आये, हमारे देश के महान् साहित्य और संस्कृति की प्रशंसा करते नहीं थकते, तो हम भारतीयों का तो यह कर्तव्य ही है कि हम अपने सुखद और स्वर्णिम अतीत के अमूल्य हीरे, मोती और जवाहरातों को सँभालकर रखें।

: २ :

आधुनिक हिन्दी-कविता की दार्शनिक पृष्ठभूमि

दर्शन और कविता

दर्शन और कविता का सम्बन्ध मस्तिष्क और हृदय का समझौता है। विचार-शून्य कविता कविता न होकर विलास हो जाती है। **'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'**-जैसी काव्य की परिभाषा एकांगी है। उत्कृष्ट कविता में हृदय का रस-स्रोत तो हो ही, मस्तिष्क की विचार-राशि भी होनी चाहिए, तभी कविता जीवन की ठोस नींव पर खड़ी होकर अडिग और अमर बनी रह सकती है। दर्शन की तरह कविता का लक्ष्य भी सत्य की खोज और जिज्ञासाओं का शमन है। यदि दोनों में अन्तर है तो इतना ही कि कविता का मुख्य उद्देश्य सत्य की खोज के साथ आनन्द की सृष्टि करना भी है। पर दर्शन के विचार-तत्त्व से हीन कविता, चाहे उसमें आनन्द का फव्वारा ही क्यों न फूटता हो, स्थायी नहीं होती। अतः यह सिद्ध है कि कविता की अमरता दर्शन की पीठिका पर निर्भर है। संसार के सभी बड़े कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा कुछ-न-कुछ दार्शनिक विचार अवश्य दिये हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास, प्रसाद, रवीन्द्र—सभी नये-पुराने कवियों ने अपने अनमोल विचारों को हमारे सामने रखा है। कविता में कल्पना और भाव का महत्त्व तो है ही, पर विचार की अनुपस्थिति कविता को स्थायी और उत्कृष्ट नहीं बनने देती। अतः कविता में विचार का होना आवश्यक है।

कविता की महत्ता और श्रेष्ठता सिद्ध करने वाले कुछ लोग भावावेश में आकर यह कह बैठते हैं कि **'काव्य में दर्शन आत्मसात् हो सकता है, पर दर्शन में कविता समाविष्ट नहीं होती।'** व्यापक दृष्टि से, दर्शन की प्रक्रिया में तर्क की प्रधानता होती है और कविता की दृष्टि में समवेदना की। प्रक्रिया में भले ही अन्तर हो, पर दोनों का लक्ष्य एक ही है—सत्य की खोज। यदि हम कविता के चरम लक्ष्य पर विचार करते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक दृष्टि से कविता जीवन की अन्तिम मंजिल है, जहाँ पहुँचकर सब-कुछ जान लिया जाता है, जानना कुछ शेष नहीं रह जाता। जीवन की चरम सिद्धि सत्य, शिव और सुन्दर की सम्मिलित आराधना कविता के द्वारा सम्भव है। दर्शन की दुनिया में सत्य की उपलब्धि हो सकती है कुछ अंश तक शिव की भी उपासना हो जाती है; पर सुन्दर की साधना बिलकुल नहीं होती। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट है कि दर्शन

की अपेक्षा कविता की सत्ता, शक्ति और उपयोगिता अधिक व्यावहारिक है। कवि के दार्शनिक होने से एक लाभ यह भी है कि हमारी जीवन-ममता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। दार्शनिक अपनी उड़ान में संसार को माया, दुःख और पाप का विशाल कारखाना समझकर समाज, परिवार और विश्व की उपेक्षा कर बैठता है। कवि की दार्शनिकता में जीवन की विरक्ति नहीं समग्र जीवन की अनुरक्ति होती है। यही कारण है कि संसार में दार्शनिकों की अपेक्षा महाकवियों का सम्मान अधिक हुआ है सभ्य देशों में। कविता और दर्शन के अन्तर ऊपरी हैं, भीतरी नहीं। वास्तव में काव्य और दर्शन एक ही पृष्ठ के दो पन्ने हैं; एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कवि दर्शन के बिना नहीं रह सकता, क्योंकि दर्शन ही उसकी जिज्ञासाओं का अन्त करता है। आज तो विज्ञान भी दर्शन की ओर मुड़ चला है और दर्शन कविता की ओर।

यद्यपि वर्तमान युग भावों का नहीं, विचारों का युग है, बुद्धिवादी विचारों का; फिर भी कविता मरी नहीं है, कभी मर भी नहीं सकती। आज के कवि विचारक होकर ही जी सकते हैं—उनकी कविता का कोई-न-कोई वैचारिक आधार होना ही चाहिए। अतएव, कवि के लिए विचारक, चिन्तक या दार्शनिक होना बहुत जरूरी है। प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि कोलरिज का ठीक ही कहना है कि 'No man was ever a great poet without being at the same time a profound philosopher.' इमर्सन ने भी कविता में दर्शन की आवश्यकता को समझाते हुए लिखा था: 'The greatest poets are judged by the frame of mind they induce.' इस सम्बन्ध में कविवर ब्राउनिंग के विचार भी उल्लेखनीय हैं। उन्होंने प्रो० विलियम नाइट को एक पत्र में लिखा था कि **दर्शन का स्थान कविता के बाद है, क्योंकि काव्य दर्शन का सर्वोच्च परिणाम है।**

प्राचीन परम्परा

काल के पृष्ठों पर उन्हीं कविताओं का मूल्यांकन होता आया है जो दर्शन से, किसी-न-किसी सीमा तक, सम्बन्धित होती आई हैं और वे ही कवि 'महाकवि' की उपाधि से विभूषित होते रहे हैं जिन्होंने दर्शन को अपनी कविता की पृष्ठभूमि बनाया है। हिंदी का समस्त मध्ययुगीन साहित्य दर्शन के रंग से रंजित है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में यह पहला अवसर था जब कवियों को दर्शन का कोई-न-कोई आधार चुनना पड़ा था। कबीर का एकेश्वरवाद, जायसी का सूफीवाद, तुलसी का विशिष्टाद्वैतवाद और सूरदास का शुद्धाद्वैतवाद—उस युग के कवियों की विभिन्न दार्शनिक चेतनाएँ थीं। हिंदी के दर्शन-काव्य में इन विविध वादों का महत्त्व सर्वाधिक है। ये सभी विचार-राशियाँ तत्कालीन विचार-स्वातंत्र्य की परिचायक हैं। उस समय के कवि अपनी विचार की दुनिया में स्वतंत्र थे। उन पर राजनीति का दबाव कम, व्यक्ति के उन्मुक्त व्यक्तित्व का प्रभाव अधिक था। उनमें लकीर की फकीरी नहीं थी। मध्य युग का दार्शनिक काव्य आधुनिक कवियों को कई बार खोलकर पढ़ना पड़ा है। तुलसी से मैथिलीशरण गुप्त, मीरा से

महादेवी; कबीर से रवीन्द्र, निराला; सूरदास से पंत; जायसी से प्रसाद को बार-बार प्रेरणाएँ ग्रहण करनी पड़ी हैं। ऐसा मालूम होता है कि मध्य युग के सभी महाकवि रूप और काल बदलकर मैथिलीशरण, निराला, पंत, प्रसाद और महादेवी के रूपों में पुनः अवतरित हुए हैं। हिंदी-साहित्य का प्राचीन काव्य (मध्य युग का) अपने स्वस्थ और पुष्ट दार्शनिक विचारों के लिए सदा याद किया जायगा, क्योंकि उसकी जड़ सशक्त दर्शन के पाताल-लोक में धँस चुकी है। हिंदी की दार्शनिक चेतना सदैव अपने प्रवाह में गतिशील रही है। यह बात और है कि उसकी गति कभी तीव्र, कभी प्रच्छन्न और कभी क्षीण रही है। मध्य युग की हिंदी-कविता में दर्शन का जो गतिशील स्रोत फूटा था, वह रीतिकालीन कविता की सहारा मरुभूमि में सूख गया। कविता के कलेवर से विचार की आत्मा (दर्शन) निकल भागी। काव्य का पिंजरा खाली पड़ा था, और उसकी मैना कहीं उड़ चुकी थी। रीतिकाल में कविता विचार से शून्य, आचार से हीन, और दर्शन की चिंतना से निर्बल थी। लगभग दो सौ वर्षों तक हिंदी-कविता प्रबल विचार-धारा के अभाव में सिर धुनती रही। दर्शन से वियुक्त होकर कविता वेश्या बनकर दरबार में ठुमुक-ठुमुककर नाचने लगी। विचार के स्थान पर व्यभिचार को खुल-खेलने का अवसर मिला। ज्यों-ज्यों देश में मुगलों का पतन होता गया त्यों-त्यों हिंदी-कविता की भी मृत्यु होती गई। सबल विचार-दर्शन के अभाव में कविता की मौत हो जाती है। लेकिन सब दिन एक ही तरह नहीं कटते। समय ने पलटा खाया। देश में धीरे-धीरे अंग्रेजों का सिक्का जमने लगा। सारे देश में उनका अधिकार हो गया। हम उनके सम्पर्क में आये और वे हमारे। विचारों का आदान-प्रदान आरम्भ हुआ। नये युग का श्री गणेश हुआ।

नई चेतना

हिंदी-कविता की जो दार्शनिक धारा रीतिकाल की मरुभूमि में विलुप्त हो गई थी, वह पुनः १८वीं शताब्दी के तीसरे चरण में धरती फोड़कर बाहर निकलने का मार्ग ढूँढने लगी। इस नवीन दार्शनिक पुनरुत्थान का श्रेय बंगाल के राजा राममोहन राय को दिया जाता है और कहा जाता है कि आधुनिक भारत को जगाने में अकेले राममोहन राय ने जो काम किया वह अद्वितीय था। हिंदी के आलोचक बात-बात में बंगाल की दार्शनिकता और काव्य-चेतना को जरूरत से ज्यादा महत्त्व देते हैं। लेकिन यदि हम राममोहन राय से पहले होने वाली सांस्कृतिक पुनरुत्थान की तैयारियों को जानने की चेष्टा करें तो स्पष्ट हो जायगा कि भारतेन्दु-काल तक हिंदी के कवि बंगाल की सांस्कृतिक चेतना से न्यूनाधिक अप्रभावित ही रहे। बात यह है कि उन दिनों बंगाल के अतिरिक्त उत्तर भारत के सभी प्रान्तों में प्राचीन दर्शन को पुनरुज्जीवित करने की तैयारियाँ की जा रही थीं। हिंदी में संत-साहित्य की एक लम्बी परम्परा रही है और इसका प्रवाह सदैव गतिशील रहा है। राममोहन राय से पूर्व हिंदी-प्रांतों में ऐसे अनेक संत, दार्शनिक और सुधारक हो चुके थे जो १९वीं शताब्दी के दार्शनिकों और सुधारकों,

जैसे, राममोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, रामतीर्थ के मार्ग प्रशस्त कर चुके थे। तुलसी साहब, (हाथरस, १७६०—१८४२) और संत डेढ़राज (आगरा, १७७१—१८५२) ऐसे ही महापुरुष थे; जिन्होंने अपनी साधना के द्वारा भारतीय चिंता-धारा को नई गति दी थी। राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिन नई बातों का प्रचार किया था, उन्हें अकेले संत डेढ़राज प्रचारित कर चुके थे। वर्ण-व्यवस्था की अनावश्यकता, ब्राह्मणेतर जाति की कन्या से विवाह, हिंदू-मुस्लिम-साधनाओं का समान आदर, पुरुषों और स्त्रियों को धर्म के क्षेत्र में समान अधिकार, पर्दा-प्रथा का त्याग, मूर्ति-पूजा की व्यर्थता, विचार-स्वातंत्र्य में आस्था आदि नवीन बातों का प्रचार संत डेढ़राज पहले ही कर चुके थे। हम कह सकते हैं कि यदि हिंदी-कविता में नई भाव-धारा का आविर्भाव हुआ तो इसका श्रेय उत्तर भारत के हिंदी-प्रांतों में काम करने वाले नये संतों, समाज-सुधारकों और दार्शनिकों को ही मिलना चाहिए। बड़े-बड़े लेखकों से यह जानकर खेद होता है कि हिंदी की नवीन काव्य-चेतना में या तो बंगाल के नये साहित्य का अनुकरण हुआ है या अंग्रेजी की रोमांटिक कविता का अनुवाद। किसी भी देश की कविता अनुकरण और अनुवाद पर जीवित नहीं रह सकती; उसके पीछे कवि की उस आत्मिक चेतना का विस्फोट होता है जो देश, काल और परिस्थिति की प्रतिक्रिया में जन्म लेता है। हिंदी में नई कविता और नई विचार-धारा के मूल स्रोत को तत्कालीन परिस्थितियों में ढूँढ़ना होगा। रीतिकाल में विचार-चेतना की जो धारा अचानक सूख गई थी, वह भारतेंदु-युग में अनुकूल अवसर पाकर पुनः प्रवाहित होने लगी। युग-चेतना ही काव्य-चेतना की पृष्ठभूमि बनती है। भारतेंदु युग में हिंदी-काव्य की भाव-दिशा बदली, तो इसकी प्रेरक शक्तियों को तुलसी साहब, संत डेढ़राज, लाला शिवदयाल (१८१८—७८), राय सालिग्राम साहब (१८२८—१८९८) जैसे अनेकानेक संतों और धर्म-सुधारकों में खोजना चाहिए। बात-बात में किसी प्रान्त विशेष का मुखापेक्षी होना ठीक नहीं।

यह एक सर्वमान्य सत्य है कि दर्शन का सागर लहराने के पहले सुधार की सरिता प्रवाहित होती है। भारत के सभी प्रांतों में, हिंदी-प्रांतों में भी, यही हुआ। ऊपर हमने जिन संतों का नामोल्लेख किया है, वे सभी प्रधानतः धर्म और समाज के सुधारक थे। इनमें संत डेढ़राज का नाम विशेष उल्लेखनीय है—महत्त्व-पूर्ण है। उन दिनों जब सारा उत्तर भारत दासता की अफीम खाकर सोया पड़ा था तब डेढ़राज ने घूम-घूमकर धर्म की नई व्याख्या की, रूढ़िवादी समाज को नया मार्ग दिखलाया, शोषित नारियों के अधिकारों को फिर से दिलाने की चेष्टा की, मूर्ति-पूजा का खंडन किया। डेढ़राज की नवीन सांस्कृतिक चेतना में हम स्वामी दयानन्द सरस्वती और राजा राममोहन राय के प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं।

भारतेन्दु का युग सुधार की तैयारी में लगा रहा। स्वयं भारतेन्दु ने एक ओर संतों के और समाज-सुधारकों के नये आन्दोलनों का साथ दिया और दूसरी ओर मध्य युग की वैष्णव-धर्म की दर्शन-परम्परा को जीवित रखने की चेष्टा की।

उन्होंने अपने को वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने की बात कही है। धर्म और समाज को रूढ़ि और जर्जर परम्परा के जाल से मुक्त दिलाने में भारतेन्दु ने स्वयं समाज-सुधार का आन्दोलन चलाया था। उनके युग में गुजरात और पंजाब में स्वामी दयानन्द और स्वामी रामतीर्थ (१८७३—१९०६), और बंगाल में राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र, सेन, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और वंकिमचन्द्र का नवीन धर्म-प्रचार आरम्भ हो चुका था। भारतेन्दु पुनरुत्थान की इन नवीन चेतनाओं से अवश्य परिचित थे। उनकी वाणी में नये युग का नया संदेश इसलिए सुनाई पड़ता है कि वे युग की धर्म-चेतना के प्रति भली भाँति जागरूक थे। इस युग के कवि और दार्शनिक अपनी मुक्ति के लिए चिन्तित नहीं हुए; क्योंकि समाज, धर्म और देश की दीन-हीन दशा हो चुकी थी। इन्हें चैन कैसे आता? कोलाहल में साधना नहीं होती। अतः हमारे धर्म-चेता कवियों की साधना-प्रक्रिया में अन्तर पड़ गया। कवियों ने सूर और तुलसी की वैष्णवता में देश का राग मिलाकर राधा-कृष्ण की भक्ति के साथ देशानुराग का भी परिचय दिया। 'कहाँ करुणानिधि केशव सोये' में केवल भक्त भारतेन्दु के हृदय का ही करुण-क्रन्दन सुनाई नहीं देता वरन् देश के अन्तर की विह्वल वेदना भी सुनाई पड़ती है। अब समाज का सुख, देश का कल्याण और धर्म की नवीन व्याख्या—नये कवियों के चिन्तन की नई भाव-दिशा हो गई। भारतेन्दु काल में भारतेन्दु, सत्यनारायण, रत्नाकर आदि कवियों ने आधुनिक हिन्दी-कविता को नई दिशा दी। वस्तुतः इस काल में हमारे कवि देश की पतनावस्था, धर्म की जर्जरता और समाज की रूढ़िबद्धता का लेखा-जोखा संग्रह करने में ही अधिक व्यस्त रहे, दर्शन की सूक्ष्मदर्शिता और गहराई उनमें नहीं है। इस युग में नवीन सांस्कृतिक चेतना के लिए जो वातावरण तैयार हुआ था, वह समाज-सुधार और धर्म-सुधार के अधिक अनुकूल और उपयुक्त था। अतः भारतेन्दु युग पथ-भ्रष्ट धर्म और समाज को नये पथ पर लाने के प्रयत्न में ही अधिक लगा रहा। साधकों को व्यक्ति की अपेक्षा समाज के उत्थान की चिंता अधिक थी। विभिन्न प्रान्तों में साधना की सामाजिक संस्थाओं के उदय का यही कारण था। दयानंद का आर्य-समाज, राममोहन राय का ब्रह्म-समाज, केशवचंद्र सेन का उपासना-समाज, महाराष्ट्र में रानाडे का प्रार्थना-समाज इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि अब धर्म के साधकों को सामाजिक शक्ति और सामूहिक उपासना में अपेक्षाकृत अधिक आस्था होने लगी थी। वे समाज का संगठन करके देश का संगठन करना चाहते थे। इनका प्रभाव हमारे तत्कालीन कवियों पर भी पड़ा।

२०वीं शताब्दी की दार्शनिक चेतना

२०वीं शताब्दी के प्रथम दो दशक भारत की सांस्कृतिक और नवीन दार्शनिक चेतना के पुनरुत्थान-काल माने जाते हैं। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी इस युग की प्रेरक शक्तियाँ हैं। दर्शन की गहराई, चिंतन की सूक्ष्मता और साधना का समन्वय-प्रयोग इन्हीं दार्शनिकों से आरम्भ हुआ है। इन सभी साधकों ने वैदिक काल से चली आती हुई आध्या-

त्मिक चेतना को, देश में पुनः जीवित किया। इन सभी विचारकों ने वेद, उपनिषद्, गीता, वेदान्त तथा वैष्णव धर्म को मिलाकर एक ऐसे अध्यात्मवाद को जन्म दिया, जो देश की दार्शनिक परम्परा के अनुकूल होता हुआ भी हमारे युग की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक सिद्ध हुआ। मूलतः एक बार फिर औपनिषदिक विचारधारा को प्रबल वेग से प्रवाहित होने का अवसर मिला। डा० राधाकृष्णन् ने ठीक ही कहा है : "Indian philosophy is essentially spiritual......... In India no religious movement has ever come into existence without developing as its support a philosophic content." तात्पर्य यह है कि १९वीं शताब्दी में राममोहन राय और दयानन्द सरस्वती आदि ने जिन धार्मिक आन्दोलनों का श्री गणेश किया था, उन्हें २०वीं शताब्दी के दार्शनिकों (स्वामी रामतीर्थ, रामकृष्ण, विवेकानन्द) ने अध्यात्म की नई व्याख्या उपस्थित करते हुए व्यक्ति और समाज, समाज और राष्ट्र तथा राष्ट्र और विश्वात्मा एवं विश्वात्मा और परमात्मा की समन्वयात्मक शक्ति का परिचय दिया। भारत की भूमि पर एक बार फिर मध्य-युग की आध्यात्मिक धारा बहाई गई। लेकिन अध्यात्म की व्याख्या पहले से अधिक सुबोध और सरल की गई। इन नये दार्शनिकों को इस बात की सदैव चिंता बनी रही कि अध्यात्म की चेतना व्यक्ति की व्यक्तिगत साधना न हो जाय। उन्हें अपने साथ समाज, देश और विश्व को लेकर चलना था। भारत के दार्शनिक इतिहास में सम्भवतः यह पहला अवसर था जब उपनिषद्, गीता और वेदान्त की सामाजिक और मानवतावादी व्याख्या उपस्थित की गई। इसे हम भारत के चिर पुरातन चिर नवीन 'अध्यात्म-दर्शन का समाजीकरण' कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी भारत में सामाजिक दर्शन के (Social philosophy) जन्मदाता हम इन्हें ही मान सकते हैं। वास्तव में सामाजिक दर्शन नाम की कोई चीज पहले कभी नहीं सुनी गई थी। यह आधुनिक भारतीय दर्शन की नई देन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि २०वीं शताब्दी के तीसरे चरण (सन् ३०) तक हमारे देश में, और विशेषकर हिन्दी-कविता में जिन विचारकों और दार्शनिक महाकवियों का आगमन हुआ, उन सब लोगों ने अध्यात्म-दर्शन को जनता की सामान्य मनोभूमि पर लाने की जी तोड़ कोशिश की और इसमें उन्हें आशातीत सफलता भी मिली। हिन्दी के नये कवि युग-चेतना और युग के महिम व्यक्तियों की वाणी को कान देकर सुनते रहे हैं। सन् १८ तक हिन्दी-कविता में दर्शन की व्यापकता नहीं आई थी, क्योंकि तब तक समस्त द्विवेदी-युग पर स्वामी दयानन्द सरस्वती के जादू का असर था। हमारे कवि धर्म-सुधार और समाज-सुधार तथा देशानुराग को ही तीव्रता प्रदान कर रहे थे। वास्तव में द्विवेदी-युग आध्यात्मिक जागरण की भूमिका तैयार करने में ही लगा रहा। जिस तरह भूमिका में तह की बात नहीं होती, उसी तरह इस युग में हम हिन्दी के किसी भी दर्शन-चेता महापुरुष को नहीं पाते। महावीरप्रसाद द्विवेदी अवश्य उस काल की प्रेरक शक्ति थे; लेकिन मूलतः वे साहित्य के पथ-प्रदर्शक थे, दार्शनिक का व्यक्तित्व उनमें नहीं था। मैथिली-

शरण गुप्त तब भी 'भारत-भारती' के द्वारा देश के भूत, वर्तमान और भविष्य का हिसाब-किताब करने में लगे थे। द्विवेदी-युग के कवियों पर एक हद तक महात्मा गांधी का प्रभाव अवश्य था। गांधीवाद के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त ही हैं जो आज भी इसका प्रतिनिधित्व करते चले जा रहे हैं। इस काल तक कवियों की रूढ़िवादिता और व्यक्तिगत भक्ति-भावना की पुरानी मनोवृत्ति दूर हो चुकी थी। हमारे कवियों में समाज के सुख और देश की आजादी के साथ विश्व-बन्धुत्व की मंगल-भावना जड़ जमाने लगी थी। पौराणिक भावना भी धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही थी। राधा और कृष्ण की पौराणिक साधना समाप्त-प्राय थी। हिन्दी-कविता की चिन्ता-धारा में यह पहला अवसर था जब हमारे विचारक और कवि पौराणिक प्रसंगों के प्रभाव से बच-बचकर चलने की कोशिश करने लगे। किन्हीं-किन्हीं कवियों ने अपनी पौराणिक ममता का परिचय नवीन बुद्धिवादी व्याख्या द्वारा दिया है।

सन् १९१८ के बाद हिन्दी-कविता का अन्दर और बाहर सब-कुछ बदल गया। उसकी काया तो बदली ही, उसकी आत्मा भी बदल गई। उसने अपने लिए जिस पृष्ठभूमि को चुना उसमें युग की दार्शनिक चेतना भी थी और कवियों के हृदय की स्वानुभूति भी। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इस नई कविता को 'छायावाद' का नाम दिया गया है। कुछ समय तक छायावाद द्विवेदी-युग के कवियों और आलोचकों के लिए कुतूहल का विषय बना रहा। कुछ लोग इसकी शव-परीक्षा भी कर चुके हैं। लेकिन कठोर परीक्षा में भी उन्हें प्राण-स्पंदन की उपस्थिति का अनुभव हुआ है। आज उसकी सहानुभूतिमूलक समीक्षा होने लगी है। लेकिन प्रगति-पथ के अनुयायी आलोचक छायावादी कविता को पूँजीवाद की सृष्टि तक कह देने में तनिक भी नहीं झिझकते। उनका कहना है कि सन् १९१९ से लेकर १९३९ तक हिन्दी-कविता में छायावाद का जितना विकास हुआ, उसमें पूँजीवादी और राष्ट्रीयवादी विचार-धारा की प्रधानता है। इस तरह हिन्दी की छायावादी कविता के सम्बन्ध में आज भी लोगों की धारणाएँ भ्रामक बनी हुई हैं। धरती के उपासक प्रगतिवादी लेखक आकाश-विहारी छायावादी कवियों को निराशावादी और पलायन-वादी तक कह देते हैं। लेकिन वस्तुस्थिति कुछ और है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि छायावादी कविता अपने युग की विषम परि-स्थिति, कवियों की व्यक्तिगत निराशा, प्रथम महायुद्ध से होने वाले दुष्परिणामों और विगत युग की थोथी उपदेशात्मकता की प्रतिक्रिया में उठ खड़ी हुई थी। वह न बंगला की रवीन्द्र-कविता की नकल है और न अंग्रेजी की रोमाण्टिक कविता का अनुसरण। यह सच है कि छायावादी कवियों को अंग्रेजी और फ्रेञ्च कविता का गहरा अध्ययन था। ये सभी महत्त्वाकांक्षी विद्यार्थी थे। कालेज-जीवन में इन्हें विदेशी साहित्य के अनुशीलन का सुअवसर मिला था। जिन दिनों छायावाद का सृजन हो रहा था वह देश के इतिहास में निराशा का काल था। प्रथम महायुद्ध समाप्त हो चुका था। सारे यूरोप में महानाश की अग्नि धू-धू कर जल रही थी। इस नाश

के दृश्य को देखकर यूरोपीय कवियों का हृदय काँप उठा था। अंग्रेजी में टी० एस० इलियट को भी 'वेस्ट लैंड' (Waste land) लिखकर महानाश की कब्र पर समवेदना के आँसू गिराने पड़े थे। बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के भाव जाग चुके थे। ऐसी अवस्था में भारत के अध्यात्म-प्राण कवि यदि दृश्य-जगत् को छोड़कर अनन्त की खोज में निकले तो क्या आश्चर्य ! हिन्दी-कवियों का हृदय तो आप ही भरा था। देश में ब्रिटिश सैनिकों का आतंक था। देश के नाम पर मिटने वाले दीवानों को फाँसियों की जयमाल देकर उनका अभिनन्दन किया जा रहा था। इनसे हिन्दी के कवि अवश्य विकसित हुए, लेकिन भारतीय रंगमंच पर गांधीजी के आते ही हृदय की निराशा सदा के लिए जाती रही। कुछ दिनों तक हिन्दी-काव्याकाश में अस्पष्ट विचारों का कुहासा छाया रहा; क्योंकि हमारा देश संक्रांति-काल से होकर गुजर रहा था। कवियों की निराशा का एक कारण यह भी था कि हिन्दी के लगभग सभी छायावादी कवि अपने व्यक्तिगत जीवन से असन्तुष्ट थे। एक तो गरीबी उन्हें बेतरह बर्बाद कर रही थी और दूसरे अपने प्रेमिक जीवन में वे असफल हुए थे। सभी कवियों को अपने निराश और असफल प्रेम पर आँसुओं का अर्घ्य चढ़ाना पड़ा है। उनकी प्रारम्भिक कृतियाँ निराश प्रेम के गीतों से भरी हैं। प्रसाद का 'आँसू', पन्त की 'ग्रन्थि-पल्लव'-जैसी कुछ रचनाएँ, ऐसी ही काव्य-पुस्तकें हैं। इन छोटे-बड़े कारणों ने मिलकर छायावादी कविता के जन्म में प्रेरक शक्ति का काम किया। पर यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि इन कवियों को अनन्त की कुहेलिका में ही मानसिक वेदना का परितोष क्यों मिला। इसके दो कारण बताये जा सकते हैं। एक, भारत में अध्यात्म की लम्बी परम्परा रही है। दो-तीन सौ वर्ष पूर्व हमारे कवि अध्यात्म के संसार की बातें किया करते थे। हिन्दी-कवियों को विरासत में भारत के उज्ज्वल अतीत से वेद, उपनिषद्, गीता, वेदान्त, बौद्ध दर्शन और वैष्णव-दर्शन मिले थे; जो रवीन्द्र, रामकृष्ण, विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, गाँधीजी, और अरविन्द के माध्यम से हमें प्राप्त हुए हैं। हिन्दी की छायावादी कविता में १९वीं-२०वीं शताब्दी की नवीन दार्शनिक चेतना और सांस्कृतिक पुनरुत्थान की ही काव्यात्मक अभिव्यक्ति हुई है। हमारे कवि किसी-न-किसी आधुनिक दार्शनिक से अवश्य प्रभावित हुए हैं। पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी हिन्दी के ऐसे ही दार्शनिक कवि हैं जैसे कभी हुए ही नहीं। अतएव, इन कवियों ने हिन्दी-कविता को जिस तरह की विचार-धारा दी, उसमें आधुनिक दार्शनिकों की वाणी स्पष्ट सुनाई पड़ती है। दर्शन की सूखी मिट्टी में कविता ही हृदय का जल छिड़ककर पौधों को नवजीवन प्रदान करती है। बंगाल में रवि बाबू और हिन्दी-प्रान्तों में पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी ने यही किया। इस समय प्रत्येक प्रान्तीय साहित्य में हम कविता की दार्शनिक विशेषता पाते हैं। सारा देश एक साथ दर्शन की नवीन विचार-धारा के साथ प्रवाहित होता जा रहा था। निष्कर्ष यह कि हिन्दी के छायावादी कवियों ने बिलकुल नई किस्म की कविता को जन्म दिया। रवि बाबू की 'गीतांजलि' से हमारे कवियों की दार्शनिक मनोवृत्ति को अवश्य ही सहारा मिला होगा। लेकिन हम यह

कहना नहीं चाहते कि हिन्दी की छायावादी कविता में जो भी नवीनता है, उसका मूल स्रोत बंगला की नवीन कविता अथवा रवीन्द्र की कविता में ही है। महाकवि का व्यक्तित्व व्यापक होता है। उसका प्रभाव दूसरे कवियों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में पड़ता ही है। रवि बाबू निस्सन्देह नये युग के महान् कवि थे। उनका साहित्य नवीन ही क्यों, चिर नूतन और चिर पुरातन है। हम उनकी सत्ता और महत्ता के कायल अवश्य हैं। लेकिन यह कैसे मान लिया जाय कि हमारे हिन्दी-कवियों को आँख मूँदकर रवीन्द्र का अनुकरण और अनुसरण करना ही पड़ा है। प्रसाद, निराला और महादेवी हमारे युग के ऐसे महाकवि हैं जिन पर किसी भी दूसरे देशी या विदेशी कवि का प्रभाव नहीं माना जा सकता। प्रसाद का आनन्दवाद उनकी सर्वथा अपनी मौलिक दार्शनिक चेतना है, निराला का अद्वैतवाद उनकी अपनी सृष्टि है, और महादेवी का दुःखवाद भारतीय साहित्य की अद्वितीय देन है। पन्त की प्रारम्भिक रचनाओं पर रवीन्द्र का प्रभाव अवश्य माना जा सकता है; लेकिन बाद की रचनाओं में उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व देखा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि हिन्दी-छायावाद में जिन सशक्त कवियों का आविर्भाव हुआ है, वे सभी अपनी-अपनी परिस्थिति और मनोवृत्ति के अनुसार दार्शनिक चेतना को अपने काव्य में विस्तार देते गए हैं। उन पर किसी भी बाहरी कवि का प्रभाव नहीं माना जा सकता।

मौलिकता

अब मैं संक्षेप में यह विचार करना चाहता हूँ कि छायावादी कविता की वे कौन-सी ऐसी मौलिक उद्भावनाएँ हैं जो उसकी दार्शनिक चेतना को व्यापक और कविता को अमर बनाती हैं। सच तो यह है कि हमारे नये दार्शनिक कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से पश्चिमी आलोचकों के उन सभी आक्षेपों का खण्डन करके नितांत नूतन दर्शन का निर्माण किया है जो एक समय भारतीय दर्शन को निराधार सैद्धांतिक, निराशावादी निष्क्रिय, अव्यावहारिक और पलायनवादी समझते थे। कुछ विज्ञापनवादी अंग्रेजों ने यूरोपीय दर्शन की श्रेष्ठता सिद्ध करने में भारतीय दर्शन की हीनता बतलाई है। हिन्दी के सभी छायावादी कवियों ने एक मत होकर सभी हीन भावों की जड़ खोद डाली है। इस छायावादी कविता की दार्शनिक भित्ति एक दृढ़ विचार-दर्शन नींव पर खड़ी है। (क) द्वैत और अद्वैत का समन्वय, (ख) जीवन और जगत् की लालसा, (ग) मृत्यु की असारता, (घ) मुक्ति की अनिच्छा, (ङ) सुख-दुःख की सम्मिलित उपासना, (च) प्रकृति के प्रति विराट् भावना, (छ) परम चेतन सत्ता का समाजीकरण, (ज) पलायन और प्रगति का सामंजस्य और (झ) विश्वात्मा में व्यक्ति का लय—ये छायावादी दर्शन-काव्य की कुछ मौलिक उद्भावनाएँ हैं, जिनकी अभिव्यक्ति सभी सबल कवियों में हुई है। हमारे कवियों ने दर्शन के सिद्धान्त और प्रयोग की जितनी सरल और सुबोध तथा व्यावहारिक व्याख्या की है वह भारतीय दर्शन के इतिहास में क्या, विश्व-दर्शन की चेतना में असाधारण और अद्वितीय है। इन दार्शनिक उद्-

भावनाओं में कवि ने कहीं भी मध्य युग की राधा-कृष्ण वाली पौराणिक लीलाओं को स्थान नहीं दिया। यह दर्शन अनुपम और अनमोल है जिसमें समस्त मानवता को उद्बोधन प्राप्त होता है। हम निराला जी की निम्नलिखित पंक्तियों के द्वारा छायावाद की दार्शनिक विशेषताओं से अवगत हो सकते हैं :

चेतना का सुन्दर इतिहास
अखिल मानव-भावों का सत्य,
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य,
अक्षरों से अंकित हो नित्य।
शक्ति के विद्युत् कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

वास्तव में, हिन्दी का छायावाद विश्व-चेतना का सुन्दर इतिहास, अखिल मानव-भावों का सत्य, और महाशक्ति के व्यस्त विद्युत् कणों का संग्रह-समन्वय है ; जिसका प्रत्येक अक्षर विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य रूप में अंकित रहेगा। इन कवियों को अपनी दिव्य दृष्टि से न केवल भारत की वरन् समस्त संसार की दीन-हीन दशा देखकर 'विराट्' दार्शनिक चेतना की उपलब्धि हुई थी। छायावाद का दर्शन प्रगति का, जीवन का विरोधी नहीं, वरन् जीवन की गतिशीलता में आस्था रखता है। यदि हिन्दी-कविता के इतिहास में छायावाद का आगमन न हुआ होता तो आज इतनी जल्दी प्रगतिवाद की पताका फहरा न पाती। आज हालत यह है कि छायावाद की माया रूप बदल-बदलकर प्रगतिवादी, प्रतीकवादी और प्रयोगवादी कवियों को रिझाती चली जा रही है, हाँ उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार-दर्शन उन्हें अवश्य प्रभावित और प्रेरित नहीं करता। वास्तव में हिन्दी क्या, विश्व के समस्त साहित्य में आज गत्यवरोध बना हुआ है। सच तो यह है कि 'विचार-पंगुता, सौंदर्यानुभूति की हीनता तथा उद्देश्य-स्खलन की विभीषिका केवल आज के भारत के ही भाग्य की वस्तु नहीं वरन् यह तो आज के मानव पर ही छाई हुई है।' देखना है, काव्याकाश से यह कुहासा कब दूर होता है।

: ३ :

'शून्य' का साहित्यिक महत्त्व

'सुनी हुई स्वर-लहरी मधुर है, किंतु जो नहीं सुनी वे और भी मधुर हैं।'

—कीट्स

साहित्य की इस रहस्यात्मक प्रवृत्ति को दर्शन के 'शून्यवाद' का आधार प्राप्त है। मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति सुलभ भौतिक और प्राकृतिक उपकरणों द्वारा शान्त न होकर और भी तीव्रतर हो उठती है। इस मनोवैज्ञानिक सत्य से मानव-हृदय अच्छी तरह परिचित है। प्रस्तर-युग का आदि-मानव भी इसका अपवाद नहीं रहा होगा। किन्तु भावों के प्रकटीकरण के लिए जो साधन आज के कवि को प्राप्त हैं, वे प्राचीन काल में नहीं थे। इसीलिए अनुमानतः महादेवी वर्मा ने कहा : "संभव है, जिस प्रकार प्रभात की सुनहली रश्मि छूकर चिड़ियां आनन्द में चहचहा उठती हैं और मेघों को घुमड़ता-फिरता देखकर मयूर नाच उठता है, उसी प्रकार मनुष्य ने पहले-पहल अपने भावों का प्रकाशन ध्वनि और गीतों द्वारा ही किया होगा।" और उसी धारा-प्रवाह में हठात् हमें स्मरण हो आता है इन पंक्तियों का :

> वियोगी होगा पहला कवि,
> आह से उपजा होगा गान।
> उमड़कर आंखों से चुपचाप,
> वहा होगी कविता अनजान॥[1]

निस्संदेह शब्दों की शक्ति हमारे आदिम मनुष्य को प्राप्य थी, किंतु हिम-गिरि के उत्तुङ्ग शिखर से द्रुतवेग से उतरती-छलछलाती चंचल सरिता उस मानव-हृदय के किसी कोने को अवश्य ही मुखरित करती होगी। अपनी शिथिल चाँदनी से चन्द्रमा उस व्यक्ति को सुधा-सिक्त करके उसकी मूक वीणा के तारों में सिहरन अवश्य ही उत्पन्न करता होगा और वसंत में जब सारी प्रकृति को अलौकिक और चिर नवीन परिधान प्राप्त होता होगा, तब उसके भावुक हृदय में एक अज्ञात तथा अपरिचित स्पन्दन जगता ही होगा। कहने का मतलब यह है कि एक ऐसा भी समय था जब कविता अपने को मूर्त रूप देने के लिए शब्दों की अपेक्षा नहीं रखती थी। किन्तु साधन की इस शून्यता का भी महत्त्व कम नहीं। रहस्यवाद की ओर उन्मुख होने की 'अतृप्त लालसा' का आदिस्रोत यदि हम खोजें तो हमें उसी साधनहीन युग को

---

१. पंत

आश्रय लेना होगा। कारण यह कि जब मनुष्य अपनी भावनाओं को ठीक-ठीक अभिव्यक्त नहीं कर पाता था तो उसकी व्याकुलता और भी बढ़ती गई और इस प्रकार उसे पहले-पहल विश्व के कण-कण में छिपी एक विराट् सत्ता का अनुभव हुआ, जिससे सम्पर्क स्थापित करने के लिए उसके हृदय में पहले-पहल 'जिज्ञासा' उत्पन्न हुई। इसीलिए शब्दों का निर्माण होने पर आदिमानव ने जो पहला काम किया वह दर्शन के क्षेत्र में अन्वेषण का था। संसार के सभी साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथ इस दर्शन से बोझिल हैं—वेद की ऋचाओं में और बाइबिल के उपदेशों में साहित्य का जो रूप उतरा है, उसमें महान् शून्य को समझने की चेष्टा प्रतिबिम्बित हुई है। इस प्रकार साहित्य को दर्शन का प्रथम सम्पर्क प्राप्त हुआ। कालरिज ने एक स्थान पर लिखा है : "No man ever was a great poet, without being at the same time a prfound philsophcr of life." किंतु पीछे चलकर दर्शन की जिज्ञासा साहित्य में आकर, सौन्दर्य के प्रति इसकी सहज आकर्षण-प्रियता के कारण प्रेमानुभूति बन गई। किन्तु 'अमूर्त्त' और 'अव्यक्त' के प्रति प्रेम की उद्भावना ने एक ऐसी प्रवृत्ति को जन्म दिया जो अपनी रहस्यमय प्रकृति के कारण 'रहस्यवाद' या 'शून्यवाद' के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह अनुभूति ऐसी चिर परिचित और चिर-तृषित है कि इसका अन्त होना असंभव है और वह किसी-न-किसी रूप में आज तक चली आ रही है और आगे भी चलती रहेगी। कारण स्पष्ट है। शब्दों में इतनी शक्ति कभी नहीं आई जो भावुक हृदय की समान अनुभूतियों को स्पष्ट कर दे। इसी प्रकार मनुष्य का हृदय इतना संवेदनशील कभी नहीं हुआ कि सृष्टि के समस्त सौंदर्य को अपने में आत्मसात् कर ले।

रहस्यवादी कवियों की सदा यही चेष्टा रही कि उस अलौकिक अमूर्त्त और अव्यक्त शक्ति और सत्ता को अधिक-से-अधिक व्यावहारिक रूप दिया जाय; किंतु उसकी उपयोगिता को समष्टिगत सिद्ध न करके व्यष्टिगत ही रखा गया। यही स्वार्थ-जनित प्रवृत्ति रहस्यवाद को सदा रहस्यमय बनाती रही। इस अर्थ में रहस्यवाद का 'प्रियतम' दर्शन के 'ब्रह्म' और धर्म के 'ईश्वर' से सदा पृथक् अस्तित्व बनाये रहा। इस प्रकार कविता या साहित्य की सीमा संकुचित हो गई। लेकिन इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि ईश्वरत्व की जो व्याख्या रहस्यवादी कवियों ने की उसमें दर्शन की शुष्कता नहीं आने पाई और साथ ही 'विराट् सत्ता' की व्याख्या भी कर दी गई। रहस्यवाद में अमूर्त्त का मूर्त्त विधान किया और उस 'महान् शून्य' को भी एक ऐसे पुरुष में परिवर्तित कर दिया जो मानव-हृदय की समस्त कामनाओं और अभिलाषाओं का भार सँभाल सका। सम्भवतः किसी रहस्यात्मक भावना ने ही श्रीकृष्ण के रूप को एक रसिक अलौकिक पुरुष में आगे चलकर परिवर्तित कर दिया होगा। उनके संबंध में प्रेममयी शृङ्गारिक रचनाओं को कविता में प्रश्रय मिलने लगा, जो पीछे चलकर जयदेव, विद्यापति, सूरदास प्रभृति विख्यात कवियों की लेखनी द्वारा सँवारी गई। इस प्रकार की धारा भारत में ही नहीं बही, बल्कि इस्लामी देशों में और सूफियों द्वारा पाश्चात्य देशों में भी खूब फैली। यद्यपि यह

नहीं कहा जा सकता कि सूफी मत भारत की निर्गुण धारा से प्रभावित था, फिर भी दोनों में ऐसा सामंजस्य है कि बहुतों को संदेह होता है कि कबीर के रहस्यवाद पर सूफियों का ही प्रभाव है। किन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं! यद्यपि यह माना जा सकता है कि सूफी मत के प्रभाव से भारतीय रहस्यवाद को एक नया रूप और एक नई दिशा मिली होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन के 'शून्यवाद' ने साहित्य में आकर एक महान् क्रांति उत्पन्न कर दी। सच पूछा जाय तो संसार के अनेक प्रमुख साहित्य रहस्यवादी रचनाओं से भरे पड़े हैं। हिंदी-साहित्य में भी कबीर और जायसी से लेकर महादेवी वर्मा तक किसी-न-किसी रूप में रहस्यवाद सदा जागता रहा है। इतने वर्षों के इतिहास को तीन प्रमुख प्रभावों के अंतर्गत विभाजित किया जा सकता है। पहला कबीर का है, जिस पर सूफी मत का प्रभाव है। दूसरा मीराबाई का है, जिसमें भारतीय चिंता-धारा और उसकी परंपरा का पूर्ण निर्वाह हुआ है। इस पर कबीर का प्रभाव न मानकर जयदेव, विद्यापति तथा सूरदास का प्रभाव ही अधिक मानना चाहिए। तीसरा विभाग महादेवी वर्मा का है, जिन पर किसी बाहरी प्रभाव को नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि उनका रहस्यवाद अपने में अद्वितीय और अनोखा है। यह आधुनिक युग का आधुनिक संस्करण है। आधुनिक रहस्यवाद की भारतीय धारा की व्याख्या करती हुई 'यामा' की भूमिका में महादेवी ने लिखा है: "उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदांत के अद्वैत की छाया ग्रहण की, लौकिक प्रेम की तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भाव-सूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह-बंधन की सृष्टि कर डाली, जो मनुष्य के हृदय को अवलम्बन दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय कर सका।" इस प्रकार स्पष्ट है कि रहस्यवाद का आध्यात्मिक प्रेम पार्थिव प्रेम का ही परिवर्तित रूप है और यह बात कबीर और जायसी की रहस्यमयी रचनाओं के लिए भी समान रूप से सत्य है।

अब हमें यह देखना है कि आध्यात्मिक प्रेम को आधार मानकर ईश्वरत्व की व्याख्या करने वाले रहस्यवाद का क्षेत्र कितना व्यापक है। यद्यपि इस 'वाद' के अंतर्गत सभी अनुभूतियाँ एक परम पुरुष में केन्द्रित रहती हैं, तथापि उनमें पूर्णता तब तक नहीं आने पाती जब तक कि विश्व-सौंदर्य की व्याख्या नहीं हो जाती। रहस्यवादी कवि प्रकृति के अंग-अंग में विश्वात्मा के दर्शन करते हैं और उसकी लौकिकता में अलौकिकता का प्रतिबिम्ब पाते हैं। संभवतः भारतीय रहस्यवादी कवियों में मीरा ही एक अपवाद थीं, जिन्होंने अपनी व्यक्तिगत वेदना के आगे न तो कबीर की तरह विश्व को नेतृत्व दिया और न वे महादेवी की तरह प्राकृतिक सौंदर्य का उपभोग कर सकीं। किंतु जो उत्कट अभिलाषा और मर्मस्पर्शी वेदना मीरा के स्वाभाविक उच्छ्वासों में मिलती है, वह न तो कबीर के उपदेशों में मिलती है और न महादेवी के गीतों में। अपनी अभिव्यक्तियों को अधिकाधिक बोधगम्य बनाने के लिए रहस्यवादी कवियों को प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। सब कवियों ने ऐसा ही किया है।

रहस्यवादी कविता के अध्ययन से जो पहला अनुभव होता है वह गीतों का कारुण्य है। शोक और वेदना ऐसी कविताओं की पृष्ठभूमि है। ये कविताएँ विरह-जन्य हैं और उनमें 'महामिलन' की प्रबल इच्छा जगी रहती है :

"जब असीम से हो जायेगा, मेरी लघु सीमा का मेल।
देखोगे तुम देव अमरता खेलेगी मिटने का खेल।"

रहस्यवाद का प्रधान विषय आकारहीन ब्रह्म को स्पष्ट से स्पष्टतर करना है। किन्तु उसकी कोई भी रेखा इतनी स्पष्ट नहीं होती कि कवि उसे दूसरों को भी समझा या दिखा सके। इसलिए प्रतीकों का आश्रय लेने के बाद भी कवि की अनुभूतियाँ रहस्यमय बनी रह जाती हैं। जहाँ प्रतीकों का प्रयोग नहीं होता वहाँ कवि को स्वाभाविक ढंग से अपने हृदय का 'विस्मय' ही प्रकट करके संतोष करना पड़ता है। यथा,

"कौन हो तुम वसंत के दूत,
विरस पतझड़ में अति सुकुमार ?
घन-तिमिर में चपला की रेख,
तपन में शीतल मंद बयार ?"[१]

इस प्रकार रहस्यवाद का क्षेत्र निस्सीम होते हुए भी ससीम है और ससीम होते हुए भी निस्सीम है। इसमें दर्शन के 'शून्य' से रागात्मक संबंध स्थापित करने की जो प्रवृत्ति है, वह अपने-आपमें पूर्ण है। अतः जन-जीवन से आज भी उसका संबंध टूटा है। सच तो यह है कि रहस्यवाद व्यक्तिगत चिन्तन का परिणाम है; इसलिए भविष्य में इस धारा-विशेष को साहित्य में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान मिल सकेगा या नहीं, इसमें संदेह है। जहाँ तक आकारहीन शून्य ब्रह्म की व्याख्या करने की समस्या है, आज का वैज्ञानिक युग भी किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँचा है; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि कविता भी दर्शन की तरह दुरूह बनी रहे। फिर भी, एक प्रश्न उठ खड़ा होता है—व्यक्तिगत रुचि में जो भावुकता और संवेदन-शीलता निहित है, उनको भविष्य में आखिर कहाँ तक प्रश्रय मिलेगा ? क्या भविष्य में महान् शून्य से संबंध स्थापित करने की जिज्ञासा और लालसा मिट जायगी ? ये प्रश्न ऐसे हैं, जिनके उत्तर का दायित्व भविष्य ही ले सकेगा। भारत के लिए इस तरह के प्रश्नों में कोई विशेष उलझन नहीं, क्योंकि यहाँ 'शून्य' में आकार; और 'आकार' में शून्य की साधना साधारण जीवन का अंग बन चुकी है। पहले भी थी, आज भी है और कल भी रहेगी। लेकिन उन देशों का क्या हाल होगा जो 'वादों' के बवंडर में 'प्रगति' के पर फैलाये उड़े जा रहे हैं ? इसका उत्तर समय दे सकेगा। अभी तो हम इतना ही कहेंगे कि पश्चिम का डूबता हुआ सूरज अब पूरबी क्षितिज पर नव विहान का नव प्रकाश बिखेरने लगा है।

१. 'कामायनी'।

: ४ :

जनता का साहित्य

जन-साहित्य का दृष्टिकोण

मस्तिष्क का विशेष परिष्कार चिन्तन में, हृदय का जीवन में और जीवन का साहित्य में होता है। साहित्य में जीवन की अनुभूतियाँ सँजोई जाती हैं। मानव-हृदय के भाव कल्पना द्वारा प्रसूत, विभावानुभाव तथा संचारी भावों से अभिव्यंजित होकर साहित्य की संज्ञा प्राप्त करते हैं। "संसार का निःश्वास हमारी चित्त-वंशी में कौन-सी रागिनी बजा रहा है—साहित्य इसीको स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है।"[1] यह साहित्य चिरंतन भी है और युगानुकूल भी। मैं चिरंतन साहित्य को शुद्ध हृदयवादी साहित्य और युगानुकूल साहित्य को जन-साहित्य की संज्ञा देता हूँ। यों तो साहित्य में सत्य सुन्दर और शिव बनकर आता है, इसीलिए साहित्य को हम सत्यं, शिवं और सुन्दरं की समष्टि कहते हैं। सत्य की अभिव्यक्ति दोनों प्रकार के साहित्य में होती है। पर चिरन्तन साहित्य में जहाँ शाश्वत सत्य की अभिव्यंजना अपेक्षाकृत अधिक होती है वहाँ जन-साहित्य में सामयिक जीवन के सत्य की। चिरन्तन साहित्य का प्रधान विषय आत्मा-परमात्मा की प्यास, हंस-परमहंस के मिलन की एक झलक तथा प्रेम, स्नेह, दया, करुणादि मानवीय भावों की अभिव्यक्ति है। युग का साहित्य जनता का साहित्य है। इसमें जन-जीवन की व्यावहारिक समस्याएँ, उसकी आवश्यकताएँ, आकांक्षाएँ और कामनाएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। प्राचीन साहित्य चिरन्तन है, क्योंकि उसमें निश्चित आदर्श की झाँकी मिलती है, क्योंकि वह युग धर्म के संघर्षों से पृथक् अस्तित्व रखता है। आज का साहित्यकार साहित्य में जन-जीवन की वेदनाओं, अभावों और विषमताओं की कहानी लिखने की कामना करता है। आज वह यह मानने के लिए तैयार नहीं कि कल्पना का कोई भी मोहक स्वप्न उसे यथार्थ की विषमताओं से भुला ले जायगा। आज वह बेहोशी और भुलावे में अपने को भुलाना नहीं चाहता। वह तो उससे उलझना और खेलना चाहता है। जन-जीवन की समस्याओं से उलझना, उसका एक स्वस्थ समाधान उपस्थित करना जन-साहित्य का प्रधान उद्देश्य हो गया है।

साहित्य की सबसे बड़ी समस्या है मानव-जीवन। जैसा कि गोर्की ने भी कहा है कि "मानव हमारा सबसे बड़ा देवता है। मानव से बड़ा कोई सत्य नहीं।" अस्तु

---

१. रवि बाबू।

साहित्य का मूल स्रोत मानव-जीवन में निहित है। साहित्यकार इस जगत् का प्राणी है। उसकी अनुभूतियों और विचारों को यह जीवन और जगत् ही पोषण-रस प्रदान करता है। फिर साहित्यकार जीवन से कैसे दूर रह सकता है? ऐसी अवस्था में साहित्यकार से यह कभी भी अपेक्षा नहीं की जा सकती कि जीवन जलता रहे, जगत् की निश्वासों से आह की कराह निकलती रहे और साहित्यकार अपनी स्वप्निल कल्पित दुनिया में कला-वैभव की बाँसुरी बजाता रहे। जनता की पुकार और उसकी आर्त्त चीत्कार उसे स्वप्न-लोक से खींचकर मिट्टी की ओर ले आयगी। उसे आना ही होगा। और तब जन-जीवन के सुख-दुःख, आशा-निराशा, उत्थान-पतन भाषा की बाँसुरी से आप ही ध्वनित होंगे। तभी सच्चे अर्थ में जन-साहित्य का निर्माण हो सकेगा। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि जन-साहित्य में जन-जीवन की ही अभिव्यक्ति हो सकती है। अब प्रश्न होता है कि उस साहित्य का स्वरूप क्या होगा तथा उसका निर्माण करने वाले साहित्यकारों का कर्त्तव्य क्या होगा?

जन-साहित्य का स्वरूप

जन-साहित्य के निर्माण का स्वरूप मूलतः उसके निर्माताओं के दृष्टिकोण पर निर्भर है। इस दिशा में साहित्यकारों का क्या दृष्टिकोण हो, यह विचारणीय है। मैं समझता हूँ कि जन-साहित्य के निर्माताओं के दृष्टिकोण निम्नांकित विचार-विन्दुओं पर आधारित होने चाहिएँ—

१. जन-साहित्य के साहित्यकारों की जीवन और जगत् के प्रति एक स्वस्थ सुन्दर और ऊँची धारणा होनी चाहिए।

२. जनता के साहित्यकारों को जीवन और जगत् का निजी अनुभव हो।

३. जन-साहित्यकार में वर्तमान के सामयिक सत्य को परखने की असाधारण क्षमता हो।

४. उसके भाव सुलझे हुए, विचार स्पष्ट और दृष्टिकोण निश्चित हों।

५. उसकी अभिव्यंजना में सरलता, स्पष्टता और मोहकता होनी चाहिए।

उपरिलिखित दृष्टिकोणों को अपनाकर चलने पर जन-साहित्य की स्वस्थ परम्परा चल सकेगी, जिसकी कल्पना वर्षों पूर्व प्रेमचन्द ने की थी। उन्होंने लिखा था: "जब तक साहित्य का काम केवल मन-बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी हल्का करने वाला था, तब तक उसके लिए कर्म की आवश्यकता नहीं थी। वह एक दीवाना था, जिसका गम दूसरे खाते थे; मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो; जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं; क्योंकि अब ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।" जन-साहित्यकार अगर अपने उत्तर-

दायित्व के प्रति ईमानदार है तो उसकी लेखनी से निःसृत साहित्य वास्तव में—"प्रगतिशील, अनुभूतिशील, जीवन का लिपिवद्ध व्यक्तीकरण होगा।"[१]

जन साहित्य का निर्माण

जन-साहित्य के दृष्टिकोण और स्वरूप पर विचार करने के बाद यह प्रश्न भी विचारणीय है कि आखिर इस साहित्य का निर्माण कैसे हो? जन-साहित्य का निर्माण केवल 'हवाई सहानुभूति' प्रकट करके नहीं किया जा सकता। जिस जीवन को साहित्यकार तटस्थ होकर नहीं देखता, केवल कल्पना के बल पर या किसी वाद-विशेष का अनुचर होकर जन-साहित्य का निर्माण करता है तो उसमें तन्मयता उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होगी, जो जीवन के संघर्षों के बीच ठहरकर दुःख-सुख की अनुभूति प्राप्त होती है। काल्पनिक चित्रों से जन-जीवन को न तो शान्ति ही मिलती है और न सन्तोष। आज ऐसे लेखकों की कमी नहीं जो आये दिन जनता का प्रतिनिधित्व करने का दायित्व अपने सिर पर लेते हैं लेकिन वे अपने जीवन और अनुभूति में एकरसता न होने के कारण जन-साहित्य के सही निर्माण में सहयोग नहीं कर पाते। वे रहते हैं शहर के ऊँचे-ऊँचे महलों में, बिजलियों की चकाचौंध में; झूलते हैं ऐश्वर्य और सौरभ के पालने में; और बातें करते हैं झोंपड़ियों की। इसीलिए तथाकथित प्रगतिवादी साहित्यकार अभी तक साहित्य में निश्चित परंपरा की स्थापना नहीं कर सके। हिंदी-साहित्य में जन-साहित्य के पहले प्रतिनिधि भारतेन्दु थे। प्रेमचन्द्र ने उसी परम्परा को पुष्ट और विकसित किया है। प्रेमचन्द के बाद हिन्दी-साहित्य में टेकनीक की बाढ़ अवश्य आई; लेकिन भाव, विचार और अनुभूति का तूफान अभी तक नहीं आया। प्राणों में पुलक, नसों में स्पन्दन और मस्तिष्क में हलचल मचा देने वाला साहित्य आज बहुत कम देखने में आता है, जैसे राष्ट्र का मस्तिष्क ही शून्य हो गया हो। हाँ, वर्षों पहले दिनकर, माखनलाल, महादेवी वर्मा-जैसे कुछेक साहित्यकारों ने जनता के मर्मस्थल पर उँगली रखने का प्रयत्न अवश्य किया था लेकिन इन 'छुट-पुट' प्रयत्नों से क्या होने को है। साहित्य का प्राण हृदय का सत्य है। हृदय का सत्य ही साहित्य को सत्य बनाता है। प्रसिद्ध अंग्रेजी आलोचक हडसन ने भी कहा है: "Without sincerity no vital work in literature is possible". अतः आज इस बात की अपेक्षा है कि साहित्यकार सुदूर कल्पना की तूलिका से साहित्य का निर्माण न करें। नवयुग के जाग्रत सपनों को साकार करने के लिए फूलों की नहीं चिनगारियों की आवश्यकता है, जो आज के विषम जीवन में नई चेतना की आग फूंक सकें। आज इस बात की आवश्यकता है कि साहित्यकार साधना के साथ सामाजिक कामना को भी अपनाये। जनता का साहित्य वही होगा जो सामाजिक चेतना से पूर्ण और अनुभूत साधना से प्रसूत हो। रवि बाबू ने भी उसी साहित्य को श्रेष्ठ माना है जिसमें मानव के भाव-गान और उसके चरित्र का चित्र प्रस्तुत किया जा

१. जैनेन्द्रकुमार

सके। डा० नगेन्द्र ने भी एक स्थान पर लिखा है : "साहित्य का जीवन से दुहरा सम्बन्ध होता है, एक क्रिया रूप में, दूसरा प्रक्रिया रूप में। क्रिया रूप में वह जीवन की अभिव्यक्ति और प्रतिक्रिया रूप में उसका निर्माता और पोषक है।" जन-साहित्य क्रिया-स्वरूप है। इस साहित्य का अगर कोई एक वाद हो सकता है तो वह जनवाद ही होगा। हमारा प्रयास इसी जनवाद को साहित्य के मंच पर खड़ा करना होना चाहिए; जो कि वस्तु और विधान दोनों का संतुलित रूप उपस्थित करे। जन-साहित्य का यह आदर्श साहित्य को पुष्ट करेगा।

: ५ :

साहित्य का मनोविज्ञान

साहित्य, समाज और जीवन

साहित्य समाज का दर्पण है, यह उक्ति वास्तव में उतनी ही भ्रामक है जितनी 'कला के लिए कला' वाली उक्ति। किसी भी रचना का यदि हम अध्ययन करें तो ऐसी कोई विशेषता मालूम नहीं होती। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि साहित्य पूर्णतः अपने युग का प्रतिनिधित्व नहीं करता। पूर्ण प्रतिनिधित्व का अर्थ होगा दर्पण-सा प्रतिबिम्बित होना। किन्तु साहित्यकार दर्पण-सा निर्जीव नहीं होता और न उसका मस्तिष्क ही ऐसा करने को समर्थ होता है। कला के लिए कला वाला सिद्धांत हमारे साहित्यक अंधविश्वास का दूसरा छोर है। साहित्य की कला अपने-आपमें पूर्ण है, यह माना नहीं जा सकता। उसे अपने युग के आवेष्टन की अपेक्षा रखनी ही पड़ती है, क्योंकि आकाश में विना वृक्ष के पत्ते उगाये नहीं जा सकते। मनुष्य के अन्तःकरण में जो भी भावनाएँ काम करती रहती हैं वे व्यावहारिक जीवन के संघर्षों की ही सूक्ष्म अभिव्यक्ति हैं; किन्तु इनका प्रकाशन एक विशेष प्रकार के अपनत्व के साथ होता है। साधारणतः हम व्यक्तिगत भावनाओं को समाज और जीवन के संघर्षों की प्रतिक्रिया कह सकते हैं। यह प्रतिक्रिया उसी प्रकार होती है जिस प्रकार रासायनिक प्रयोगशाला में विभिन्न यौगिक और मिश्रणों की प्रतिक्रिया होती है। मस्तिष्क जीवन के सभी तत्त्वों का विश्लेषण करता है। किन्तु न विश्लेषण ही मस्तिष्क का काम है और न वह पानी की तरह हिलोरें खाकर शान्त होता है। उस पर जो भी प्रतिक्रिया होती है वह मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में आकर सक्रिय रूप धारण कर लेती है। मस्तिष्क का एक अपना निर्णय होता है जिस पर न समाज का कोई प्रतिबंध होता है और न जीवन के किसी विशेष धारा-प्रवाह का ही। साहित्य इसी मानसिक (व्यक्तिगत) निर्णय का एक रूप है। अन्य प्रकार की कलाएँ अथवा क्रियाएँ इसकी भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। एक उदाहरण लेकर हम इसे इस तरह समझ सकते हैं। किसी दुखद घटना का समाचार सुनकर विभिन्न मस्तिष्कों पर विभिन्न प्रतिक्रियाएँ होती हैं। एक कवि इस प्रेरणा से करुण काव्य लिख सकता है, एक कहानीकार कहानी लिखने का प्रयास करेगा, नाटककार नाटक लिखेगा अथवा एक साधारण व्यक्ति क्रुद्ध होकर इस दुःख के कारण का अन्त करना चाहेगा तो दूसरा व्यक्ति अपना शोक प्रकट करके अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करेगा। इस प्रकार की प्रति-

क्रिया यहीं तक सीमित नहीं रहती। वैज्ञानिक अनुसंधान, चित्रकारी, मूर्तिकारी आदि सभी इसीके आश्रित हैं। कहीं अकाल पड़ने की बात सुनकर यदि साहित्यकार साहित्य की रचना करने की प्रेरणा पाता है तो वैज्ञानिक उत्पादन बढ़ाने या अन्य साधनों से उसे दूर करने के लिए कोई नया आविष्कार करने की आवश्यकता का अनुभव करता है। किन्तु यह पहले ही कहा जा चुका है कि मस्तिष्क अपना निर्णय देते समय किसी प्रतिबंध की अपेक्षा नहीं रखता। अकाल के दुःख से दुखी होकर कवि या तो अपनी करुण संवेदनाओं द्वारा अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर सकता है या उससे पीड़ित होकर किसी विरोधी भावना की ओर पलायन कर सकता है। किन्तु पलायन की यह वृत्ति निम्न श्रेणी की होती है। यह कहना अनुचित है। प्रायः देखा गया है कि व्यक्तिगत रूप से जीवन के संघर्ष में जूझते रहने पर जब कवि अपने हृदय की सरल अनुभूतियों को व्यक्त करता है तो उसमें उन संघर्षों का कोई स्थूल वर्णन नहीं होता। शेक्सपीयर, वर्डस्वर्थ, शेली, टेनीसन आदि पाश्चात्य कवियों से लेकर कालिदास, तुलसी, सूर और पंत, निराला, महादेवी आदि सभी भारतीय कवियों में यही बात पाई जाती है। फ्रांसीसी क्रांति में सक्रिय रूप से भाग लेने पर भी वर्डस्वर्थ ने पलायन-वृत्ति को ही अपनाया। गद्य में क्रांतिकारी विचार रखने पर भी कविता में महादेवी आकाश के शून्य में ही विचरती रहीं। इसके कारणों पर हम अन्यत्र विचार करेंगे। किन्तु यहाँ इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि किसी भी घटना की किसके मस्तिष्क पर कैसी प्रतिक्रिया होती है इसकी कोई भी सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। अतः साहित्य न तो समाज का दर्पण है और न 'स्वान्तः सुखाय' की अभिव्यक्ति ही। वास्तव में साहित्य की सृष्टि समाज और जीवन की प्रतिक्रिया में होती है। प्रतिक्रिया जितनी ही सशक्त होगी, साहित्य का प्रभाव भी उतना ही स्थायी होगा।

साहित्य में जीवन की प्रतिक्रिया

अब हमें यह देखना है कि साहित्य में जीवन की प्रतिक्रिया क्योंकर और किस प्रकार होती है। जीवन की किसी भी घटना का प्रभाव हमारे मनोविकारों को उत्तेजित करता है। क्रोध, ईर्ष्या, ग्लानि, सहानुभूति या प्रेम किसी-न-किसी रूप में हमारे व्यक्तिगत जीवन में प्रकट होते हैं। कुछ तो ऐसे हैं जिन्हें हम निष्क्रिय रूप में वाणी द्वारा व्यक्त करते हैं। किन्तु यदि वे मनोविकार अधिक तीव्र हुए तो उन्हें व्यक्त करने का माध्यम दूसरा ही होता है—जैसे साधारण क्रोध में एक व्यक्ति केवल गालियाँ बककर या क्षोभ प्रकट करके ही शान्त हो जाता है; किन्तु क्रोध की मात्रा जब अधिक होती है तो वह गालियों के साथ मार-पीट भी कर बैठता है। अब इसीका संशोधित रूप इस प्रकार लिया जा सकता है। यदि हमारा क्रोध किसी पर क्रियात्मक रूप लेना चाहता है तो हमारी बुद्धि और भावना अपना समय नहीं खोती, बल्कि यह देखा गया है कि किसी व्यक्ति से प्रभावित होकर या भय के कारण या अनुशासन या मनुष्यता के नाम पर न हम उसे स्पष्ट और तीव्र रूप से गालियाँ

ही दे पाते हैं और न मार-पीट ही करते हैं। किंतु साथ ही यह भी जानना चाहते हैं कि हम उससे बहुत ही क्षुब्ध हैं और उसके प्रति हमारी भावना विद्रोहात्मक है। ऐसा व्यक्ति यदि हमारे सामने है तब हम उसकी आलोचना तत्काल बोलकर कर देते हैं, किन्तु यदि वह सामने नहीं है तो उसीको लिखकर हम उसे चेतावनी देना चाहते हैं। यद्यपि ऐसी आलोचना का संबंध साहित्य से विशेषतः कम होता है तथापि साहित्य के निर्माण में इस प्रकार की भावनाएँ भी परोक्ष रूप से काम करती हैं। जैसे यदि किसी के प्रति प्रेम प्रकट करना होता है तो उस व्यक्ति को सामने न पाकर हम उसे अलंकृत भाषा में लिखकर व्यक्त करते हैं। तात्पर्य यह है कि हृदय-स्थल में दबी हुई मनोविकारी भावना किसी मिलती-जुलती घटना से प्रेरणा पाकर तीव्र हो जाती है और यही भावना साहित्य के निर्माण में विशेष महत्त्व की होती है। साहित्य में हमारा क्रोध और क्षोभ संयमित होता है।

स्मृति, कल्पना और अनुकरण

साहित्य में दबे हुए भावों की अभिव्यक्ति स्मृति के द्वारा होती है। हमारे कुछ मनोविकार ऐसे होते हैं, जो व्यक्तिगत जीवन में निष्क्रिय रह जाते हैं। निर्जीव मनोविकारों को जाग्रत करने के लिए साहित्यकार कल्पना का आश्रय लेता है। अतएव, साहित्य में स्मृति और कल्पना का महत्त्व निर्विवाद है। इनके अतिरिक्त अनुकरण की प्रवृत्ति भी होती है। साहित्य में अनुकरण भी जीवन की एक प्रतिक्रिया है। ग्रीस देश के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने समस्त साहित्य का मूलाधार 'अनुकरण' को माना है। यद्यपि यह पूर्ण सत्य नहीं है, फिर भी साहित्य-निर्माण में अनुकरण का बहुत-कुछ हाथ रहता है। साहित्यकार जब अनुकरण करता है, तब वह वस्तु को उसी रूप में प्रकट नहीं करता, उसे अपनी दृष्टि से देखता है और फिर उस पर अपने व्यक्तित्व की मुहर लगाता है। साहित्य की अनुकरण-वृत्ति का उत्कर्ष वस्तु को ठीक उसी रूप में अभिव्यक्त करने में नहीं होता। साहित्यकार तो केवल उसके अन्तर्तम सौन्दर्य की व्याख्या करता है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि उसकी प्रवृत्ति सौन्दर्यमूलक क्यों होती है? इसके उत्तर में कहा जायगा कि कलाकार किसी वस्तु की यथार्थता से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं होता। वह उसमें कुछ ऐसी विशेषता देखना चाहता है, जो उस वस्तु को अधिक सौन्दर्य या आदर्श प्रदान करे। उपमाओं की सृष्टि कवि की इसी प्रवृत्ति में हुई है। 'चन्द्रमुखी' कहने वाले के लिए मुख के सौन्दर्य का आदर्श चन्द्रमा होता है। उपमा-पद्धति से यह सिद्ध होता है कि कवि की अनुकरण-वृत्ति बड़ी कुशल होती है, लेकिन यह अनुकरण किसी फोटोग्राफर या चित्रकार का अनुकरण नहीं है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं साहित्य का जन्म तभी होता है जब साहित्यकार किसी मानसिक अभाव का तीव्र अनुभव करता है। जीवन के क्षेत्र में जब हम सक्रिय रूप से भाग नहीं ले पाते, तब हमारा उद्दीप्त मनोविकार अभिव्यक्ति के लिए मार्ग ढूँढ़ ही लेता है। किन्तु इसके लिए अनुभूति की तीव्रता और भाषा की शक्ति के साथ प्रतिभा भी चाहिए। ऐसी अवस्था में साहित्य एक निष्क्रिय व्यक्ति

का केवल उद्गार रह जायगा, ऐसा प्रश्न किया जा सकता है। यद्यपि वास्तविक तथ्य यही है, फिर भी इसका महत्त्व कम नहीं है। किसी घटना से उत्तेजित होकर एक क्रियाशील व्यक्ति तत्काल कुछ रचनात्मक कार्य करना चाहता है, किन्तु जो ऐसा नहीं कर पाता; उसके हृदय में मनोविकारों की शक्ति संचित रह जाती है। वह प्रत्यक्ष तो कुछ नहीं कर पाता, किन्तु साहित्य का निर्माण करके वह अपने ही भावों को दूसरों की संवेदनाओं को जगाने की चेष्टा करता है इसीलिए साहित्यकार की चेष्टाएँ व्यापक और शाश्वत होती हैं। रूसो और मार्क्स ने स्वयं कुछ नहीं किया, पर मानवता को उन्होंने जो विचार दिये हैं, वे युग-युग तक मनुष्य-समाज के लिए कल्याणकारी सिद्ध होते रहेंगे। इसी प्रकार शेक्सपीयर और तुलसी ने अपने युग से प्रभावित होकर जो अमर सन्देश दिये हैं उनसे अनेकों का जीवन-पथ प्रशस्त हो रहा है।

आत्माभिव्यक्ति का रहस्य

'रामचरितमानस' में तुलसीदास ने लिखा है : **'स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबंधमति मंजुल मातनोति।'** पूरबी और पश्चिमी सभी देशों में आत्माभिव्यक्ति का प्रश्न जटिल रहा है। अंग्रेज आलोचक ब्रैडले का 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त इसी आत्माभिव्यक्ति का ही अभिन्न अंग है। प्रश्न यह है कि क्या समस्त साहित्य की बुनियाद में आत्माभिव्यक्ति ही होती है ? वास्तव में सर्वथा ऐसा न होते हुए भी ऐसा ही 'कुछ' होता है। ऊपर हम कह आए हैं कि साहित्य की रचना के मूल में 'स्वान्तः सुखाय' की भावना होती है। साहित्य के संसार में स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ, तीनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है और अगर है भी तो ऊपरी है। साधारण-से-साधारण घटना के वर्णन में हम कवि की स्वान्तः सुखाय की प्रवृत्ति पाते हैं। भिखारी जब भीख माँगता है तो हृदय में करुणा की धारा उमड़ आती है। यह करुणा वास्तव में हमें अनजाने में इतनी पीड़ा पहुँचाती है कि इससे सहृदय और भावुक व्यक्ति के लिए छुटकारा पाना बड़ा मुश्किल है। फलतः उदार व्यक्ति पैसा देकर और साहित्यकार गीत लिखकर अपने हृदय का भार हल्का करता है। करुणा के मूल में भी हमारा स्वार्थ छिपा होता है इसी प्रकार परार्थ की चेष्टा में भी हमारा स्वार्थ अभिव्यक्त होता है, साहित्य में भी यह होता है। जिसके प्रति हमारे उद्गार उमड़ते हैं, यदि हम उसका सही उपयोग नहीं करेंगे। तो जीवन भार हो जाय। जब कर्तव्य की पुकार होती है और उत्तरदायित्व की बात आती है, तब साहित्यकार को यह पुकार चुपचाप नहीं सोने देती। तभी हमारा लेखक तैयार होकर किसी-न-किसी प्रकार इस उत्तरदायित्व का निर्वाह कर ही लेता है। सच तो यह है कि जब कोई कवि किसी कथानक की रचना करने बैठता है तो उसकी योजना में भी उसकी आत्माभिव्यक्ति होती है।

'स्वांतः सुखाय' अथवा आत्माभिव्यक्ति मानव-मन की स्वाभाविक दुर्बलता है; और साहित्यकार की सबसे बड़ी कमजोरी है। जिस प्रकार दूसरे के प्रति अपना कर्तव्य निबाहने में एक जाग्रत व्यक्ति को विशेष आनन्द मिलता है, उसी प्रकार

मनुष्य के अन्तःकरण में ऐसी उद्दीप्त भावनाएँ संचित रहती हैं, जिन्हें प्रकट किये विना साहित्यकार को चैन नहीं मिलता। इन भावनाओं का आधार वाह्य जगत् न होकर अन्तर्जगत् होता है। इनकी अभिव्यक्ति में आवेष्टन के सौन्दर्य-पक्ष की प्रेरणा होती है। सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होना मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति है। प्रसिद्ध पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक फ्राइड ने यह वताया है कि हमारे जीवन के सभी व्यापार 'काम' द्वारा शासित और अनुशासित हैं। हमारे पारिवारिक जीवन में भी पति-पत्नी, भाई-बहन, पिता-पुत्र के प्रेम-सम्वन्ध में इसी प्रवृत्ति की स्थिति रहती है। यहाँ तक कि ईश्वर-भक्ति और आध्यात्मिक प्रेम में भी 'काम' की सत्ता है। 'काम-सूत्र' के प्रणेता वात्स्यायन ने भी वताया है कि पाँचों इन्द्रियाँ कान, नाक, जीभ, आँख और त्वचा, मन की प्रेरणा के अनुसार अपने-अपने ढंग से 'काम' की *प्रवृत्ति के अनुसार क्रियाशील रहती हैं।*[१] फ्राइड ने कविता में काम अथवा वासना की व्याख्या करते हुए वताया है कि जो काम-वासना हमारे व्यावहारिक जीवन में असन्तुष्ट रह जाती है, वही स्वप्न-जैसी छाया के रूप में हमारे अन्तर्मन को प्रभावित करती है, और तभी कविता की सृष्टि होती है। फ्रायड ने यह भी वताया है कि कविता के रचना-काल में कवि अर्द्धचेतना में रहता है। फ्रायड के स्वप्न-सिद्धान्तवाद से यह स्पष्ट है कि हृदय या साहित्य में आ-माभिव्यक्ति का महत्त्व कम नहीं है।

प्रसिद्ध इटालियन आलोचक क्रोचे का अभिव्यंजनावाद आत्मानुभूति को ही काव्य के जन्म का प्रमुख कारण मानता है। हमारे हृदय में कुछ ऐसी अस्पष्ट अनुभूतियाँ क्रियाशील रहती हैं, जिन्हें रोके रखना अधिक संवेदनशील व्यक्ति के लिए कठिन होता है। इस प्रकार चाहे फ्रायड का 'कामवाद' हो या क्रोचे का 'अभिव्यंजनावाद', यह निश्चित है कि मनुष्य सौन्दर्य के प्रति बड़ी आसानी से आकृष्ट होता है। किन्तु अपनी इस अनुभूति को व्यक्त करने के लिए मनुष्य के पास कविता के अतिरिक्त और कोई माध्यम सुलभ नहीं है। उपन्यास या नाटक के लिए ऐसी वात नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसका क्षेत्र अधिक व्यापक है और गद्य का माध्यम ऐसा होता है कि उसके द्वारा सभी समस्याओं का समाधान, अपने-अपने ढंग से किया जा सकता है। किन्तु कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि केवल कविता में ही आत्माभिव्यक्ति होती है, या हो सकती है। सौन्दर्य का दर्शन अनेक प्रकार की वस्तुओं में किया जा सकता है, इसलिए कविता का विषय निश्चित होते हुए भी सीमित नहीं है। सामान्यतः साहित्य में आत्माभिव्यक्ति की गुन्जाइश इसलिए है कि साहित्य जीवन का अनुकरण और समाज का दर्पण नहीं है। साहित्यकार की व्यक्तिगत क्रियाएँ ही साहित्य-रचना की प्रेरक शक्तियाँ हैं। इस प्रकार, आत्माभिव्यक्ति न तो कोई नैसर्गिक वस्तु है और न कुछ विशेष

---

१. वात्स्यायन, 'काम सूत्र' १, २—श्रोत्रत्वक् चक्षु जिह्वा घ्राणानामात्मसंयुक्तेन मनसाऽधिष्ठानाम् स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यात् प्रवृत्तिः कामः। स्पर्शविशेष विषये त्वस्याभिमानिक सुखानुविद्धा फलवत्यर्थ प्रतीतिः प्राधान्यात् कामः।

रहस्यमय—यह तो हृदय की सूक्ष्म संवेदना है, जो प्रायः साहित्यकार की कृतियों में किसी-न-किसी रूप में वर्तमान रहती हैं; क्योंकि उन्हींके माध्यम से उन कृतियों पर व्यक्तित्व की छाप पड़ती है। कवि की संवेदनाओं के उद्गम-स्थान में उसकी अतृप्त इच्छाएँ होती हैं।

साहित्य में स्मृति और कल्पना

ऊपर हम कह आए हैं कि साहित्य की रचना में, विशेषतः आत्माभिव्यक्ति में स्मृति और कल्पना का प्रमुख हाथ होता है। साहित्यिक रचना के लिए केवल प्रत्यक्ष घटना की ही आवश्यकता नहीं होती। प्रायः देखा गया है कि स्मृति के बल पर हम किसी बीती हुई घटना को फिर से मानस-पट पर अंकित कर लेते हैं, और तब फिर उसीसे प्रेरित होकर कुछ रचना करते हैं। स्मृति का मनोविज्ञान बड़ा ही मनोरंजक है। बीती हुई कोई बात तब तक याद नहीं आती, जब तक कि उससे मिलती-जुलती किसी प्रत्यक्ष घटना पर हमारा ध्यान नहीं जाता। मनोविज्ञान में मानव-मस्तिष्क की मुख्य तीन अवस्थाएँ बतलाई गई हैं—चेतनावस्था (Conscious state), अर्धचेतनावस्था (Sub-conscious State) और अचेतनावस्था (Unconscious State)। जिस घटना को हम प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं उसे हम पूर्ण चेतनावस्था में ग्रहण करते हैं, किन्तु वही जब पीछे पड़ जाती है, तब स्मृति के रूप में परिणत हो जाती है। इस तरह की घटना अर्धचेतनावस्था को प्राप्त हो जाती है। इसकी पुनरावृत्ति की जा सकती है। मनोविज्ञान में स्मृति के पुनरावर्तन की प्रतिक्रिया को साहचर्य-नियम (Laws of Association) की संज्ञा दी गई है। जैसे, यदि हमने कभी समुद्र को देखा तो एक बड़े तालाब या पानी से भरी बड़ी नदी को देखकर समुद्र का पुराना दृश्य याद आ जाता है। किन्तु कभी-कभी समुद्र का नाम लेते ही उसकी तस्वीर आँखों के सामने झूमने लगती है। अतएव साधारण-सी घटना को देखकर या पढ़कर जब साहित्यकार को किसी बड़ी घटना की याद आती है, तो उसके भावों की तीव्रता बढ़ जाने के कारण, वह कोई रचना करने की प्रेरणा पाता है। यही कारण है कि अनेक कहानियों और उपन्यासों की रचना के कारण, दूसरी कहानियाँ और उपन्यास होते हैं।

काव्य में स्मृति का महत्त्व कम नहीं है। कितने ही कवि बीती बातों की याद करके अच्छी-से-अच्छी काव्य-रचना कर लेते हैं। दूसरे के विरह का वर्णन करते समय कवि अपनी विरहानुभूति को अभिव्यक्त करने लग जाता है। इस तरह कवि अपने संतप्त हृदय को तृप्ति दे पाता है। इसके अतिरिक्त, व्यक्तिगत जीवन की किसी भी भूली हुई बात को याद करके कवियों ने आध्यात्मिक काव्य की रचना की है। बात यह है कि बीती हुई बातों के बल पर आदर्श का निर्माण आसान होता है; क्योंकि कवि के व्यक्तिगत संपर्क अधिक स्थायी होते हैं। ऐसे अवसरों पर कवि की कल्पना अधिक तीव्र हो उठती है। सच तो यह है कि स्मृति की मूल सहायिका कल्पना होती है, क्योंकि किसी भी विगत घटना का कोई स्थूल रूप

मस्तिष्क में नहीं रहता, उसे पुनरुज्जीवित करने के लिए कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। यह कल्पना ही है, जिसके बल पर कवि दूसरे के विरह का तादात्म्य अपने विरह के साथ स्थापित करता है। अनेक कवियों की जीवनियों के माध्यम से सिद्ध किया जा सकता है कि किसी विशेष क्षेत्र में, उनकी तीव्रता का कारण उनके व्यक्तिगत जीवन में उसी प्रकार की अनुभूति को जन्म देने वाली घटनाओं की बहुलता है। प्रेम-काव्य में तन्मयता का यही कारण है। चन्दवरदाई का 'वीर काव्य' इसलिए उत्कृष्ट है कि उनका युद्ध-क्षेत्र का व्यक्तिगत अनुभव था।

साहित्य में कल्पना का स्थान निर्विवाद है। यह कहा जा चुका है कि कल्पना का मुख्य कारण अभाव है। हम उसी वस्तु की कल्पना करते हैं जो हमें अप्राप्य है। दूसरा कारण आदर्श की स्थापना है। वस्तुतः आदर्श का स्थापन हमारे अभाव का ही सूचक है। मनुष्य की इच्छाओं का कोई अन्त नहीं होता। इसीलिए वह पास में जो वस्तु रखी है वह उससे भी ऊपर जाना चाहता है। आध्यात्मिक काव्य के सृजन का यही मूल कारण है। उपमा देने में कल्पना का पूर्ण उपयोग होता है। किन्तु कल्पना के, साहित्य में, अन्य उपयोग भी हैं। कहानियों, उपन्यासों और नाटकों में कल्पना का जो सहारा लिया जाता है, वह यथार्थ में काव्य की कल्पना से अधिक व्यावहारिक है। कथानक और चरित्र के निर्माण में कल्पना ही अधिक उपयोगी होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साहित्य के मनोविज्ञान में स्वांतः सुखाय की प्रवृत्ति और आत्माभिव्यक्ति की उत्कट लालसा सदैव बनी रही है; और साहित्य-सृजन के मूल में साहित्यकार की मानसिक प्रतिक्रियाएँ ही अधिक सहायक हैं। साहित्य न तो जीवन का अनुकरण है और न समाज का दर्पण।

: ६ :

प्रसाद का प्रथम ऐतिहासिक नाटक—'राज्य श्री'

'राज्यश्री' को स्वयं प्रसादजी ने अपना 'प्रथम ऐतिहासिक नाटक' कहा है। इसकी रचना सन् '१४ म हुई थी। प्रसाद का नाटक-रचना-काल सन् १९१० से ही शुरू हो चुका था। सन् '१० से '१४ तक क्रमशः प्रतिवर्ष 'सज्जन', 'करुणालय', 'प्रायश्चित्त' और 'राज्यश्री' नाटक प्रकाशित हुए। ये सभी नाटक पहले काशी से प्रकाशित होने वाली प्रसिद्ध पत्रिका 'इन्दु' में छपे थे। वस्तुतः 'राज्यश्री' ही प्रसादजी का प्रथम ऐतिहासिक नाटक है, क्योंकि उपरिलिखित नाटकों में 'सज्जन' और 'प्रायश्चित्त' 'चित्राधार' नामक एक संग्रह-पुस्तक में संकलित हुए हैं, जिनमें पद्यात्मकता की अधिकता है, जिनमें नाट्य-तत्त्वों का अभाव है। 'करुणालय' तो एक गीत-नाट्य है। इस तरह 'राज्यश्री' ही प्रसादजी का प्रथम ऐतिहासिक नाटक ठहरता है। इसमें उन्होंने पहली बार अपने नाटक को इतिहास की ठोस भूमि दी। इसमें घटनाओं तथा पात्रों की ऐतिहासिकता की सतर्कता के साथ रक्षा हुई है। इसके लगभग सभी चरित्र ऐतिहासिक हैं। इसलिए यहाँ प्रसाद की उन्मुक्त कल्पना को कम-से-कम उड़ान भरने का अवसर मिला है। सुरमा और विकटघोष को छोड़कर अन्य सभी चरित्र शुद्ध इतिहास की ठोस भूमि पर खड़े हैं। अतः 'राज्यश्री' एक शुद्ध ऐतिहासिक नाटक है जिसमें हिन्दुओं के अन्तिम सम्राट् हर्षवर्द्धन और उनकी बहन राज्यश्री के त्यागमय जीवन की कहानी कही गई है। 'कामना' और 'एक घूँट' को छोड़कर प्रसाद के सभी नाटक ऐतिहासिक ही हैं। नाटककार ने अपनी ओर से कोई मौलिक छान-बीन नहीं की। प्रसाद के अन्य नाटकों में इतिहास और कवि-कल्पना का अद्भुत संयोग-समन्वय हुआ है, लेकिन 'राज्यश्री' में कल्पना को पंख फैलाने का अवसर ही नहीं मिला। इतिहास और काव्य-कल्पना का संघर्ष बहुत पुराना है। रवि बाबू के शब्दों में काव्य इतिहास से मेल-मिलाप करने के लिए सदा हाथ बढ़ाता रहता है। वह सदैव कहता आया है—'भाई, इतिहास, तुम्हारे अन्दर भी बहुत-कुछ मिथ्या है और मेरे अन्दर भी बहुत-कुछ सचाई है। अतएव, हम दोनों पहले के समान (महाभारत की तरह) मेल-मिलाप कर लें।' लेकिन इतिहास ने सदा यह उत्तर दिया—'ना भाई अपने हिस्से का बँटवारा कर लेना ही अच्छा है।' सत्य के राज्य (इतिहास) और कल्पना के राज्य (कल्पना) में एक स्पष्ट भेद की रेखा को खींचने के लिए इसने कमर

कल की है। अंग्रेजी आलोचक सर फ्रान्सिस पलग्रेव प्रायः कहा करते थे कि ऐतिहासिक नाटक एक ओर इतिहास का शत्रु है और दूसरी ओर कहानी का भी बहुत बड़ा दुश्मन है। तात्पर्य यह है कि नाटककार अपनी कथा के संकलन और संगठन के लिए इतिहास के अंगों को विकृत कर देता है और इस तरह आहत इतिहास कथानक के सौंदर्य को कुरूप बना देता है। अतः इतिहास को आधार बनाकर नाटक की रचना करना एक बहुत बड़ा खतरा है। इतनी बड़ी कठिनाई होते हुए भी विश्व-साहित्य में कभी भी ऐतिहासिक नाटकों की कमी नहीं हुई। बात यह है कि महान नाटककार इतिहास के आलोक में ही जीवन के चिरन्तन सत्य का उद्‌घाटन करता है; विगत युग, देश, समाज आदि का चित्र-मात्र उपस्थित करना उसका उद्देश्य नहीं होता, क्योंकि काव्य अनुकरण न होकर सृजन है। और सृजन वहीं होता है जहाँ कवि की नैसर्गिक कल्पना सार्वभौम सत्य की झाँकी देने में क्रियाशील होती है। इतिहास की घटनाओं का क्या भरोसा! आज हैं, कल नहीं। महान् साहित्यकार विगत युग से उन्हीं घटनाओं को चुनता है जिनका सीधा सम्बन्ध नित्य के जीवन से होता है। इसलिए, इतिहास के आधार पर लिखे गए नाटकों में सृजनात्मक कल्पना का योग परम आवश्यक है। प्रसाद में यह प्रतिभा पर्याप्तमात्रा में थी। इसलिए उनके नाटकों में इतिहास और कल्पना का कलात्मक सामंजस्य हुआ है। 'राज्यश्री' में भी इसका प्रयोग हुआ है। सुरमा और शांतिभिक्षु की प्रेम-कहानी प्रसाद की उर्वर कल्पना की ही सजीव सृष्टि है। यद्यपि ये चरित्र ऐतिहासिक नहीं हैं, इतिहास में उनके नामों का उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि ऐतिहासिक कथा—हर्ष और राज्यश्री—के साथ उसे दूध और पानी की तरह मिला दिया गया है। ऐसा करके प्रसाद जी ने इतिहास के रूखे-सूखे इतिवृत्त में प्राणों का संचार कर दिया है। सच तो यह है कि 'राज्यश्री' नाटक में सुरमा और शांतिभिक्षु के चरित्र बड़े सजीव उतरे हैं। उनकी अनुपस्थिति में 'राज्यश्री' इतिहास की फोटोग्राफी हो जाती—निष्प्राण और निर्जीव। इसके अतिरिक्त, कथानक में जहाँ-जहाँ नारी-हृदय की कोमल अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है वहाँ नाटक में जान आ गई है। उस क्षण हम इतिहास की निर्जीव और निस्पन्द कथा को भूलकर मानव-मन की चिरन्तन अनुभूतियों का आनन्द लेने लगते हैं। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में काव्य-सुषमा, दर्शन की गम्भीरता तथा चिरंतन सत्य की अभिव्यक्ति होते हुए भी उनकी 'राज्यश्री' में हर्षवर्द्धनकालीन भारत का यथार्थ चित्र खींचा गया है। मैं कह चुका हूँ कि कल्पना की जो उड़ान उनके अन्य नाटकों में देखी जाती है वह इसमें नहीं है। इसमें तो नाटककार ने इतिहास के रूखे-सूखे पृष्ठों में वर्णित यथार्थ घटनाओं का ही अधिकाधिक अनुसरण किया है, जिससे उस युग की जीती-जागती तस्वीर तो उतर सकी है, पर हमारी अन्तर्चेतना को स्पंदित और झंकृत करने वाली उस अदम्य शक्ति का अभाव है जो प्रसाद के नाटकों की मूल चेतना है। यह होते हुए भी 'राज्यश्री' से प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना की गहराई और ईमानदारी तथा उनके गहन अध्ययन का परिचय आसानी से मिल जाता है।

ऐतिहासिक नाटक में नाटककार की यह चेष्टा होती है कि वह जिस युग को अपनी कथा का आधार बनाता है उसके वातावरण, सामाजिक-राजनीतिक जीवन, धार्मिक अवस्थाओं आदि की अभिव्यक्ति अच्छी तरह कर सके; जिसके सम्पर्क में वह स्वयं नहीं आया है। इस तरह नाटककार को अपने युग में रहकर विगत युग की मानसिक यात्रा करनी पड़ती है। प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना बड़ी ही सूक्ष्म थी। इसलिए वे ऐतिहासिक नाटक लिखने में सफल हो सके।

'राज्यश्री' प्रसाद की नाट्य-कला का प्रथम विस्फोट है, जिसमें उनकी नाट्य-कला अपने नये रूप में प्रकट हुई। इसके पहले इसका रूप पुराना था। लेकिन 'राज्यश्री' नाटक प्रसादजी की नाट्य-कला का दूसरा अध्याय खोलता है। वस्तुतः यह उनकी कला के संन्धि-काल में रचा गया था; जिसमें प्राचीनता के प्रति मोह भी बना हुआ है और नवीनता के प्रति उत्साह भी। अतएव 'राज्यश्री' प्रसाद के नाटकों में वह प्रथम नाटक है जिसमें नाट्य-कला की प्राचीनता और आधुनिकता की आँख-मिचौनी देखने को मिलती है। इसके पहले रूपकों पर संस्कृत-नाट्य-शास्त्र का सीधा प्रभाव था, लेकिन 'राज्यश्री' से यह प्रभाव क्रमशः कम होता गया। इसके पूर्व के रूपकों में नांदी-पाठ, प्रस्तावना, भरत-वाक्य, प्राकृतिक वर्णन आदि का समावेश हुआ करता था, लेकिन इसमें प्रसाद ने अपनी नाट्य-कला को भारतीय नाट्य-शैली के इन वाह्यांगों से मुक्त कर दिया। यद्यपि 'राज्यश्री' के प्रथम संस्करण में भारतीय नाट्य-शास्त्र के नियमों की रक्षा हुई तथापि इसके दूसरे संस्करण में इसका पुराना रूप बदल दिया गया। अतएव, यह नाटक उनकी नाट्य-कला का प्रथम सोपान है, जिससे होकर उनकी कला का क्रमिक उत्थान होता गया है। इसीलिए 'ध्रुवस्वामिनी' और 'राज्यश्री' की नाट्य-कला में बहुत वड़ा अन्तर पाया जाता है। सच तो यह है कि 'प्रसाद' के नाटकों में नाट्य-कला का क्रमिक विकास होता गया है। उनके नाटकों का शरीर विदेशी है लेकिन उसकी आत्मा पूर्णरूपेण भारतीय है। यही पूर्व और पश्चिम के नाटकीय तत्त्वों का कलात्मक समन्वय प्रसाद की नाट्य-कला की अपूर्व विजय है। 'राज्यश्री' के द्वितीय संस्करण में इस 'समन्वय' का दर्शन पहली वार हुआ।

डॉ० सत्येन्द्र ने 'राज्यश्री' के कथानक का विश्लेषण इस तरह किया है—"'राज्यश्री' में एक सूत्र तो राज्यश्री का है। उसका पति मारा जाता है। पहले उसे मालवराज देवराज अपने अधिकार में करना चाहता है। फिर दस्यु उसे छुड़ाते हैं। दिवाकर मित्र दस्युओं से उसकी रक्षा करते हैं; निराश होकर वह चिता पर जल मरना चाहती है। तभी हर्ष आता है। वह हर्ष के साथ विवाह करती है और प्रयाग में वे सर्वस्व दान करते हैं। दूसरा सूत्र शान्तिभिक्षु और सुरमा का है। शांति धन और रूप के उच्चाटन से सुरमा को छोड़कर राज्यश्री के लिए लपकता है, दस्यु वनता है, सुरमा भी च्युत होकर महत्त्वाकांक्षा में देवगुप्त के साथ रानी वनती है। शांति सुरमा को भगा लाता है। वे दोनों गायक बनते हैं। फिर वे नरेंद्रगुप्त के षड्यंत्र के साधन वनकर राज्यवर्धन की हत्या करके भागते हैं।

सुएनच्वांग को पकड़कर उससे धन चाहते हैं। दैवी शक्ति से बाध्य होकर वे उसे छोड़ देते हैं। वे जब प्रयाग लूटने जाते हैं, पकड़ लिये जाते हैं और राज्यश्री तथा हर्ष उसे क्षमा कर देते हैं। ये दोनों कथाएँ एक-दूसरे से उलझती चलती हैं।" इस तरह हम देखते हैं कि 'राज्यश्री' में आधिकारिक कथा और प्रासंगिक कथा दोनों आई हैं। अब यह प्रश्न होता है कि इनमें से कौन-सी कथा प्रासंगिक है और कौन-सी आधिकारिक। नाटक का नाम 'राज्यश्री' है। इससे इस बात का आभास मिलता है कि नाटककार की इच्छा राज्यश्री को ही नायिका बनाने की है। यदि वह नाटक की नायिका है तो फिर इसका नायक कौन है—राज्यवर्धन या हर्षवर्धन ? नाटक में दोनों फल के भोक्ता हैं। एक ओर राज्यवर्धन देवगुप्त को युद्ध में मार डालता है और दूसरी ओर हर्षवर्धन राज्यश्री का पता लगाकर उसको अपने साथ राजधानी में ले आता है। ऐसी स्थिति में किस पात्र को नायक माना जाय ! 'राज्यश्री' में प्रासंगिक कथा और आधिकारिक कथा एक-दूसरी से इस तरह उलझी हुई हैं कि यह बतलाना आसान नहीं है कि इसकी प्रधान कथा कौन-सी है, और कौन गौण। जिस ढंग से सुरमा और शान्तिभिक्षु की कथा वर्णित की गई है, इससे ऐसा मालूम होता है कि शान्तिदेव ही इस नाटक का प्रधान नायक है और सुरमा इसकी नायिका है। नाटक की कथा-वस्तु में जितने सक्रिय ये दोनों पात्र हैं उतने राज्यश्री और हर्षवर्धन भी नहीं। किसी भी नाटक की कथावस्तु का आरम्भ किसी-न-किसी तरह के विरोध से होता है। अंग्रेजी आलोचक हडसन ने ठीक ही लिखा है कि "Every dramatic story arises out of some conflict." यह विरोध बहिर्मुखी होता है।

इसमें व्यक्ति का संघर्ष अपने भाग्य (fate) या जीवन की किसी विषम परिस्थिति से दिखलाया जाता है। यह संघर्ष बहिर्मुखी भी हो सकता है और अन्तर्मुखी भी। 'राज्यश्री' नाटक का आरम्भ अन्तर्द्वन्द्व से हुआ है। एक ओर शांतिदेव रूप और वैभव का भूखा है और दूसरी ओर मालवराज देवगुप्त कान्यकुब्ज के महाराज ग्रहवर्मा से अपना पुराना प्रतिशोध लेने तथा उनकी पत्नी राज्यश्री को पाने के लिए चंचल है। नाटक का आरम्भ इन्हीं आंतरिक विरोधों से हुआ है। इनमें शान्तिदेव का अन्तर्द्वन्द्व सबसे अधिक उभरा है। प्रसाद के इस प्रथम ऐतिहासिक नाटक में अन्तर्द्वन्द्व की यह तीव्रता उनके किसी भी अन्य प्रौढ़ नाटक से होड़ ले सकती है।

किसी भी नाटक की उत्कृष्ट कथा-वस्तु में संघर्ष (conflict), सक्रियता (actions) और सारभूत प्रभाव (total effect) का होना बहुत आवश्यक है। 'राज्यश्री' के तीसरे अङ्क तक की कथा की घटनाओं में काफी सक्रियता है। एक घटना से दूसरी घटना फूटती हुई नजर आती है। कथानक के संकलन और संगठन में प्रसाद को अच्छी सफलता मिली है। लेकिन चौथे अङ्क में कथा का प्रभाव इतना शिथिल और मन्द पड़ गया है कि यह अनावश्यक जँचने लगता है। संघर्ष की तीव्रता जितनी सुरमा-शांतिदेव के चरित्रों में है उतनी किसी भी

दूसरे पात्र में नहीं है। इस नाटक के सबसे अधिक सक्रिय चरित्र ये दोनों ही हैं। यदि इस नाटक से इन्हें निकाल दिया जाय तो फिर इस नाटक की स्फूर्ति, शक्ति और जीवन नष्ट हो जायगा। स्वयं राज्यश्री में न तो कोई संघर्ष है और न सक्रियता। वह तो एक अधिक भावुक नारी है। पति की हत्या का समाचार पाकर वह इतनी विकल-विह्वल होती है कि तत्काल सती हो जाने के लिए तैयार हो जाती है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस नाटक का केन्द्र-बिन्दु राज्यश्री ही है। यदि एक ओर शांतिदेव उसकी रूपश्री पर आसक्त है तो दूसरी ओर देवगुप्त की कलुष-वासना भी उसे पाना चाहती है और तीसरी ओर डाकुओं का दल भी उससे पर्याप्त धन पाने के लिए उसको अपने आधीन करना चाहता है—"यदि राज्यश्री को हम लोग पा जाते तो बहुत-सा धन मिलता।" इनके अतिरिक्त, राज्यवर्धन भी राज्यश्री को देवगुप्त के चंगुल से मुक्त करने के लिए कान्यकुब्ज पर आक्रमण करके उसकी हत्या करता है। हर्षवर्धन को भी राज्यश्री की ही चिन्ता है। वह भी अपनी बहन की खोज में निकल पड़ता है। इस तरह हम देखते हैं कि 'राज्यश्री' नाटक की कथावस्तु का मुख्य आकर्षण राज्यश्री ही है, जो स्वयं एक निष्क्रिय और निर्जीव पात्र है। उसको पाने के लिए सभी प्रयत्नशील हैं, लेकिन वह स्वयं शिथिल और निश्चेष्ट है। जैसे, उसने अपने को भाग्य और भगवान् के हवाले कर दिया हो। सामूहिक दृष्टि से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि 'राज्यश्री में सुरमा और शान्तिदेव ही सबसे अधिक सबल, सक्रिय और संघर्षशील पात्र हैं। मनुष्योचित सबलता और दुर्बलता उनके चरित्र की विशेषता है। नाटककार प्रसाद ने इनके कथा-विकास के लिए जितने अधिक पृष्ठ लिये हैं उतने राज्यश्री-हर्षवर्धन के लिए नहीं लिये। 'राज्यश्री' नाटक के प्रत्येक अंक का आरम्भ सुरमा-शान्तिदेव की कथा से हुआ है। प्रसाद के अन्य नाटकों में प्रासंगिक कथा को इतना ऊँचा स्थान नहीं दिया गया। साधारणतः प्रधान कथा का ही वर्णन प्रत्येक अंक के आरम्भ में होता है, लेकिन प्रसाद के इस प्रथम ऐतिहासिक नाटक में ऐसा नहीं हुआ। इससे इस बात का आभास होने लगता है कि इस नाटक के नायक-नायिका शान्तिदेव-सुरमा तो नहीं है! कथा के सारभूत प्रभाव (total effect) की दृष्टि से भी 'राज्यश्री' की कथावस्तु में प्रभाव की एकता (Unity of impression) का अभाव खटकता है। इसका चतुर्थ अंक अनावश्यक मालूम होता है। तीसरे अंक तक कथा के प्रवाह और प्रभाव में किसी तरह की कमी नहीं आई। सुरमा और शान्तिदेव के पतन और उत्थान के संघर्षमय जीवन और परिवर्तनशीलता का जो सारभूत प्रभाव पाठकों तथा दर्शकों के मन पर पड़ता है उतना किसी भी अन्य पात्र का नहीं पड़ता। राज्यश्री का चरित्र मनुष्यता की सामान्य ऊँचाई से काफी ऊपर उठ गया है; जो इस धरती की नारी न होकर देव-लोक की कन्या हो गई है, जो सुन्दर है, आकर्षक है, पर प्रभावशालिनी और विश्वसनीय नहीं है और जिसमें मानवीय रक्त का प्रवाह न होकर देवता के चित्त की स्थिरता है, जो अपने समस्त विश्वासों और धाराओं पर पहाड़ की तरह अडिग खड़ी रहती है—न एक पग आगे,

न पीछे। हर्षवर्द्धन में थोड़ी-बहुत गति अवश्य है, जो राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास करता है।

'राज्यश्री' प्रसाद का सबसे छोटा नाटक है, जिसका कथानक सरल और सुबोध है। लेकिन इस सरलता में जितनी उलझन है, वह कम नहीं है। इस नाटक में सुरमा-शांतिभिक्षु की कथा एक भारी समस्या है। इसकी कथा का विस्तार, कथानक की टेकनीक की दृष्टि से, सर्वथा उपयुक्त है। इसमें आरम्भ, विकास, चरम सीमा, उतार या निगति और समाप्ति का क्रम देखा जा सकता है। भारतीय नाट्य-शास्त्र की दृष्टि से भी उसकी कथा में आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम—इन पाँच अवस्थाओं का क्रम बैठा हुआ है। लेकिन 'राज्यश्री' की मूल कथा में इनका अभाव खटकता है। सामान्यतः 'राज्यश्री' की कथा चौथे अंक को छोड़कर, सरल, सुबोध, सक्रिय और प्रभावपूर्ण है।

प्रसाद के नाट्य-साहित्य में 'राज्यश्री' वह प्रथम ऐतिहासिक नाटक है जिसमें नाटककार ने वर्तमान सभ्यता के प्रति तीव्र असन्तोष प्रकट किया है। इस असन्तोष के कुछ राजनैतिक और सामाजिक कारण हैं। वर्तमान के प्रति असन्तोष का मूल कारण बाह्य जीवन तथा आन्तरिक जीवन का असंतुलित संघर्ष है। वर्तमान से असंतुष्ट होकर व्यक्ति या तो वर्तमान विषमताओं का खुलकर सामना करता है, जैसे दिनकर, या उससे हार मानकर विगत इतिहास के स्वर्ण-युग में अपने को बसा देता है या वर्तमान और भूत के बीच समझौता उपस्थित करता है। प्रसाद का हृदय वर्तमान सभ्यता से ऊब चुका था और इसीलिए वे इसके प्रति उदासीन और असन्तुष्ट रहते थे। धरती के कोलाहल से वे बहुत घबराते थे। अंग्रेजों के झूठे वादों से उनके मन में गहरी निराशा घर कर गई थी। प्रसाद का नाटक-रचना-काल १९१४-१८ के प्रथम महायुद्ध की विभीषिका को देख चुका था और उसके दुष्परिणामों से उनका नाटककार अच्छी तरह अवगत हो चुका था। 'राज्यश्री' में मनुष्य की बढ़ती हुई वर्तमान युद्ध-लोलुपता का प्रतिवाद किया गया है। विश्व-शान्ति की स्थापना बड़े-बड़े राजनीतिक तथा सामाजिक सशस्त्र आन्दोलनों से नहीं हो सकती; क्योंकि हिंसा से हिंसा की आग नहीं बुझाई जा सकती, घृणा-से-घृणा का अन्त नहीं होता—ऐसा प्रसाद का विश्वास था।

उसके साथ ही हम शवों की शान्ति भी नहीं चाहते। जीवन में स्वाभाविक लालसा बनी रहेगी, लेकिन उसके लिए बड़े पैमाने पर युद्ध-विग्रह की कोई आवश्यकता न होगी। इसी विश्व-सांस्कृतिक चेतना की पट-भूमि पर 'राज्यश्री' का कथानक खड़ा किया गया है। इसके सभी पात्र मन के किसी-न-किसी अदृश्य भाव से पीड़ित और व्यथित हैं। सभी शान्ति चाहते हैं। शान्तिभिक्षु शान्ति चाहता है, हर्ष भी शान्ति चाहता है, और राज्यश्री भी शान्ति चाहती है। प्रसाद के नाटकों की सांस्कृतिक चेतना उनके नाट्य-साहित्य की मूल प्रेरणा है। जिसकी प्रथम सृष्टि 'राज्यश्री' नाटक है।

'राज्यश्री' प्रसाद का वह प्रथम ऐतिहासिक नाटक है जिसमें प्रभावशाली चरित्रों की अपेक्षा ऐतिहासिक घटनाओं की बहुलता, प्रधानता और सक्रियता है। अतः यह एक घटना-प्रधान नाटक है; क्योंकि उसमें चरित्रगत विशेषताएँ नहीं मिलतीं। कथानक में घटनाओं का वेग इतना प्रबल है कि चरित्रों के अन्तर्प्रदेश तक पहुँचने तथा उनकी आन्तरिक वृत्तियों के समझने का समय ही नहीं मिलता। शान्तिभिक्षु और सुरमा के अन्तर्जगत् पर प्रकाश अवश्य डाला गया है और उनकी महत्त्वाकांक्षाओं का विश्लेषण किया गया है। लेकिन इन दो पात्रों को छोड़कर अन्य सभी पात्र ऐतिहासिक घटनाओं के आत्म-जाल में इतने उलझे हैं कि उन्हें अपनी बात कहने का समय ही नहीं मिलता। स्वयं राज्यश्री, जो इस नाटक की नायिका है, अपनी व्यथा तथा आंतरिक अनुभूतियों को प्रकट करने में अपने को असमर्थ पाती है। पति की हत्या पर उसकी अनुभूतियों को खुलने का अवसर मिला था, लेकिन उसकी आदर्शवादिता और अतिशय भावुकता ने उसे ऐसा नहीं करने दिया। वह आदर्श और भावुकता की जिस उच्च भावभूमि पर खड़ी की गई है वह हमारे समाज की सामान्य नारियों से सर्वथा भिन्न है। प्रसाद के नाटक अधिकांशतः चरित्र-प्रधान होते हैं।' ध्रुवस्वामिनी', 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' आदि सभी चरित्रगत विशेषताएँ लिये हुए हैं। अतएव, ये घटना-प्रधान न होकर चरित्र-प्रधान नाटक हैं। लेकिन उनके नाटक-साहित्य में सम्भवतः 'राज्यश्री' ही एक ऐसा नाटक है जो कथानक का दुर्वह भार लिये हुए है। इसका कारण यह है कि यह उनकी प्रथम ऐतिहासिक रचना है जिसमें उन्होंने इतिहासकार की ईमानदारी का सफल निर्वाह किया है। ऐसी हालत में नाटक में चरित्रगत विशेषताओं के अभाव का होना एक स्वाभाविक बात है। सुरमा और शांतिभिक्षु को छोड़कर सभी चरित्र अविकसित हैं।

'राज्यश्री' के प्रथम दो संस्करणों में बहुत-कुछ उलट-फेर हुए हैं। उसके प्रथम संस्करण को प्रसाद जी ने 'अपूर्ण ही-सा' समझकर दूसरे संस्करण में उसके रूप को परिवर्तित और परिवर्द्धित कर दिया। पहली बार जब यह काशी की प्रसिद्ध पत्रिका 'इन्दु' में प्रकाशित हुआ तब उसमें केवल तीन अंक थे; जो क्रमशः ५,६ और ५ दृश्यों में विभाजित थे। प्रथम संस्करण में नाटक का आरम्भ नान्दी-पाठ, प्रस्तावना आदि से हुआ था। प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में ग्रहवर्मा कविता में बातचीत करता था, जो नाटक की पुरानी रीति थी। प्रथम संस्करण में बहुत-कुछ अपूर्णताएँ शेष रह गई थीं, जिनका परिहार दूसरे संस्करण में किया गया। प्रथम संस्करण में नाटककार को ऐतिहासिक घटनाओं के संकलन और संगठन में विशेष सफलता नहीं मिली थीं। ऐसा मालूम होता है कि नाटक का यह संस्करण जल्दबाजी में लिखा गया था। वास्तव में 'राज्यश्री' का प्रथम संस्करण अनेक अपूर्णताओं, असंबद्धताओं और शिथिलताओं से भरा था। लेकिन दूसरे संस्करण में यथासंभव सभी दोषों को दूर करने की चेष्टा की गई है। उसकी कुछ खास बातें नीचे दी जाती हैं,

'राज्यश्री' का दूसरा संस्करण—

(१) कथानक के विभाजन का क्रम इसमें भी नहीं रहा। जो प्रथम संस्करण में था, लेकिन तीसरे अंक के बाद एक अंक और जोड़ दिया गया। इस प्रकार 'राज्यश्री' को चार अंकों में विभाजित कर दिया गया।

(२) दूसरे संस्करण में 'राज्यश्री' के कथानक में कोई उलट-फेर नहीं हुए। इसमें नाटककार का उद्देश्य प्रथम संस्करण की दुर्बलता, अपूर्णता तथा नीरसता को दूर करना था। चौथे अंक की सृष्टि इसी प्रयास का परिणाम है। सुएनच्वांग और पुलकेशिन को प्रकाश में लाकर प्रसाद ने इसके कथानक को नवीन और आकर्षक बनाने की कोशिश की है। वस्तुतः राज्यश्री की उदारता और हर्ष की दानशीलता का प्रदर्शन करने के लिए ही चौथे अंक की कल्पना की ग है। डॉ जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने इस अंक को 'निरर्थक' और 'असार' कहा है।

(३) इस दूसरे संस्करण में कुछ नये पात्रों की सृष्टि हुई है—शांतिभिक्षु, सुरमा, सुएनच्वांग, पुलकेशिन आदि। प्रथम संस्करण में इन्हें कोई स्थान नहीं मिला था।

(४) दूसरे संस्करण में प्रसादजीने नाट्य-शास्त्र के पुराने नियमों की जगह आधुनिक नाटकों के नियमों का प्रयोग किया है। प्रथम संस्करण में नाटक का आरम्भ नान्दी-पाठ आदि से हुआ था और अन्त 'भरत-वाक्य' से हुआ था। परन्तु दूसरे संस्करण में 'भरत-वाक्य' को रहने दिया पर नान्दी-पाठ, प्रस्तावना, मंगलाचरण आदि को हटा दिया। इससे यह विदित होता है कि नाटककार अब भारतीय नाट्य-शास्त्र की ओर से कुछ उदासीन होने लगा और आधुनिक नाट्य-नियमों की ओर उन्मुख होने लगा।

(५) प्रथम संस्करण की अपेक्षा द्वितीय संस्करण की अभिव्यंजना-शैली संस्कृत-गर्भित नहीं है। आलंकारिक प्रयोग और अत्यधिक काल्पनिकता से यह संस्करण बच गया है। विषय-प्रतिपादन में सरलता है। कविता में वार्तालाप करने की पुरानी पारसी नाटक की-सी नीति यहाँ छोड़ दी गई है। प्रथम संस्करण में जहाँ पद्यमय कथानकों की बहुलता थी, वहाँ इसमें उनका सर्वथा अभाव है। नाटक में सरलता और स्वभाविकता की पूरी रक्षा हुई है।

(६) द्वितीय संस्करण की सफलता का मूल कारण सुरमा और शान्तिभिक्षु-जैसे गतिशील चरित्रों की सृष्टि है। प्रथम संस्करण में गतिशील पात्रों का अभाव खटकता था; लेकिन इसमें नाटककार ने अपनी उर्वर कल्पना से इन दो चरित्रों की सृष्टि करके नाटक के कथानक में जीवन डाल दिया है, जिससे कथावस्तु का आकर्षण बढ़ गया है।

इस तरह हम देखते हैं कि 'राज्यश्री' के दूसरे संस्करण में कथानक के विस्तार के साथ चरित्रों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। यह विस्तार और वृद्धि सोद्देश्य है। अतः 'राज्यश्री' प्रसाद के नाटकों में प्रथम ऐतिहासिक नाटक है

जिसमें उनकी नाट्य-कला प्राचीन और नवीन के संगम-स्थल पर खड़ी होकर नवीन नाट्य-कला का आह्वान कर रही है। वास्तव में यह नाटक उनकी प्राचीन कला का अन्त और नवीन कला का आरम्भ होने की सूचना देता है। प्रसाद की नाट्य-कला का वैज्ञानिक अध्ययन करने में यह बड़ा सहायक होगा। इसीलिए इसका महत्त्वपूर्ण स्थान माना जा सकता है।

: ७ :

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जिस प्रकार व्यक्ति-विशेष के चेतना-प्रवाह पर रूपायित तरंगों का प्रतिबिम्ब उसके कर्तृत्वों पर पड़ता है, उसी प्रकार राष्ट्र-विशेष का क्रिया-संकुल बाह्य जीवन उसकी अन्तश्चेतना का दृश्य-रूप होता है। राष्ट्र की भी आत्मा होती है। समाज बहुत-से व्यक्तियों का योगफल ही नहीं है। उसकी अपनी चेतना होती है और इसके जीवनगत व्यापारों को देखकर हम इसकी सम्बद्धता अथवा विच्छृंखलता का अनुमान भी कर सकते हैं। जिस प्रकार विश्व में व्यक्तियों का जन्म-मरण हुआ करता है, उसी प्रकार समाजों का भी। अतीत के लम्बे पथ पर न जाने कितने समाजों का अभ्युदय हुआ तथा कितने राष्ट्र पनपे और अन्त में कितने विच्छृंखल होकर मरुभूमि में सरिता की धारा में विलीन हो गए। समाज अथवा राष्ट्र का इतिहास भी पतन और उत्थान के किनारों में बँधा होता है। राष्ट्र के टेढ़े-मेढ़े इतिहास में भी एक समस्वरता होती है। यही समस्वरता उस राष्ट्र की आत्मा का राजचिह्न होती है।

समूह में हम नानाविध व्यक्तियों को पाते हैं—कोई कच्चा है, कोई ठोस, कोई सम्बद्ध है, तो कोई विच्छृंखल और वायवीय। किन्हीं-किन्हीं का व्यक्तित्व आकारों में बँधा हुआ भी नहीं होता। हम कह सकते हैं कि उनकी अवस्था नक्षत्र-लोक में रूपायित उन नीहारिकाओं-जैसी है जिनकी आकृति-रेखाएँ भी स्पष्ट नहीं होतीं। उन व्यक्तियों में राष्ट्र अथवा समूह-विशेष का व्यक्तित्व रूपबद्ध नहीं होता। ये राष्ट्र या समूह अपने क्षीण अहं बोध को लेकर ही जीते हैं और भौतिक अवस्थाओं में थोड़े उलट-फेर से भी, कभी-कभी ये विध्वस्त होते देखे गए हैं। परन्तु, व्यक्ति और राष्ट्र की आत्मा में एक भेद है। व्यक्ति बूढ़ा होता है, उसकी शक्तियाँ क्षीण होती हैं और वह असहाय मृत्यु की चक्की में पिस जाता है। उसमें काया-कल्प की योग्यता नहीं, जो अपने यौवन को चिरस्थायी रख सके अथवा अपने खोये पराक्रम को अनवरत रूप से लौटाता जाय। परन्तु, वह राष्ट्र जिसकी चेतना सम्बद्ध है और जिसकी आत्मा प्रत्यक्ष भास्वर है, पतन के दुर्दिन में भी आत्म-विस्मृत नहीं होता। समय-समय पर उसकी आत्मा की गहराई से एक नवीन ज्योति निकलती है, एक देव उत्पन्न होता है और वह उसके बाहरी जीवन के बिखरे सूत्रों को एकत्र करता हुआ, काल-पथ पर, उसे नए अभियान के लिए, प्रेरित करता है। ऐसा राष्ट्र

विश्व-जीवन की सम्मिलित रागिनी का एक स्थायी सुर है। यह कभी-कभी मन्द तो पड़ता है, पर मिटता नहीं।

भारतीय इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए जो बात हमें सबसे अधिक प्रभावित करती है, वह है भारतीय उच्छ्वासों की समस्वरता। अति प्राचीन काल से ही भारतीय राष्ट्र में नचिकेता की जो भूख जगी है, वह आज भी जीवन और जागृत है। भौतिक समृद्धि के गौरवमय दिनों में भी, भारत की आत्मा की भूख अप्रत्यशित ही रही। भारत को चाहिए स्वातंत्र्य; चाहिए उसे अमृतत्व का अधिकार और अकुण्ठित जीवन की भास्वर महिमा। भारत का लोक-जीवन, वास्तव में सचेतन मानव की वह प्रयोगशाला है, जहाँ उसने अपने जीवन के मूल सूत्रों को ढूँढने की चेष्टा की है। और राष्ट्रीय कर्तृत्वों के इसी संगठित रूप ने भारत की ज्योतिर्मय आत्मा को प्रतिबिम्बित किया है। भारत की चेतना उस समय भी अपने बिखरे हुए सूत्रों को एकत्र कर चुकी थी, जिस समय संसार के अन्य राष्ट्र अपने सामूहिक अहं का निर्माण ही कर रहे थे।

भारत के लोक-जीवन में एक अत्यन्त ही सुसम्बद्ध भाव-धारा रूपायित हुई है। मन्द दिनों में भी इस दिव्य भाव की प्रच्छन्न धारा ने हमें संजीवित रखा है। अज्ञान और अन्धकार की गहनतम अमा निशा के बाद भी भारतीय लोक-जीवन के मूल में ज्योतिर्मय पिंडों का अवतरण हुआ है, और ये न केवल भारत की मूल दृष्टि को सुरक्षित रखते आए हैं, वरन् इन्होंने लोक-जीवन को एक नया उद्बोधन देते हुए, संसार की नई और परिवर्तित परिस्थितियों के साथ इसे एक सूत्र में बाँधा है। हमारी राष्ट्र-चेतना की गहराई में पलता देव, विपन्नता के दिनों में, अपने भास्वर प्रतिनिधियों को भेजकर हमारे जीवन के हर पहलू को आलोकित करता रहा है।

हमारे राष्ट्रीय जीवन में यदा-कदा अवतीर्ण होने वाले ये प्रतीक केवल इस लिए महत्त्वपूर्ण नहीं कि इनका जीवन व्यापक, उदार और बहुरंगी होता है, वरन् इसलिए भी, कि ये भारत के राष्ट्रीय व्यक्तित्व की परछाईं होते हैं। इनके उच्छ्वासों में हमारे राष्ट्रीय उच्छ्वासों की प्रतिकृति अंकित है और ये उस दृष्टि के प्रतीक हैं जो हमारे राष्ट्र की दृष्टि है।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म भी एक ऐसे काल में हुआ था, जब हमारी राष्ट्रीय पराजय पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी। इनका व्यक्तित्व भी यही प्रतीकात्मक महत्त्व रखता है। भारतेन्दु साहित्यकार थे और इनका व्यक्तित्व विशेष रूप से सौन्दर्यमूलक अनुभूतियों से निर्मित था। जीवन के बहुविध व्यापारों का संतुलित मूल्यांकन जहाँ इनका सहज धर्म था, वहाँ साथ ही जनता जनार्दन के जीवन में पलने वाली रूढ़ियों के प्रति घोर अनास्था तथा उग्र प्रतिरोध का भाव, इनका स्वभाव-प्रतिष्ठ भाव था। भारतेन्दु जीवन के हर क्षेत्र को जानते थे, सामाजिक जीवन के हर पहलू से इनका गहरा परिचय था। उनका आदर्श भी सामान्य जीवन से परे किसी स्वप्न-लोक की आकुल अपेक्षा रखने वाला नहीं था। वे समृद्ध, बहुरंगी तथा

उदार जीवन के प्रतीक थे। यह जीवन वीतराग संन्यासियों से नहीं, क्रिया-संकुल श्रीकृष्ण से प्रेरणा का आह्वान करता है।

अब हम भारतीय इतिहास के आलोक में भारतेंदु के कर्तव्यों का अध्ययन करेंगे ताकि हम उनके व्यक्तित्व के ऐतिहासिक मूल्य को समझ सकें। महापुरुषों का जीवन बहुरंगी होता है। इसलिए उसके बहुविध जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालना आवश्यक होता है।

समय के अशान्त वातावरण में महान् आत्माओं का जन्म होता रहा है। भारतेंदु का जन्म भी ऐसे ही समय में हुआ था जब कि देश में :

अँगरेज राज सुख साज रहे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥

ऐसी हालत थी। मुगल-राज्य के पतन के बाद ईसाइयों ने अपने धर्म और राजनीति की पताका फहराना आरंभ कर दिया था। यदि एक ओर वे अपने धर्म का मर्म देश की भोली-भाली जनता को बतलाने लगे, तो दूसरी ओर अपनी तलवारों से देश के शक्तिशाली देशी राज्यों को अपने अधीन करने लगे। देश का शासन-सूत्र संपूर्णतः विदेशियों के हाथ में चला गया। सौभाग्य की बात यह हुई कि इसी समय देश में—उत्तर भारत में—दो ऐसे महापुरुषों का जन्म हुआ, जो समाज के सुधारक थे और थे देश के भक्त। पूर्व (बंगाल) में श्रीराममोहन राय और पश्चिम (पंजाब) में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारतीय धर्म, भाषा, दर्शन, सभ्यता, संस्कृति और साहित्य की रक्षा में अपना सारा जीवन लगा दिया। एक ओर बंगाल में यदि राममोहनराय ने देश की बहुत बड़ी जनसंख्या का ईसाई होने से बचाया तो दूसरी ओर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पंजाब और अन्य प्रांतों में सर्वसाधारण भारतीय जनता को मुसलमान होने से बचाया। भारतवर्ष के उत्तरापथ का मध्यस्थान (काशी) भी देश में नव जागरण की लहर फैलाने के लिए जाग पड़ा। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के पिता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया।' देश की सभ्यता और संस्कृति की रक्षा में उन्होंने भी अपने जीवन को देश के चरणों पर समर्पित किया। लेकिन राममोहन राय और दयानन्द सरस्वती की अपेक्षा भारतेंदु ने साहित्य को ही देश-सेवा और समाज-सेवा का माध्यम या सम्बल बनाया। शंकर, रामानुज, वल्लभ, सूर, तुलसी, कबीर-जैसे महापुरुषों के बाद राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती और भारतेंदु-जैसे महान् व्यक्तियों ने ही, देश की संस्कृति और सभ्यता की रक्षा में, अपना सक्रिय सहयोग दिया, इसमें कोई सन्देह नहीं।

"भारतेन्दु के समय से हिन्दी-साहित्य का नवीन युग शुरू होता है। उन्होंने हिंदी को जिस अवस्था में पाया, वह विलक्षण थी। कविता के क्षेत्र में जायसी, सूर, तुलसी इत्यादि के काव्यों का समय एक तरह से बीत चुका था। केशव के चलाये हुए नायिका-भेद, रस, अलंकार आदि को लक्ष्य करती हुई स्फुट कविताओं के छींटे उड़ रहे थे। हिंदी का गद्य 'प्रेम सागर', 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बेताल पच्चीसी'

से ही संतोष किये बैठा था। यद्यपि देश में नये-नये भावों का संचार हो गया था, पर हिंदी भाषा उनसे दूर थी। लोगों की अभिरुचि बदल चुकी थी, पर हिंदी के साहित्य पर उसका प्रभाव नहीं पड़ा था। शिक्षित लोगों के विचारों और व्यापारों ने दूसरा मार्ग तो पकड़ लिया था पर उनका साहित्य उसी पुराने मार्ग पर था। ये लोग समय के साथ स्वयं तो कुछ आगे बढ़ आए थे, पर अपने साहित्य को साथ न ले सके थे! कारण यह था कि जिन लोगों के हृदय में नई शिक्षा के प्रभाव से नये विचार उत्पन्न हो रहे थे, जो अपनी आँखों से देश-काल का परिवर्तन देख रहे थे, उनमें अधिकांश लोग ऐसे थे, जिनका कई कारणों से हिन्दी साहित्य से लगान छूट गया था और शेष ऐसे थे, जिन्हें हिंदी-साहित्य का मंडल बहुत ही बद्ध और परिमित दिखाई देता था। उस समय एक ऐसे साहसी और प्रतिभा-सम्पन पुरुष की आवश्यकता थी, जो अपने कौशल से इन बढ़ते हुए विचारों का मेल देश के परम्परागत साहित्य से करा देता। सौभाग्य से बाबू हरिश्चन्द्र का आविर्भाव ठीक ऐसे ही समय में हुआ, और वे यह कार्य करने में समर्थ भी हुए।"[१]

भारतेन्दु सिर्फ ३४ वर्षों तक जीवित रहे। १७ वर्ष की अवस्था से ही, नियमित रूप से, ये लिखने लगे थे। १८ वर्ष के अपने अल्प साहित्यिक जीवन में उन्होंने हिन्दी भाषा, कविता, नाटक और गद्य में नये प्राण डाल दिये। यही नहीं, उन्होंने अपने युग की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक चेतना को अपने समय के लेखकों और विचारकों से भी अधिक उग्र रूप में अपनाया था। आधुनिक हिन्दी-साहित्य उन्हीं के पथ पर चलता चला जा रहा है। अपने समय के सभी आन्दोलनों में उन्होंने दिल खोलकर भाग लिया। अपनी साहित्यिक रचनाओं द्वारा इन आन्दोलनों को बल भी दिया था। इस युग के लगभग सभी महापुरुष, नेता, कवि, लेखक तथा विचारक इनसे परिचित थे। सबों ने इनके सम्पर्क से लाभ उठाया था। सन् १८६७ में जब भारतेन्दु ने अपनी साहित्यिक कलम उठाई, तब देश पर अंग्रेजों का शासन काफी दृढ़ हो चुका था। समाज में क्रांति की नई लहर फैलने लगी थी। नये और पुराने विचारों में टकराहट होने लगी थी।

भारतेन्दु नये युग—आधुनिक भारत—के संदेश-वाहक थे। "प्राचीन युग की ड्योढ़ी पार करके उन्होंने ही पहले-पहल नये जीवन के प्रभात में प्रवेश किया था। ...अपने साथ वह बहुत-सा पुरानापन भी लाए थे, परन्तु उनकी प्रशंसा यही है कि वे नई शक्तियों के केन्द्र बन गए थे। अपनी कविता में नई सामयिक और तात्कालिक प्रवृत्तियों का श्री गणेश उन्होंने ही किया। वर्णाश्रम, अशिक्षा-निवारण, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, परतंत्रता, समुद्र-यात्रा, गो-रक्षा, अकाल, कर-वृद्धि की आलोचना—नई कविता के ये विषय भारतेन्दु ने ही हमें दिये। खड़ी बोली में सबसे पहले प्रयोगात्मक छन्द उन्हीं के हैं। उन्होंने कविता के सभी क्षेत्रों को छुआ।"[२]

---

१. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' भाग १४ संख्या १०॥

२. 'भारतेन्दु : एक अध्ययन', पृ० १५५।

"इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया, कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य में ले आए। नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचार-धारा बदल चली थी। उनके मन में देश-हित आदि की नई उमंगें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ-साथ उनके विचार और भाव तो बहुत आगे बढ़ गए थे, साहित्य पीछे ही पड़ा था।...देश-काल के अनुसार साहित्य-निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न तब तक नहीं हुआ था। बंगला में नये ढंग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो गया था, जिनमें देश और समाज की नई रुचि और भावना का प्रतिबिम्ब आने लगा था। पर, हिन्दी साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार, हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था, उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नये-नये विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चन्द्र ही हुए।"[1]

"अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंग देश के माइकेल मधुसूदन और हेमचन्द्र की शैली में। एक ओर राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाये जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है। साहित्य के नवीन युग के आदि प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नये-नये या बाहरी भावों को पचाकर इस प्रकार मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग-से लगें। प्राचीन-नवीन के इस संधि-काल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था, वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ इसमें संदेह नहीं।"[2]

भारतेन्दु का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है गद्य-पद्य की भाषा का परिमार्जन। हमारे देश में भाषा को लेकर पुराने शासकों ने जितना मनमाना राज्य किया उतना किसी भी दूसरे देश की भाषा में नहीं हुआ होगा। मुगल-काल में यदि फारसी का प्रभुत्व बना रहा, तो अंग्रेजी काल में अंग्रेजी का बोल-बाला इतना हुआ कि आज हम अंग्रेज शासकों से मुक्त होकर भी, उनकी भाषा अंग्रेजी से वंचित होना नहीं चाहते। फ्रेंच विद्वान् तासी, अंग्रेजी के पंडित मैकाले और उर्दू के संरक्षक सर सैयद अहमद के परिश्रम, प्रयत्न और प्रयास से गुलाम भारत में हिन्दी और उर्दू में झोंटा-झोंटी की खींचतान खूब चलती रही। इन दो प्रतिद्वंद्वी भाषाओं का अविराम संघर्ष भारतेन्दु के पहले से ही चला आ रहा था। उन्हीं दिनों उर्दू के विदेशी पति तासी (Tassee) ने अपनी पत्नी उर्दू का पक्ष ग्रहण किया था जिसके चक्कर में कुछ वर्षों तक भारतेन्दु के गुरुदेव राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद'

१. शुक्ल जी का इतिहास, पृ० ५३५

२. वही, पृ० ५५०

भी रहे थे, जिन्होंने उर्दू को ही देश की छाती पर बिठाना चाहा था। उन्हीं दिनों दूसरी ओर से राजा लक्ष्मणसिंह ने उर्दू-फारसी के विरोध का नारा बुलन्द करना आरंभ कर दिया था। भारतेन्दु के पूर्व हिंदी भाषा विभिन्न मतवादों की उँगलियों पर कठपुतली का नाच नाच रही थी। उसका कोई अस्तित्व नहीं था। भारतेन्दु के पहले हिंदी-गद्यकी भाषा—खड़ी बोली का नवीन रूप जनता के सामने आ तो गया था, परंतु उसका कोई निश्चित रूप स्थिर न हो सका था। भारतेन्दु के पहले ही मुन्शी सदासुखलाल, इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र की खड़ी बोली गद्य की रचनाएँ पाठकों के सामने आ गई थीं, परंतु उनमें किसी की कोई परम्परा चल न सकी थी। आधी शताब्दी बीतने के बाद हिन्दी के प्रतिद्वंद्वी लेखक मैदान में आये—राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द और राजा लक्ष्मणसिंह। इनकी दो स्वतंत्र शैलियाँ और नीतियाँ थीं। जहाँ राजा शिवप्रसाद की गद्य-भाषा में उर्दू और फारसी के कठोर और क्लिष्ट शब्दों की अधिकता थी, वहाँ राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा में संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग था। दोनों दो छोर पर खड़े थे। हिन्दी-भाषा की यह स्थिति सन् १८७३ तक बनी रही। इसी साल, भारतेन्दु ने अपनी प्रसिद्ध पत्रिका 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' प्रकाशित की। इसके प्रकाशन पर उन्होंने लिखा—'हिन्दी नई साँचे में ढली।' वास्तव में हिन्दी-गद्य और उसकी भाषा-शैली का आधुनिक रूप इसी समय से चल पड़ा। भारतेन्दु ने हिन्दी-गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता, मधुर, सरल और स्वच्छ रूप दिया। शुक्ल जी के शब्दों में 'उनके भाषा-संस्कार के महत्त्व को सब लोगों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिन्दी-गद्य के प्रवर्त्तक माने गए।' उन्होंने अपने अथक परिश्रम से हिन्दी-गद्य को व्यावहारिक बनाया। भारतेन्दु ने हिन्दी-गद्य-भाषा की पुरानी रीति-नीति को छोड़कर भाषा के नये सिद्धान्त स्थिर किये। प्रांतीय शब्दों और प्रयोगों का मोह छोड़कर, लल्लूलाल-सदलमिश्र के पंडिताऊपन से मुक्त होकर तथा राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह के कट्टरपन को त्यागकर, उन्होंने हिन्दी गद्य-भाषा का जो नवीन स्वरूप निश्चित किया, वह हिन्दी भाषा के लिए सर्वथा आधुनिक और युगान्तरकारी सिद्ध हुआ। आज हिन्दी गद्य का जो रूप पाया जाता है वह 'भारतेन्दु-हिन्दी' की परम्परा का ही स्वाभाविक विकास है।

भारतेन्दु न केवल हिन्दी गद्य-भाषा के संस्कारक हैं, वरन् हिन्दी-नाटक के पथ-प्रदर्शक भी। १० वीं शताब्दी के बाद, इस देश में नाटक लिखने की प्रथा एक तरह से बंद हो गई थी। मौलिक नाटकों की रचना का अन्त अन्तिम हिन्दू राजा हर्षवर्द्धन के साथ ही हो गया था। लगभग साढ़े आठ सौ वर्ष बाद भारतेन्दु ने हिन्दी में नाटकों की रचना आरंभ की। उनके पहले हिन्दी भाषा में कोई मौलिक महत्त्व-पूर्ण नाटक नहीं लिखा गया था। भारतेन्दु के अनुसार हिन्दी का प्रथम नाटक 'नहुष' था, जिसकी रचना उनके पिता जी ने की थी। इनके पहले हिन्दी में जितने नाटक मिलते हैं, उनमें नाट्य-कला का सर्वथा अभाव है। सच तो यह है कि हिन्दी में नाटक-साहित्य की परम्परा भारतेन्दु की नाट्य-कृतियों से ही शुरू हुई। उनके

नाटकों और नाट्य-कला की चर्चा हम अलग से करेंगे।

भारतेन्दु का साहित्य व्यापक है, और महान् है उनका साहित्यिक व्यक्तित्व। उनके एक प्रशंसक श्रीयुत कालीकुमार मुखोपाध्याय ने उनके साहित्य का मूल्यांकन इन शब्दों में किया है: "साहित्य के जितने अंग हैं, लगभग सभी अंगों पर भारतेन्दु की छाया पड़ी; परन्तु मुख्य तीन विषयों पर तो इनकी छाप या मोहर ही लग गई है। प्रथम, हिन्दी-गद्य-शैली का निर्धारण और उसका संस्करण, द्वितीय, हिन्दी नाटक का आविष्करण और सामयिक प्रोत्साहन; तृतीय, हिन्दी भाषा की कवित्व-शक्ति का प्रदर्शन और अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन। हमारी समझ से श्री कालीकुमार जी से भारतेन्दु की साहित्यिक विशेषताओं का एक मुख्य तत्त्व छूट गया है और वह है उनका एकनिष्ठ राष्ट्र-प्रेम। जो काम भूषण की वीर-रस की कविता न कर सकी, उस काम को भारतेन्दु ने किया। वस्तुत चन्द, भूषण, सूदन आदि की सरस्वती भारतेन्दु की प्रतीक्षा कर रही थी। राष्ट्रीयता भारतेन्दु के साहित्यिक व्यक्तित्व का एक ऐसा अमूल्य और असाधारण गुण है; जो उनकी कृतियों में दूध और पानी की तरह समाहित है। जो व्यक्ति अपनी भक्ति की गंगा में भी राष्ट्र-प्रेम की यमुना का पानी मिला सकता है, उसकी राष्ट्रीयता का कोई ओर-छोर नहीं हो सकता। सूर और तुलसी की भक्ति-पद्धति के विपरीत भारतेन्दु ने अपने विनय के पदों में अपनी मुक्ति की कामना प्रकट नहीं की, वरन् डूबते हुए भारत के उद्धार के लिए 'केशव' को गहरी नींद से जगाना चाहा है। उन्होंने प्रार्थना की है:

> **डूबत भारत नाथ वेगि, जागो अब जागो।**
> **आलस-दव एहि दहन हेतु चहुँ दिसि सो लागो॥**

भारतेन्दु के राष्ट्र-प्रेम की यह 'तन्मयता' आगे चलकर, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, भारतीय आत्मा, दिनकर-जैसे महाकवियों की कृतियों में देखने मिली। इस पर भी, यदि डॉ० श्यामसुन्दरदास-जैसे विद्वान् आलोचक को भारतेंदु की राष्ट्रीयता में 'तन्मयता' का अभाव खटकता है तो इसे हम उनकी व्यक्तिगत धारणा ही कहेंगे। कुछ लोगों को उनके साहित्य में राज-भक्ति और देश-भक्ति की असंगति का अनुभव होता है। यह असंगति अकारण नहीं है। इस पर मैं अन्यत्र लिखूँगा। यहाँ संक्षेप में यह जान लेना चाहिए की भारतेन्दु अपने युग के प्रतिनिधि लेखक थे। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को राष्ट्र के व्यक्तित्व में से सम्पूर्णतः मिला दिया था। वे राष्ट्र की आत्मा के रूप में ही अपने साहित्य में अवतरित हुए थे। इस तरह हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु अपने युग के महान् युग-पुरुष थे और थे हिन्दी-साहित्य के साहित्य-देवता, पथ-प्रदर्शक, एक नई परम्परा के जन्मदाता। एक अंग्रेज महाशय श्री डिनिन ग्रीव्स ने ठीक ही कहा है कि "हिन्दी-साहित्य के विकास पर भारतेन्दु का कितना प्रभाव पड़ा है और हिन्दी-गद्य के लेखक होने से उसके इतिहास में इनका ठीक कहाँ स्थान होगा, इसका ठीक-ठीक निश्चय करना कठिन है।"

: ८ :

भारतेन्दु की समन्वय-साधना

युग की आवश्यकताएँ महापुरुषों, महाकवियों और दार्शनिकों को जन्म देती आई हैं। विशेषतः उनका जन्म किसी भी देश के संक्रांति-काल में होता है। भारतेन्दु का जन्म भी भारतीय इतिहास के संधि-काल में हुआ था जब देश पर अंग्रेजों का शासन काफी दृढ़ हो चुका था। संधि-काल संकट-काल का पर्यायवाची होता है। इस काल में नये और पुराने विचारों में टकराहट होती है। देश के इतिहास में नये विचारों का आविर्भाव या तो शासन-सत्ता के बदल जाने पर होता है या किसी महापुरुष के जन्म लेने पर। सन् १८६७ ई० में जब भारतेन्दु ने अपनी कलम सँभाली तब तक अंग्रेजों का शासन दृढ़तापूर्वक चल चुका था। भारतीय इतिहास की १८वीं शताब्दी भारतीयों के लिए नवजागरण का संदेश लेकर आई। देश के कोने-कोने में विदेशी सत्ता से भारतीय समाज की रक्षा के लिए क्रांतिकारी विचारों की लहर फैलने लगी। एक ओर जहाँ दक्षिण में डॉ० भंडारकर और रानाडे-जैसे महापुरुषों ने बम्बई में 'प्रार्थना-समाज' की स्थापना करके भारत को पश्चिमी नास्तिकता और पाखंड से बचाने का प्रयत्न किया, वहाँ दूसरी ओर बंगाल में राजा राममोहन राय ने 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना करके बंगाल की भोली-भाली जनता को गिरजा-घरों के रखवाले पादरियों से दीक्षित होने से बचाया। एक ओर जहाँ पश्चिमी भारत में स्वामी दयानंद ने जनता की बहुत बड़ी संख्या को इस्लाम ग्रहण करने से रोका तो दूसरी ओर महाराष्ट्र में भगवान् तिलक ने तत्कालीन जनता की नस-नस में भगवान् श्री कृष्ण की गीता के उपदेशों को प्रविष्ट किया। देश की इसी संकटकालीन परिस्थिति में जब कि चारों ओर से भारतीय समाज पर ईसाई और इस्लाम का प्रहार हो रहा था और भारतीय संस्कृति खतरे में पड़ी थी, भारतेन्दु का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने उपर्युक्त महापुरुषों से भिन्न पथ प्रशस्त किया। इनका जन्म हिंदी-प्रदेश की काशी नगरी में हुआ था। यह एक स्मरणीय बात है कि हिंदी-प्रदेश के हवा-पानी में कुछ ऐसा असर है कि अहिंदी-वाले प्रान्तों की अपेक्षा हिंदी-प्रांतों की ऐतिहासिक तथा सामाजिक समस्याएँ अपनी होती हैं। इस भू-भाग में जन्म लेने वाले महापुरुषों, महाकवियों और दार्शनिकों की चेतना उग्र न होकर उदार रही है। इनकी समन्वयशील बुद्धि समाज या देश में दो विरोधी विचारों में सामंजस्य लाने का प्रयत्न करती रही है। महावीर और बुद्ध से लेकर प्रसाद तक सभी दार्शनिकों तथा

महाकवियों ने मानव-हृदय को परिष्कृत करने की चेष्टा की है। सतह का सुधार करने की अपेक्षा इन्होंने जड़ का ही उन्मूलन कर देना चाहा है। हिंदी-प्रदेश में जन्म लेने के कारण भारतेंदु की धर्म-चेतना में हम दो विचारों का समन्वय पाते हैं। यदि वे महान् और अविस्मरणीय हैं तो इसलिए कि वे अपनी समन्वय-दृष्टि से तत्कालीन देश और समाज की सही समस्याओं को अच्छी तरह समझने में समर्थ हुए थे। उस समय हमारा देश बहुविध समस्याओं से घिरा था। उसकी समस्या सामाजिक ही नहीं, राष्ट्रीय भी थी, धार्मिक ही नहीं, साहित्यिक भी थी, आर्थिक ही नहीं, सांस्कृतिक भी थी। भारतेन्दु ने इन विविध समस्याओं का अध्ययन बड़े निकट से किया था। इसी निकट अनुशीलन का परिणाम उनका विविध दृष्टिकोणी साहित्य है।

भारतेन्दु ने अपनी समन्वय-साधना के बल पर यह कहावत सिद्ध कर दी है कि 'साँप भी मरे और लाठी भी न टूटे'। साँप को मारने में लाठी का न टूटना इस कथन में एक भयंकर असंगति है। महापुरुषों के कार्यों में असंगतियाँ होती ही हैं; क्योंकि वह समन्वयशील होते हैं। भारतेन्दु की साहित्य-साधना की भी कुछ असंगतियाँ हैं, जो कुछ लोगों को बहुत अधिक खटकती हैं। उनकी राज-भक्ति और देश-भक्ति साथ-साथ चली है। क्या यह भयानक असंगति नहीं है? इस असंगति के कारण की खोज करनी होगी। आखिर भारतेन्दु के व्यक्तित्व में यह दुहरापन क्यों है? जहाँ एक ओर वे सूर और तुलसी की परम्परा में चलते दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर वे बिहारी और पद्माकर की पंक्ति में बैठे हैं। उनमें यह दुहरा व्यक्तित्व क्यों है? ऊपर कहा जा चुका है कि महापुरुषों के कार्य-कलापों में असंगति का होना स्वाभाविक है; क्योंकि वे समन्वयशील होते हैं और समन्वय संघर्ष का पथ न होकर समझौते का रास्ता होता है। और समझौता मध्यम मार्ग है। मध्यम मार्ग के अनुसरण कर्त्ताओं का जीवन संतुलित और संयमित होता है। उनमें प्राचीन और नवीन का अद्भुत सम्मिलन होता है। अतः समन्वय-साधना का उपासक वही हो सकता है जो समझौते, संयम और संतुलन में विश्वास करता है। भारतेन्दु बाबू में ये गुण सहज ही उपलब्ध हैं।

युग की परिस्थितियों और आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर महापुरुषों को अपने जीवन का सिद्धान्त स्थिर करना पड़ता है। भारतीय साहित्य के इतिहास में वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, तुलसी, प्रसाद इत्यादि जितने भी महाकवि हुए, उनकी अन्तः चेतना समन्वय-भावना से ओत-प्रोत है—उग्र और उदार भावों का अद्भुत समन्वय उनके साहित्य में हुआ है। किसी भी अवस्था में परम्परा को भुलाया नहीं जा सकता। उसीकी नींव पर आधुनिक जीवन की इमारत खड़ी की जाती है। भारतेन्दु भी इसी कवि-परम्परा के एक महाप्राण कवि थे; जिन्होंने अपने युग की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर साहित्यिक कृतियों की रचना की। उनका युग विरोधी विचारों का संघर्ष-काल था। लोग अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग अलाप रहे थे। देश में नवीन और प्राचीन शक्तियों के बीच खींच-तान

चल रही थी। हिन्दू और मुसलमानों का आपसी झगड़ा बहुत पहले से ही चला आ रहा था, अंग्रेजों के आने पर उनका संघर्ष अधिक कठोर रूप धारण करने लगा। हिन्दू और मुसलमान, दोनों ने अपने नेताओं को खो दिया था। देश की जीवन-नैया, बिना पतवार के, अंग्रेजों की कूटनीतिक धारा में डूब-उतरा रही थी। ऐसी अवस्था में 'कलियुग के कन्हैया' भारतेन्दु ने डूबते को सहारा दिया। देश की तत्कालीन जर्जर अवस्था में यदि किसी सोशलिस्ट या कम्युनिस्ट पार्टी (जो यूरोप में अपनी शिशु-अवस्था में थी) जैसी शक्तियों का जन्म हुआ होता तो निस्संदेह वे अंग्रेजों के पाद-प्रहार से कभी की ही समूल नष्ट हो गई होतीं। वैसी स्थिति में किसी भी उग्र विचार वाली पार्टी की आवश्यकता थी ही नहीं। देश की नाजुक हालत को समझकर ही भारतेन्दु ने समन्वय का रास्ता अपनाया था। ऐसी बात नहीं है कि उनमें उस जोश, उस गर्मी और क्रान्तिकारी विचारों का अभाव था, जो कई सौ वर्ष पहले कवि चन्द में वर्तमान थे। कवि चन्द का आविर्भाव भी भारतीय जीवन के संक्रान्ति-काल में हुआ था लेकिन अत्यधिक एकांगी हिन्दू-भावना के कारण, वह सागर में बुद्‌बुद् की तरह काल-सागर में सदा के लिए विलीन हो गया। कबीर भी संधिकालीन संत कवि थे। पर आज वे साधक का अमरत्व प्राप्त कर चुके हैं, क्योंकि उनमें समन्वय-शक्ति का अभाव न था। तुलसी भी समन्वयवादी थे। भूषण में समन्वय-भावना अवश्य थी, लेकिन उनकी अतिशय वीर-पूजा की भावना उन्हें खा गई। लगभग तीन सौ वर्षों के बाद भारतेन्दु ही एक ऐसे साहित्यकार हुए जिन्होंने देश की धड़कन को सुना और समझा। यदि भारतेन्दु के विचार, उनकी मान्यताएँ, धारणाएँ देश की परम्परा की विरोधिनी होतीं, उनकी दृष्टि केवल वर्तमान पर ही अटक कर रह जाती, अथवा साम्प्रदायिक संघर्ष में उलझकर रह गई होती तो निश्चय ही वे इतिहास के शव बन गए होते, और आज जो हम उनके नाम पर प्रति वर्ष जयन्तियाँ मनाते हैं, न मना पाते। 15950

भारतेन्दु की महानता का कारण उनकी समन्वय की साधना है। लक्ष्मी और सरस्वती से समन्वित जिस परिवार में उनका जन्म हुआ था वह उनकी विचार-धारा के पोषण में सहायक हुआ है। उनके साहित्य में यदि हिन्दी-साहित्य के विगत समस्त युग साकार हुए हैं तो इसका श्रेय उनकी समन्वय-भावना को है। उन्होंने अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार रीति-युग, वीर-गाथा-युग, भक्ति-युग की त्रिवेणी को आधुनिकता के सागर में तिरोहित होने दिया है। उनके साहित्य में भक्ति, शृंगार और देश-प्रेम का अद्‌भुत समन्वय हुआ है। साहित्य और जीवन का समन्वय भी उनकी पूर्व-निश्चित योजना का परिणाम है।

कुछ लोगों को भारतेन्दु की राज-भक्ति और देश-भक्ति में भयंकर असंगति के दर्शन होते हैं। ऊपर से देखने में यह सचमुच एक असंगति है। किन्तु उनकी यह असंगति भी युक्ति-संगत थी। सच तो यह है कि भारतेन्दु का साहित्य परिस्थितियों की प्रेरणा का पवित्र परिणाम है। भारतेन्दु का समन्वय युग की माँग था। डा० वार्ष्णेय ने भारतेन्दु-युग के साहित्यकारों की राज-भक्ति का उल्लेख करते

हुए उन्हें (लेखकों को) उत्तम वर्ग (Aristocratic class) और उच्च मध्य-वर्ग का बतलाया है। वार्ष्णेय जी की दृष्टि में उस युग के लेखकों की राज-भक्ति 'राजनीतिक भय' के कारण थी। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि भारतेन्दु में भी यह 'राजनीतिक भय' (अंग्रेजों का आतंक) होता तो उनकी कलम से इस तरह के व्यंग्य-बाण नहीं छूटते :

शस्त्र और मुद्रण विषय करी तिनहुँ को रोक।
बढ़ै ब्रिटिश वाणिज्य पै हमको केवल सोक॥

× × ×

भीतर-भीतर सब रस चूसैं।
हँसि-हँसि के तन मन धन मूसैं॥
जाहिर बातिन में अति तेज।
क्यों सखि साजन, ना अंग्रेज॥

'सर्वसु लिये जात अंग्रेज'-जैसी पंक्तियाँ यह सिद्ध करती हैं कि भारतेन्दु शासन-सत्ता के दंड-भय से चुपचाप हाथ-पर-हाथ धरे बैठे नहीं रहे। उन्होंने अंग्रेजों की झूठी प्रतिज्ञा (विक्टोरिया का घोषणा-पत्र) पर काफी व्यंग्य किया है। डॉ० रामविलास शर्मा का ठीक ही कहना है कि भारतेन्दु की राज-भक्ति का कारण झूठे वादे थे, लेकिन उस मरीचिका को भंग होने में देर न लगी थी।' भारतेन्दु की राष्ट्रीय रचनाओं के ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उनकी राज-भक्ति और देश-भक्ति दो भिन्न समयों की प्रेरणाओं की देन है। असंगति आंतरिक नहीं, बाह्य है।

भारतेन्दु की समन्वय-साधना उनके युग की माँग थी। काँग्रेस महासभा के जन्म लेने के पहले ही भारतेन्दु ने उदार दृष्टि अपनाकर देश की राजनीति, समाज, धर्म और साहित्य का अकेला नेतृत्व किया था और देश की गिरती हुई अवस्था में सुधार लाने का प्रयत्न किया था। यदि ऐसे युग-नेता और युग-पुरुष के नाम पर सड़कों के चौराहों पर, स्कूल और कालेजों में स्मारक बनाने और मूर्ति-निर्माण की योजना, स्वतंत्र भारत नहीं करता तो यह हमारे लिए बेशक शर्म की बात है।

: ६ :

नाटककार 'प्रसाद'

पूर्व-प्रसाद हिन्दी-नाट्य-साहित्य

प्रसाद का नाटक-रचना-काल सन् १९१० से आरंभ हुआ है। उनके नाटक-साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि सबसे पहले हम उनके पहले से आती हुई नाटक-साहित्य की परम्परा से परिचित हो लें। हिन्दी में नाटक लिखने की परम्परा देर से शुरू हुई। हिन्दी में नाटक-साहित्य के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही थे, जिन्होंने आधुनिक हिन्दी-साहित्य के अन्य अंगों का साज-शृंगार किया। भारतेन्दु ने अपनी प्रतिभा से नाटकों का श्रीगणेश तो कर दिया, लेकिन अल्पायु में मृत्यु हो जाने के कारण वे साहित्य के इस अंग को पुष्ट नहीं कर सके थे। उनके बाद, हिन्दी-नाटक-साहित्य में कोई दूसरा प्रतिभाशाली नाटककार नहीं हुआ, जो भारतेन्दु की परम्परा को जारी रखता। इसीलिए उनकी मृत्यु के बाद हिन्दी में मौलिक नाटकों की रचना, एक तरह से वन्द हो गई। हिन्दी-नाटक-साहित्य के इस ह्रासकालीन युग में बंगला का नाट्य-साहित्य अपने उत्थान-काल में पहुँच चुका था। अंग्रेजी साहित्य के अधिक निकट सम्पर्क में रहने के कारण वंगला-नाट्य-साहित्य की अच्छी प्रगति हो रही थी। आधुनिक भारतीय नाट्य-साहित्य को अंग्रेजी-नाट्य-साहित्य से वहुत अधिक प्रेरणा मिली है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क-सम्बन्ध का ही परिणाम था कि हमारे देश में लेखकों की नाट्य-चेतना जगी और नाटकीय सिद्धान्तों तथा पाश्चात्य नाट्य-शैली के सम्मिलित माप-दंड को आधार वनाकर वे मौलिक नाटकों की रचना करने में प्रवृत्त हुए। उन दिनों वंगला-नाट्य-साहित्य में श्रीयुत् द्विजेन्द्रलाल राय और श्री गिरीशचन्द्र घोष के नाटकों की अच्छी धूम थी। हिन्दी के लेखकों को इन नाटककारों ने काफी प्रभावित किया है। इनके नाटकों का हिन्दी-अनुवाद होने लगा। भारतेन्दु-युग के बाद द्विवेदी युग में संस्कृत, वंगला और अंग्रेजी नाटकों का अत्यधिक हिन्दी-अनुवाद हुआ। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी का द्विवेदी-युग नाटक-साहित्य का अनुवाद-काल था। इस युग में हिन्दी-नाटकों का मौलिक साहित्य वहुत कम लिखा गया। उस समय के हिन्दी-पाठक वंगला-नाटकों का अध्ययन करके अपना मनोरंजन किया करते थे। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) तक हिन्दी-नाटक-साहित्य

की यही अवस्था बनी रही। हिन्दी-अनुवादकों में श्री रामचन्द्र वर्मा, गोपालराम गहमरी, रूपनारायण पांडेय, लाला सीताराम, पुरोहित गोपीनाथ के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) तक हिन्दी-नाटक-साहित्य की दुरवस्था में न तो कोई सुधार हो सका और न किसी प्रतिभाशाली नाटककार के ही दर्शन हुए। ऐसी बात नहीं थी कि नाटकों का लिखना या खेलना बिलकुल बंद था। हिन्दी-साहित्य में प्रसाद जी के आगमन से पूर्व हिन्दी-प्रदेशों में दो प्रकार के नाटकों की परम्परा, १९वीं शताब्दी से ही चली आ रही थी—भारतेन्दु के युग के पहले से ही। पहले प्रकार के नाटक वे थे जो पारसी-रंगमंच के लिए लिखे जाते थे, जो बहुत सस्ते और हल्के होते थे, और दूसरे प्रकार के नाटक वे थे, जिनकी परम्परा भारतेन्दु से शुरू हुई थी। समय के प्रवाह में दोनों बिना पतवार की नाव की तरह बहते चले जा रहे थे। उन पर रोक-थाम करने वाला कोई नहीं था। दोनों के सिद्धान्त नेता नाटककार के अभाव में अस्त-व्यस्त और निराधार थे। भारतेन्दु-स्कूल के नाटककारों के पास रंगमंच नहीं था, साहित्य था और पारसी-रंगमंच के लिखे जाने वाले नाटकों में कथा-विस्तार, अलौकिक घटनाओं का चमत्कार और सस्ती भावुकता अधिक होती थी, पर साहित्य का रस नहीं होता था। अतः वे नीरस होते थे। एक ओर यदि भारतेन्दु-स्कूल के नाटककार साहित्यिक नाटक लिखने में तल्लीन थे, तो दूसरी ओर पारसी नाटकों में भावों की शुष्कता और विचारों की हीनता थी। यदि एक की दृष्टि संस्कृत-नाट्य-शास्त्र में प्रतिपादित रस-सिद्धान्त के परिपालन की ओर लगी थी तो दूसरे का उद्देश्य अपढ़ और सर्वसाधारण जनता की सस्ती भावुकता को उभारकर पैसे कमाना था। इनमें गंदे मजाक और अश्लील गानों की भरमार होती थी। दोनों प्रकार के नाटक अपने-अपने उद्देश्यों के दो छोरों पर, एक-दूसरे से भिन्न खड़े थे।

हिन्दी-नाट्य-साहित्य को प्रसाद की देन

हिन्दी-नाटक-साहित्य के इसी ह्रासकालीन समय में श्रीयुत् जयशंकरप्रसाद का आविर्भाव हुआ। प्रसाद के नाटक उपर्युक्त दो प्रकार के नाटकों से सर्वथा भिन्न स्थान रखते थे। नाटक-संसार में प्रसादजी के आ जाने पर हिन्दी-नाटक-साहित्य में, नवयुग का प्रादुर्भाव हुआ। उनकी मान्यताएँ, धारणाएँ और विचार—सब अपने थे। उन्होंने किसी भी नये-पुराने नाटककार का अनुसरण अथवा अनुकरण नहीं किया। प्रो० गुलाबराय ने ठीक ही कहा है कि "प्रसाद स्वयं एक युग थे। उन्होंने हिन्दी-नाटकों में मौलिक क्रान्ति की। उनके नाटकों को पढ़कर लोग द्विजेन्द्रलाल राय और गिरीशचन्द्र घोष के नाटकों को भूल गए।"[१] प्रसाद के नाटकों से आधुनिक हिन्दी-नाटक-साहित्य उत्कर्ष की ही ओर उन्मुख हुआ। उनके सभी नाटक मौलिक हैं। उनमें किसी भी देशी-विदेशी नाटककार का अनुकरण नहीं हुआ है। वास्तव में उन्होंने पाश्चात्य और भारतीय

१. 'काव्य के रूप', पृ० ६६

नाट्य-शैलियों का समन्वय करके एक तीसरी शैली अपनाई है, जो मूलत: उनकी अपनी देन है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के बाद प्रसाद जी ही, हिन्दी-साहित्य में, दूसरे मौलिक तथा महान् नाटककार थे, जिन्होंने प्राचीन नाट्य-शास्त्र के नियमों की रक्षा करते हुए, अंग्रेजी और बंगला-नाटकों से प्रभावित होकर, अपने लिए सर्वथा नया मार्ग निर्मित किया। यद्यपि प्रसाद जी ने भारतेन्दु की नाट्य-परम्परा को ही विकास-पथ दिया है, तथापि अपनी समसामयिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार मौलिकता का भी समावेश किया है। प्रो० अग्रवाल का ठीक ही कहना है कि "प्रसाद की नाट्य-शैली प्राचीन और नवीन नाट्य-शैली की सम्मेलन-भूमि है। १९वीं शताब्दी के चतुर्थांश में जन्म लेने और २० वीं शताब्दी में कला-विकास होने के कारण उनकी रचनाओं और चरित्रों में १९वीं और २०वीं दोनों शताब्दियों के उपकरण दिखाई देते हैं।"[1] प्रसाद के व्यक्तित्व की इस सम्मेलन-भूमि की चर्चा करते हुए श्री रामनाथ 'सुमन' ने भी लिखा है कि "१९वीं शताब्दी ने उन्हें रोमांस के प्रति झुकाव, मस्ती, विलासितापूर्ण सरसता और झंझटों से यथासम्भव अलग रहकर सामान्य सुख के साथ जीवन बिताने के भाव प्रदान किए और २०वीं शताब्दी ने यौवन का प्रभाव, परिवर्तनोन्मुखी प्रवृत्ति, भारतीयता की ओर झुकाव, विदग्धता तथा अस्थिर वेदना का दान दिया।.........वे दो युगों के संयुक्त उपकरणों की उपज हैं।"[2] "१९ वीं और २०वीं शताब्दियों की मिश्रित सृष्टि होने के कारण उन्हें पुराने ढंग के वयोवृद्ध जन भी चाहते थे और नए आगे बढ़े हुए नवयुवक भी। इस तरह प्राचीन और नवीन के बीच वह (प्रसाद जी) एक प्रकार का 'समझौता' थे।"[3] वस्तुत: प्रसाद एक मौलिक चिन्तक थे। साहित्य के किसी भी क्षेत्र में वे किसी भी देशी-विदेशी लेखक के शिकार नहीं हुए। विश्व नाट्य-साहित्य से प्रभावित और प्रेरित होते हुए भी उन्होंने अपने नाटककार के स्वतंत्र व्यक्तित्व की पूरी रक्षा की।

प्रसाद के नाटक, पारसी नाटकों की तरह, अशिक्षित जन-साधारण के लिए नहीं लिखे गए हैं। उन्होंने स्वयं निवेदन किया है—"मेरी रचनाएँ तुलसीदत्त 'शैदा' या आगा हश्र की व्यावसायिक रचनाओं के साथ नहीं नापी-तोली जानी चाहिएँ। मैंने उन कम्पनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं जो चार परदे मँगनी माँग लाती हैं और अन्नी-अठन्नी के टिकट पर इक्के वाले, खोंचे वाले और दूकानदारों को बटोर-कर जगह-जगह प्रसन्न करती फिरती हैं। 'उत्तर रामचरित', 'शकुन्तला' और 'मुद्राराक्षस' नाटक कभी न ऐसे अभिनेताओं के द्वारा अभिनीत हो सकते और जन-साधारण में रसोद्रेक के कारण बन सकते। उनकी काव्य-शैली कुछ विशेषता चाहती है। यदि परिष्कृत बुद्धि के अभिनेता हों, सुरुचि-सम्पन्न सामाजिक दर्शक हों और पर्याप्त द्रव्य काम में लाए जायें तो ये नाटक अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।"

---

१. 'प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक,' पृ० १५

२. 'कवि प्रसाद की काव्य-साधना,' पृ० १९

३. वही, पृ० १८.

प्रसाद जी की इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन नाटकों की तरह उनका नाटक-साहित्य भी 'परिष्कृत बुद्धि' वाले सामाजिक दर्शकों के लिए लिखा गया है। वह जन-साधारण की सम्पत्ति नहीं है। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि उनके नाटक आज के नहीं, कल के हैं। उनके नाटक उस दिन की प्रतीक्षा में हैं जब भारतीय जनता पूरी तरह शिक्षित हो जायगी, उसकी 'बुद्धि' 'परिष्कृत' हो जायगी, तभी उनके नाटकों का आनन्द लिया जा सकेगा। इस छोटी-सी बात को न समझ सकने के कारण 'परिष्कृत बुद्धि' वाले आज के आलोचक भी यह कह देते हैं कि प्रसाद के नाटक क्लिष्ट हैं, कठोर हैं तथा अनभिनेय हैं।

प्रसाद के नाटक उन्हीं नाटकों की श्रेणी में आते हैं जो अपनी कविता के कारण बहुत अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। विश्व-नाट्य-साहित्य में शेक्सपियर, कालिदास, गेटे आदि का आज जो मान-सम्मान है, इसका कारण उनके नाटकों में आए हुए पद्यांश हैं। उनका सम्मान इसलिए नहीं हुआ कि वे रंगमंच पर सफलतापूर्वक खेले जा सकते हैं, वरन् इसलिए कि युग-युग से लोग उनकी कविता पढ़ते और आनन्द-लाभ करते आए हैं। इसलिए, आधुनिक रोमाण्टिक युग में, यौवन और प्रणय के कवि प्रसाद ने साहित्य के अन्य अंगों के साथ नाटक को भी व्यक्त करने का माध्यम बना लिया था। कला की दृष्टि से उनके नाटक अद्वितीय हैं।[1]

भारतेन्दु संस्कृत-नाट्य-शैली और पाश्चात्य-नाट्य-शैली में सामंजस्य लाना चाहते थे, लेकिन इसमें उन्हें पूरी सफलता नहीं मिली थी। इस सामंजस्य का व्यावहारिक प्रयोग प्रसाद जी ने ही करके दिखलाया। इस सामंजस्य-चेष्टा में प्रसाद आरम्भ से अन्त तक लगे रहे। इसीसे उनके नाटकों में कला के क्रम-विकास की रेखाएँ अधिक स्पष्ट होकर आई हैं। और इसीलिए उनके प्रथम नाटक 'सज्जन' और अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' की नाट्य-कला में गहरा अन्तर दिखाई पड़ता है। 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद की नाट्य-कला का चरमोत्कर्ष है।

प्रसाद एकांत साधक थे। जिस युग में रहकर उन्होंने अपनी साहित्य-साधना की वह युग के अनुकूल नहीं थी; क्योंकि वे अपने समय से बहुत आगे निकल आए थे, क्योंकि वे भविष्य द्रष्टा थे। प्रसाद के समस्त साहित्य में भविष्य की आहट सुनाई पड़ती है। श्री रायकृष्ण दास ने उनके नाटकों की चर्चा करते हुए ठीक ही कहा है कि उनके नाटक आज के नहीं, कल के हैं। यह बात उनके साहित्य के सभी अंगों पर लागू होती है। प्रसाद सभा-समितियों में भाग लेने से इसीलिए भागते रहे, क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे कि उनकी बातें लोगों को पसन्द नहीं आयेंगी। वास्तव में प्रसाद का युग आने वाला है, अभी आया नहीं है। प्रसाद-साहित्य के इस रहस्य को न समझ सकने के कारण कुछ लोग उन्हें पलायनवादी, प्रतिक्रियावादी लेखक तक कह देते हैं।

प्रसाद सर्वप्रथम एक कुशल कवि थे, फिर और कुछ। कवित्व की मधुरिमा उनके साहित्य के सभी अंगों में बिखरी है। उनके नाटकों का बहुत बड़ा भाग

---

१. 'आधुनिक कवियों की काव्य-साधना', पृ० ९१.

'कविता' के मधु से 'वेष्टित' है। कवित्व की प्रधानता के कारण उसकी काव्य-सुषमा सर्वत्र निखरकर बिखर गई है। इसलिए उनके नाटकों में भी उनका कवि रूप साकार हुआ है। खेद है कि प्रसाद ने हिंदी में जिस नाट्य-परम्परा को जन्म दिया उसकी संतोषजनक प्रगति न हो सकी। हिंदी में उनकी टक्कर का दूसरा नाटककार आज तक पैदा नहीं हुआ। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि प्रसाद ही आधुनिक हिंदी-नाटक-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं।

मूल प्रेरणा

प्रसाद भारतीय संस्कृति और सभ्यता के अनन्य पुजारी थे। यह निश्चय के साथ कहना कठिन है कि उन्हें नाटक लिखने की प्रेरणा किन-किन स्रोतों से मिली, लेकिन इतना तो अवश्य कहा जायगा कि उनके समस्त नाटकों की पट-भूमि पर भारतीय संस्कृति और सभ्यता को खड़ा किया गया है। आत्म-गौरव, आत्म-निषेध और विश्व-प्रेम—भारत की उच्च संस्कृति की महान् विभूतियाँ हैं, जिनका समावेश प्रसाद जी के नाटकों में हुआ है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "प्रसाद के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है। आर्य संस्कृति में उन्हें गहन आस्था थी, इसीलिए उनके नाटकों में भारत के इतिहास का प्रायः वही परिच्छेद (चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर हर्ष तक) है, जिसमें उनकी संस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी······ आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होंने देखा और कहा था, यह जहर उनके प्राणों में तीखी जिज्ञासा बनकर समा गया था—उनकी आत्मा जैसे आलोकित हो उठी हो। इस आलोड़न को दबाते हुए, आग्रह के साथ आनन्द की उपासना करना ही उनके आदर्श की व्याख्या करता है—और यही उनके साहित्य की मूल चेतना है।"[1]

प्रसाद जी का जन्म और विकास, कार्य-कुशल और व्यवहारशील अंग्रेजों के शासन-काल में हुआ था, जिनके वाह्याडम्बर पर मुग्ध होकर अँग्रेजी पढ़ने-लिखने वाले बाबू अपने देश की सभ्यता, संस्कृति और साहित्य के आदर्शों को बिना समझे-बूझे बुरी दृष्टि से देखते थे। यह भारत के लिए भीषण आत्मघात की तैयारी थी। भारतीय इतिहास के इसी सांस्कृतिक ह्रासकालीन युग में प्रसाद जी ने हिमालय के उत्तुंग शिखर पर खड़े होकर एक ऐतिहासिक पर सांस्कृतिक प्रश्न पूछा—'भारतीयो, तुम्हारी सभ्यता की जड़ कहाँ है?' इस प्रश्न के उत्तर में जो-कुछ जवाब मिलेगा वह उनका नाट्य-साहित्य होगा। अपने नाटक 'विशाख' की भूमिका में नाट्य-साहित्य की मूल प्रेरणा का स्पष्टीकरण उन्होंने इस तरह किया है: "इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभ-दायक होता है; क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए, हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श अनुकूल होगा कि नहीं, इसमें पूर्ण सन्देह है। + + + मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंशों में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की

१. 'आधुनिक हिन्दी नाटक', पृ० ७-८।

है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत-कुछ प्रयत्न किया है।"[1]

इन पंक्तियों के आलोक में यह कहा जायगा कि प्रसाद ने अपने नाटकों में जिन युगों को साकार करने का प्रयत्न किया है, वह महाभारत-युद्ध के बाद से लेकर हर्षवर्द्धन के राज्य-काल तक के हैं। भारतीय इतिहास में इस काल को 'स्वर्ण-युग' कहा गया है। प्रसाद के इस संस्कृति-प्रेम पर व्यंग्य के छींटे उँडेलते हुए प्रेमचन्द ने एक बार कहा था कि प्रसाद जी ने अपने नाटकों में गड़े मुर्दे उखाड़े हैं। सच तो यह है कि प्रसाद जी ने प्राचीन भारतीय आख्यान के पुराने कलेवर में नूतन प्राणों का संचार किया है, पुरानी बोतलों में नई तरह की शराब भरी है। जिसके नशे में भावना, कामना और साधना का अद्भुत सामंजस्य हुआ है। प्रसाद न तो पलायनवादी थे, और न प्रतिक्रियावादी। अतीत और वर्तमान को मिलाकर उन्होंने भविष्य की कल्पना की है। इसीलिए वे बहुत बड़े जीवन-द्रष्टा भी थे। उनके आनन्दवादी दर्शन की नियोजना नाटक-साहित्य में भी हुई है। उनके साहित्यकार का एक ही लक्ष्य है :

प्रेम-प्रचार रहे जगती-तल, दयादान बरसे।
मिटे कलह शुभ-शांति प्रकट हो, अचर और चर से॥[2]

प्रसाद के नाटकों का शरीर तो पुराना है, पर भाव आज के हैं; अनुभूति तो पुरानी है, पर विचार आज के हैं। प्रसाद के नाटक-निर्माण का कार्य सन् १९१० से, 'सज्जन' के साथ, आरम्भ हुआ, जो उसी वर्ष 'इन्दु' पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इसमें महाभारत की घटना का वर्णन किया गया है। जब ज्ञात वनवास-काल में युधिष्ठिर आदि पांडव द्वैत वन में निवास कर रहे थे तब दुर्योधन ने उनके एकाकीपन को लक्ष्य करके अहेर के बहाने ससैन्य जाकर उन्हें नष्ट करने का निश्चय किया। द्वैत वन के सरोवर पर गंधर्वराज चित्रसेन से कौरवों का युद्ध हुआ, जिसमें सभी कौरव पकड़े गए। यह सुनकर युधिष्ठिर की आज्ञा से अर्जुन ने उन्हें गंधर्वों से छुड़ाया, और युधिष्ठिर ने अपने प्रति किये गए दुर्योधन के कुव्यवहारों का ध्यान न करके उसे विदा कर दिया। इसी कथा के आधार पर 'सज्जन' नाटक लिखा गया है।

'सज्जन' के बाद सन् '१२ से सन् '१५ तक क्रमशः प्रति वर्ष प्रसाद के नाटक उसी 'इन्दु' में प्रकाशित हुए— 'करुणालय', 'प्रायश्चित्त' और 'राज्यश्री'। इनके बाद नाटककार ने सात वर्षों तक नाटक लिखने से अवकाश ले लिया। सन् २१ में प्रसाद जी का पाँचवाँ नाटक 'विशाख' प्रकाशित हुआ। इस नाटक में प्रसाद ने प्रथम-प्रथम अपने लिए कुछ नाट्य-सिद्धांत स्थिर किये और ऐतिहासिक नाटकों के उद्देश्यों को स्पष्ट किया। उनकी प्रौढ़ रचनाएँ ऐतिहासिक नाटक ही हैं, जिनमें भारतीय इतिहास की उन्हीं 'अप्रकाशित प्रकांड घटनाओं' का वर्णन किया गया है, जो वर्तमान समस्याओं का समाधान निकालने में सहायक हो सकती हैं। 'विशाख'

१. 'विशाख' की भूमिका।
२. राज्यश्री।

के बाद उन्होंने 'अजातशत्रु' लिखा। इसके बाद तीन वर्षों तक फिर विश्राम लिया गया। फिर सन् '२६, '२७ और, '२८ में क्रमशः तीन नाटक—'जनमेजय का नाग-यज्ञ', 'कामना', 'स्कन्दगुप्त' प्रकाशित हुए। इनके बाद उनके तीन प्रौढ़ नाटक—'एक घूँट', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' प्रकाशित हुए। इस तरह प्रसाद का नाटक-रचना-काल सन् '१० से आरंभ होकर सन् '३३ में समाप्त हो जाता है। इसके बाद वे अपने कवि-जीवन की अन्तिम साधना—'कामायनी' में अन्तर्लीन हो गए, जो उनके साहित्यिक जीवन की पूर्णाहुति है। प्रकाशन-तिथियों के अनुसार प्रसाद के नाटकों की तालिका इस प्रकार है—

१. सज्जन—१९१०-११ ई०
२. करुणालय—१९१२ ई०
३. प्रायश्चित्त—१९१४ ई०
४. राज्यश्री—१९१५ ई०
५. विशाख—१९२१ ई०
६. अजातशत्रु—१९२२ ई०
७. जनमेजय का नागयज्ञ—१९२६ ई०
८. कामना—१९२७ ई०
९. स्कन्दगुप्त—१९२८ ई०
१०. एक घूँट—१९३० ई०
११. चन्द्रगुप्त—१९३१ ई०
१२. ध्रुवस्वामिनी—१९३३ ई०

प्रसाद के नाटकों के मूल तत्त्व

यहाँ प्रसाद के समस्त नाटकों की आलोचना तथा अनुशीलन प्रस्तुत करना, हमारा उद्देश्य नहीं है। यों तो उनके नाटकों में कला और विचारों का सूक्ष्म विकास होता गया है और उसकी रेखाएँ स्पष्ट दीख पड़ती हैं, लेकिन उनका नाटक-साहित्य जिन सामान्य मूल तत्त्वों और भाव-सामग्रियों को आधार-शिला बनाकर खड़ा हुआ है, उन्हीं तत्त्वों और भाव-सामग्रियों का विश्लेषण करना, यहाँ हमारा उद्देश्य है। समस्त नाटकों की भाव-भूमि तथा पृष्ठभूमि एक ही है। यद्यपि उनके प्रत्येक नाटक का उद्देश्य एक-दूसरे से प्राय: भिन्न है तथापि उनके सारे नाटकों का सन्देश एक ही होता है। नाटककार प्रसाद का सामान्य परिचय अथवा उनके नाट्य-साहित्य का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन विचार-सूत्रों को पकड़ने का प्रयत्न करें, जो उनके समस्त नाटकों में पिरोये हुए हैं। तभी हम उनकी नाट्य-चेतना का वास्तविक मूल्यांकन कर सकेंगे। प्रसाद की नाट्य-चेतना में निम्नलिखित तत्त्व सामान्य रूप से पाये जाते हैं—

(क) देश-प्रेम—प्रसाद भारतीय संस्कृति और सभ्यता के पुजारी थे। उनका देश-प्रेम उनके नाटकों का मुख्य अंग है। श्रीयुत् ब्रजरत्नदास के शब्दों में "प्रसाद जी का हृदय देश-प्रेम से भरा हुआ था पर वह कर्मशील न होकर मानवशील

ही अधिक थे। इसलिए देश-हितकर कार्यों में न हाथ बँटा सकने पर भी अपनी साहित्यिक रचनाओं ही से देश का जो उपकार कर सकते थे वही उन्होंने यथाशक्ति पूरी तौर से किया।"[१] स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त में प्रसाद का राष्ट्र-प्रेम अन्य नाटकों की अपेक्षा बहुत अधिक निखरा हुआ है। यद्यपि प्रसाद जी ने प्राचीन इतिहास को लेकर ही नाटक लिखे हैं, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने वर्तमान को एकदम भूल गए हैं। कहना तो चाहिए कि वर्तमान-भारत के सांस्कृतिक पतन की विभीषिका को देखकर ही वे प्राचीन की ओर गए। उन्होंने प्राचीन इतिहास को छेड़कर हमें दिखलाया कि हम भी किसी समय कुछ थे। इसी भारत रूपी दृढ़ राष्ट्र-दुर्ग से टकराकर तत्कालीन ज्ञात संसार के विजेताओं की प्रबल वाहिनियाँ छिन्न-भिन्न होकर उलटी लौट गई थीं। यही देश था, जहाँ वेदव्यास, जरत्कारु, गौतम आदि-से महात्मा, कालिदास-से अमर कवि, चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त-जैसे यशस्वी वीर उत्पन्न हुए थे।......उनके सभी नाटकों में देश-प्रेम ओत-प्रोत है। और वे अपने समय ही के हैं।

प्रसाद के देश-प्रेम में वर्तमान की झाँकी तो है ही, इसके साथ ही उनके देश की प्राचीन संस्कृति-पूजा भी है। प्रो० अर्गल के शब्दों में "प्रसाद का देश-प्रेम नाटक के केवल गीतों तक ही सीमित नहीं है, उसकी नाट्य-कला पर इस देश-प्रेम का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। भारतीय आदर्श स्थापित करने में वे जितने सफल हुए हैं उतना हिन्दी-संसार में कोई अन्य नहीं हुआ।"[२] यद्यपि 'राज्यश्री' में प्रसाद का राष्ट्र-प्रेम उतना अधिक उभरा नहीं है तथापि चीनी सुएन च्यांग के मुँह से, महाराज हर्षवर्धन के त्याग पर, भारतीय गौरव और संस्कृति की प्रशंसा कर दी गई है। सुएनच्यांग कहता है : 'यह भारत का देव-दुर्लभ दृश्य देखकर सम्राट् ! मुझे विश्वास हो गया कि यही अमिताभ की प्रसव-भूमि हो सकती है।' 'ध्रुवस्वामिनी' में भी नाटककार ने अपने देश-प्रेम के लिए कुछ अवसर निकाल ही लिए हैं। विदेशी आक्रमणकारी शकराज, जब विजित रामगुप्त से देश के स्थान पर गुप्तकाल की लक्ष्मी ध्रुवस्वामिनी की माँग करता है; तो वीर चन्द्रगुप्त अपने प्राणों को खतरे में डालकर देश और ध्रुवस्वामिनी दोनों की रक्षा करता है। प्रसाद अपने प्यारे देश को कहीं भी भूले नहीं हैं।

प्रो० राजेश्वरप्रसाद अर्गल ने अपनी पुस्तक 'प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक' में नाटककार प्रसाद के देश-प्रेम को संकुचित भावनापूर्ण कहा है, क्योंकि वे अपने देश के सामने दूसरे देश की प्रशंसा नहीं सुन सकते। इस तरह का आरोप निराधार है। यह समझ रखना चाहिए कि प्रसाद का राष्ट्र-प्रेम विश्व-प्रेम में बाधक नहीं है, बल्कि यों कहना चाहिए कि उनका देश-प्रेम विश्व-प्रेम का एक माध्यम है। जो नाटककार राज्यश्री के अन्त में विश्व-कल्याण और सुखी मानव-समाज के लिए भगवान् से प्रार्थना कर सकता है उसकी राष्ट्रीयता 'संकुचित भावनापूर्ण' नहीं

१. 'हिन्दी नाट्य-साहित्य', पृ० १५८
२. 'प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक', पृ० ३१

हो सकती। प्रो० केसरीकुमार ने अपनी पुस्तक 'प्रसाद और उनके नाटक' में ठीक ही कहा है कि "प्रसाद ने दुनिया की आँखों को भारतीय संस्कृति की पुनीत झाँकी दिखाई और उनकी राष्ट्रीयता ने वह रूप धारण किया जो विश्व-भावना का विरोधी नहीं है। 'राज्यश्री' में हर्ष और राज्यश्री ने लोक-सेवा और आत्म-त्याग का जो आदर्श उपस्थित किया है, उसे देखकर चीनी यात्री सुएनच्वांग ने वरदान माँगा था कि भारत से जो मैंने सीखा है वह जाकर अपने देश में सुनाऊँ।" ऊपर दिये गए विवचन से यह स्पष्ट है कि प्रसाद के नाट्य-साहित्य का मूल तत्त्व उनका देश-प्रेम है, जो मोती की तरह उनके समस्त नाटकों में बिखरा पड़ा है।

(ख) इतिहास-प्रेम—प्रसाद के नाट्य-साहित्य का दूसरा मुख्य तत्त्व उनका इतिहास-प्रेम है। उनके दो नाटकों—'कामना' और 'एक घूँट' को छोड़कर उनके सभी नाटक ऐतिहासिक कथा के आश्रित हैं। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "प्रसाद जी प्राचीन भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य पर मुग्ध थे। स्वभाव से चिंतनशील और कल्पना-प्रिय होने के कारण वे उसी युग में रहते थे। कोलाहल की अवनी तजकर जब वे भुलावे का आह्वान करते हुए विराम-स्थल की खोज करते होंगे, उस समय वह रंगीन अतीत उन्हें सचमुच बड़े वेग से आकर्षित करता होगा। इसलिए उनके नाटकों में पुनरुत्थान की प्रवृत्ति बड़ी सजग रहती है। 'कामना' का रूपक इसका मुखर साक्षी है। वे विदेशी छाया से आच्छादित भारतीय जीवन को फिर उसी स्वर्ग की ओर प्रेरित करने की बात सोचा करते थे। उन्होंने देखा कि हमारा वर्तमान ही नहीं, भूत इतिहास भी विदेशी प्रभाव की छाया में कठिन हो गया है अतः फिर से उसका सच्चा स्वरूप प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने भारतीय ग्रन्थों के ही आधार पर ऐतिहासिक अन्वेषण किये।"[1] प्रसाद साहित्यकार ही नहीं इतिहासकार भी थे। 'विशाख' नाटक की भूमिका में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि उनके नाट्य-साहित्य का मूलाधार प्राचीन इतिहास की पट-भूमि क्यों है। अपने नाटकों को ऐतिहासिक स्वरूप देकर उन्होंने दो कार्य सिद्ध किये हैं—प्रथम भारतीय संस्कृति का शुद्ध रूप हमारे वर्तमान पाठकों के सामने उपस्थित किया; द्वितीय, आधुनिक समस्याओं का समाधान पाने के लिए भी ऐतिहासिक अध्ययन की आवश्यकता मानी गई। इनके अतिरिक्त प्रसाद ने ऐतिहासिक छान-बीन भी की है। अतीत की टूटी लड़ियों को एकत्र करने का जो कार्य प्रसाद जी ने किया है, वह सराहनीय है। यौवन की मस्ती में मस्त इस नाटककार ने अपनी कल्पना और भाव-गरिमा से इतिहास के रूखे पृष्ठों में जीवन डाल दिया है। वे अतीत के चिह्न हमारे सामने नाचने लगते हैं। उन्होंने अपने नाटकों में बहुत-से ऐसे ऐतिहासिक अंशों की छान-बीन की है, जिनके बारे में इतिहासकार मौन थे। उन्होंने ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि इतनी आकर्षक की है, कि प्राचीन भारत का स्थान, सभ्यता, रहन-सहन आदि हमारी आँखों के सामने चित्रित हो उठते हैं।

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक उनकी प्रौढ़ रचनाएँ हैं। लेकिन प्रो० अर्गल-

१. 'आधुनिक हिंदी नाटक', पृ० ६।

जैसे आलोचकों को उनमें शिथिलता और दोष-ही-दोष देखने को मिलते हैं। उनका कहना है कि "यदि वे इतिहासकार के रूप में न आकर हमारे सामने कलाकार के रूप में आये होते तो संभव था कि नाटकों का रूप बहुत-कुछ बदला हुआ होता। तथा नाटकों की शिथिलता भी कम हो जाती। उन्हें इतिहास का इतना अधिक ज्ञान था कि वे अपनी कल्पना को स्वतंत्र गति से नहीं उड़ा सके।"[1] यह दूसरी बात है कि अपने ऐतिहासिक नाटकों में प्रसाद वस्तु-संकलन तो कर सके हैं पर उसका निर्वाह नहीं कर सके। लेकिन उनके नाट्य-साहित्य में उनका कलाकार भी उपस्थित है और इतिहासकार भी। कथा-वस्तु की उलझन 'चन्द्रगुप्त' और 'अजातशत्रु'-जैसे नाटकों में ही अधिक है। 'राज्यश्री', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि नाटकों में वस्तु-संकलन और वस्तु-संगठन का जितना सुन्दर और सफल निर्वाह हुआ है उतना अन्यत्र नहीं। प्रसाद के प्रत्येक नाटक की आधार-शिला प्राचीन इतिहास है। तत्कालीन इतिहास को समझे बिना उनका नाटक नहीं समझा जा सकता, क्योंकि उनका नाट्य-साहित्य ऐतिहासिक आधार लिये हुए होता है। प्रखर कल्पना और ऐतिहासिक सत्य का समुचित और संतुलित प्रयोग उनके नाटकों में हुआ है। इस कला में अभी तक हिन्दी का कोई भी दूसरा नाटककार उनकी समता नहीं कर सका है।

(ग) दर्शन-प्रेम—प्रसाद प्रधानतः एक कवि थे और उसके बाद नाटककार। विश्व के महाकवियों का स्वतंत्र चिन्तन-दर्शन होता है। प्रसाद भी एक मौलिक दार्शनिक थे। उनके साहित्य में एक नितान्त नूतन दर्शन की धारा बहाई गई है; जो न तो हिन्दी के प्राचीन साहित्य में देखने को मिली और न आधुनिक साहित्य में ही। उनका दर्शन, उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व और मौलिक चिन्तन का परिणाम है। उनके दार्शनिक का खुला रूप 'कामायनी' में प्रकट हुआ है। प्रसाद की चिन्ता-धारा उनके नाट्य-साहित्य में भी प्रवाहित हुई है। प्रसाद-साहित्य की समस्त चेतना ही एक दार्शनिक पृष्ठभूमि लिये खड़ा है। इसीलिए उनके साहित्य में दर्शन की ठोस भूमि पाई जाती है। उपनिषदों, बौद्ध-दर्शन और शैव-दर्शन के गहन अध्ययन ने उनके व्यक्तित्व को गंभीर बना दिया। इसी गंभीरता की छाया उनके नाटकों में भी देखी जाती है। इसी गंभीरता के कारण उनके नाटकों में हास्य का अभाव है। प्रसाद के दर्शन का वैभव; उनके प्रत्येक नाटक में बिखरा पड़ा है। यहाँ उनके दर्शन का विश्लेषण करना हमारा उद्देश्य नहीं है। लेकिन उसके सम्बन्ध में दो-चार बातें सामान्यतः जान लेनी चाहिएँ।

शैव-दर्शन का प्रभाव प्रसाद के मन-मस्तिष्क पर बहुत अधिक पड़ा था। शैवागमों में 'माया' के अनेक नाम बतलाये गए हैं। उनमें नियति भी एक है। यह जीव (मनुष्य) की स्वतन्त्र बुद्धि और शक्ति का तिरस्कार किया करती है। अंग्रेजी में जिसे हम Fate (भाग्य) कहते हैं, वह यह 'नियति' है। Men propores and god disposes वाली अंग्रेजी कहावत को चरितार्थ करने वाली यही नियति

---

१. 'प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक', पृ० ३५।

हैं। जीव की अभिलाषाओं का कोई अन्त नहीं है। वह अपनी सारी इच्छाओं को कार्य रूप में परिणत करना चाहता है। लेकिन नियति मानव-मन की इच्छाओं का विरोध करके कुछ दूसरा ही कार्य करा देती है। प्रसाद के समस्त नाटकों में इस नियति का बार-बार उल्लेख हुआ है। इसीलिए उनके आलोचकों ने उन्हें नियति-वादी कहा है। जीवन-संग्राम में जब उनके पात्र हारकर थक जाते हैं तब वे नियति की दुहाई देने लगते हैं। कर्म-च्युत होकर करुणा की शरण लेते हैं। 'राज्यश्री' का शान्तिदेव (विकटघोष) उसीकी उँगलियों पर नाच रहा है। जो रह-रहकर 'नियति' की पुकार करता है, 'अच्छा जो नियति करावे।' वह जीवन को कठोर कहता है और जीवन की कठोरता ही तो नियति है, 'इसकी आवश्यकता जो न करावे।' मनुष्य की लालसाओं की कोई सीमा नहीं है। 'राज्यश्री' के ग्रहवर्मा की अंतर्वाणी चीत्कार कर उठती है कि 'मनुष्य-हृदय का स्वभाव दुर्बल है! प्रवृत्तियाँ बड़ी-बड़ी राज्य-शक्तियों के सदृश इसे घेरे रहती हैं। अवसर मिला कि इस छोटे-से हृदय-राज्य को आत्म-सात् कर लेने को प्रस्तुत हो जाती हैं।' जीवन की अत्यधिक प्रवृत्तियाँ नियति की कठोरता बन जाती हैं। तभी दुःखों की अधिकता हो जाती है। इसलिए प्रसाद ने अपने नाटकों में जिस दर्शन की नियोजना की है उसमें सुख और दुःख दोनों को अनिवार्य रूप से ग्रहण किया गया है। यद्यपि उनके सभी नाटक सुखांत-जैसे मालूम होते हैं तथापि वे सुखान्त नहीं हैं। प्रो० शिलीमुख का ठीक कहना है कि "प्रसाद की सुखान्त भावना प्रायः वैराग्यपूर्ण शान्ति होती है।" प्रो० नगेन्द्र ने इसका कारण बतलाते हुए लिखा है कि "प्रसाद के जीवन की करुण जिज्ञासा, जो उनके प्राणों को सदैव विलोड़ित करती रहती थी—बौद्ध-इतिहास और दर्शन के मनन ने उसे और तीखा कर दिया था। उनके नाटकों में बौद्ध और आर्य-दर्शन का संघर्ष और समन्वय वास्तव में दुःखवाद और आनन्द-मार्ग का ही संघर्ष और समन्वय है, जो उनके अपने अन्तर की सबसे बड़ी समस्या थी। इसी समन्वय के प्रभाववश उनके नाटक न पूर्णतः सुखांत हैं और न दुःखान्त, उनमें सुख-दुःख-जैसे एक-दूसरे को छोड़ना नहीं चाहते—सुख आता भी है, परन्तु तुरन्त ही दुःख भी अपनी झलक दिखा ही जाता है।......इस प्रकार ये नाटक सुखांत अथवा दुःखांत न होकर प्रसादान्त हैं।"[१] इस तरह 'सुख-दुःख की आँख-मिचौनी' प्रसाद के दर्शन का मूलाधार है, जिसका दर्शन उनके प्रत्येक नाटक में होता है।

नियति की सत्ता और शक्ति को स्वीकार करते हुए भी प्रसाद के पात्र निश्चेष्ट और अकर्मण्य होकर उसके सामने आत्म-समर्पण नहीं करते, वरन् जीवन-संग्राम में अन्त तक लड़ते हैं; क्योंकि जीवन के द्वन्द्वों से छुट्टी पाना आसान नहीं है। अतएव, उनके पात्रों को पलायनवादी नहीं कहा जा सकता। 'राज्यश्री' में राज्यश्री जब दुःखों की चोट से घबराकर आत्म-हत्या करने पर तुल जाती है तभी एक महात्मा दिवाकर मित्र उसे सचेत करते हुए कहते हैं कि—'देवि, आत्महत्या या स्वेच्छा से मरने के लिए प्रस्तुत होना—भगवान् की अवज्ञा है। जिस प्रकार सुख

१. 'आधुनिक हिन्दी नाटक', पृ० ११-१२।

दुःख उनके दान हैं—उन्हें मनुष्य झेलता है, उसी प्रकार प्राण भी उसीके धरोहर हैं।" प्रसाद के जीवन-दर्शन का भी यही सारांश है। कठोर नियति के हाथों में गेंद की तरह उछल-कूद करने वाला यह मानव-जीवन भगवान् की धरोहर है। अतः उसके विनाश का अधिकार जीवन-धारण करने वाले मनुष्य को नहीं है। यह महाकवि प्रसाद का अमर सन्देश है जो उनके नाट्य-साहित्य में भी बोल उठा है। अतएव जीवन के संघर्षों तथा द्वन्द्वों से भयभीत होने के बदले सुख-दुःख में समन्वय स्थापित करना ही मनुष्य का अपना लक्ष्य होना चाहिए, तभी वास्तविक 'आनन्द' की प्राप्ति हो सकेगी। प्रसाद के दर्शन-प्रेम का सार इन पंक्तियों में संग्रहीत है :

मानव-जीवन वेदी पर परिणय हो विरह-मिलन का।
सुख-दुःख दोनों नाचेंगे, है खेल आंख का मन का॥

× × ×

लिपटे सोते थे मन में, सुख-दुःख दोनों ही ऐसे॥
चन्द्रिका-अँधेरी मिलती मालती-कुञ्ज में जैसे॥

× × ×

नित्य समरसता का अधिकार, उमड़ता कारण जलधि समान।
व्यथा से नीली लहरों बीच, बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान॥

इसी 'सरसता'—सामंजस्य का सफल निर्वाह प्रसाद के समस्त नाटकों में दिखलाया गया है—सुख-दुःख का समझौता हर्षवर्द्धन के उस कथन में कि हम राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास करें—नाटककार की सामंजस्य बुद्धि का परिचायक है। काषाय धारण करते हुए भी लोक-सेवा करना प्रसाद को इष्ट था। उनके जीवन-दर्शन की यही संक्षिप्त रूप-रेखा है, जिसके आधार पर उनके नाटकों का वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहिए। प्रसाद का दर्शन-प्रेम उसके जीवन का एक ऐसा अभिन्न अंग है, जिससे वे कभी अलग न हो सके। उनके नाटकों से इस दर्शन-तत्त्व को निकाल लेना उनकी आत्महत्या करना होगा। कथा-वस्तु की धारा में यह उसी तरह मिला है जिस तरह दूध से पानी मिला होता है।

(घ) काव्य-प्रेम—प्रसाद मूल रूप में कवि थे; इसलिए उनका काव्य-प्रेम भी उनके नाटकों में 'सौरभ-श्लथ-वासन्ती समीर' की भाँति संचरण कर रहा है। डॉ० नगेन्द्र ने प्रसाद के नाटकों को 'मधु से वेष्ठित' कहा है। वास्तव में उनका नाट्य-साहित्य काव्य का वैभवपूर्ण भण्डार है। उनकी काव्य-प्रतिभा नाटकों में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है। उनके गीत, वस्तु-चयन, चरित्र-चित्रण, वातावरण, कथोपकथन, सारभूत प्रभाव और भाषा—सभी जगह उनकी कविता का पराग बिखरा है, जिससे उनकी नाट्य-कला काफी रंगीन हो गई है। नाटकों में काव्य-प्रेम अधिक प्रगाढ़ होने के कारण प्रसाद का नाट्य-साहित्य जहाँ एक ओर काफी साहित्यिक हो गया है वहाँ दूसरी ओर सर्वसाधारण के लिए बोझिल और दुर्बोध भी। उनकी गंभीर चिन्तना और काव्य-प्रेम की अतिशयता ने उनके नाटकों को वर्तमान शिक्षित पाठकों तक ही सीमित कर दिया है लेकिन यह प्रयास श्रम-साध्य है। मैं

चता आया हूँ कि प्रसाद के नाटक आज के नहीं, कल के हैं। इस देश में शिक्षित व्यक्तियों की संख्या ही कितनी है, जो उनके नाटकों को हृदयंगम कर सकें। उन्होंने जिस नाट्य-साहित्य की परम्परा को जन्म दिया, वह हमारे देश के लिए 'नई नहीं है। संस्कृत-नाट्य-साहित्य तो काव्यमय है। हाँ, प्रसाद के नाटकों में काव्य में रमणीयता, अनुभूति की गहराई और कल्पना की प्रखरता जो पाई जाती है, वह अधिकांशतः गीतों के माध्यम से प्रकट हुई। उनके नाटकों में क्रमशः गीतों की संख्या बढ़ती ही गई है। 'राज्यश्री' और 'विशाख' में तो ये कुछ परिमित संख्या में दिखाई पड़ते हैं, लेकिन उनके बाद के नाटकों में, क्रमशः गीतों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई है। 'चन्द्रगुप्त' में लगभग सभी पात्र गाते हैं। राक्षस भी गाता है। कवि प्रसाद की काव्य-प्रियता उनके लम्बे गीतों में अभिव्यक्त हुई है। व्यावहारिक दृष्टि से ये गीत चाहे अनुपयुक्त मालूम हों, लेकिन काव्य की माधुरी और सुषमा इनमें भरी पड़ी है। उनकी कविता कल्पना के पंख लगाकर नई उड़ान भरने लगती है, जब जीवन-संग्राम से थका-हारा कोई चरित्र अपने हृदय की की मूक वेदना को प्रकट करने का प्रयत्न करने लगता है। 'राज्यश्री' की सुरमा इसी तरह के गीत गाती है :

आशा विकल हुई है मेरी,
प्यास बुझी न कभी मन की रे !
× × ×
ओ बे पीर पीर ! हूँ हारी,
जाने दे, हूँ मैं अघमारी,
सिसक रही घायल दुखियारी—
गाँठ भूल जीवन-धन की रे ! आशा......

(ङ) मानव-प्रेम—प्रसाद के नाटकों का पाँचवाँ मूल तत्त्व उनका मानव-प्रेम है। उनकी सांस्कृतिक चेतना में, विश्व-कल्याण और लोक-सेवा का भाव प्रमुख होकर आया है। उनके नाटकों की समस्या सामयिक नहीं, मानव-सभ्यता और संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली होती है। डॉ० सत्येन्द्र ने प्रसाद के नाटकों की समीक्षा करते हुए लिखा है कि "प्रसाद के सभी नाटकों में एक विशेषता मिलती है, वह विदग्ध-व्यग्रता है। सभी पात्रों में एक उत्तेजना व्याप्त है, एक हलचल और व्याकुलता है। प्रश्न यह होता है कि उनके पात्रों में यह 'विरह-विदग्धता' यह आकुलता और यह अशांति क्यों है ? प्रसाद विश्व-शांति के इच्छुक थे। उनके नाटकों में इसीकी खोज की गई है लेकिन विश्व में शान्ति स्थापित करने के मुख्यतः दो उपाय हैं—हिंसा और अहिंसा। 'राज्यश्री' का हर्षवर्धन अपने भाई राज्यवर्द्धन और बहनोई ग्रहवर्मा की हत्या का प्रतिशोध लेने के लिए लड़ाइयाँ लड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप बहुत बड़ी नर-हत्या होती है। राज्यश्री अपने भाई हर्ष को सावधान करती हुई कहती है—'भाई हर्ष, यह रत्न-जटित मुकुट तुम्हें भगवान् ने इसलिए नहीं दिया कि लाखों सिरों को तुम पैरों से ठुकराओ। मेरी शांति ढूँढ़कर तुमने उसे इतनी बड़ी नर-हत्या में पाया।' (अंक ३।३१४५) शांति देव (विकट

घोष) भी कहता है—'शान्ति को मैंने देखा है, कितने शवों में वह दिखाई पड़ी! शान्ति को मैंने देखा है, दरिद्रों के भीख माँगने में! मैं उस शान्ति को धिक्कारता हूँ।" जिस हर्षवर्द्धन ने अपने पराक्रम से दूसरों की संपत्ति ले ली थी, शस्त्र-बल से जो ऐश्वर्य छीन लिया था, वह उचित पात्रों को दे देता है और अन्त में कहता है—'हम राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास करें।' उसके सर्वस्व-त्याग पर चीनी यात्री को यह कहना पड़ा—"यह भारत का देव-दुर्लभ दृश्य देखकर सम्राट्! मुझे विश्वास हो गया कि यही अमिताभ की प्रसव-भूमि हो सकती है।" प्रसाद का मानव-प्रेम उनके समस्त नाटकों में मुखरित है।

यह प्रसाद के मानव-प्रेम का ही प्रसाद है कि उनके नाटक ऐतिहासिक होते हुए भी, कथानक-प्रधान न होकर चरित्र-प्रधान हैं। मानव-स्वभाव का जितना गहरा अध्ययन इनका है उतना हिंदी के किसी भी दूसरे लेखक का नहीं है। उन्होंने पुरुष पात्रों के तीन वर्ग किये हैं—प्रथम, जीवन के तत्त्वों को सुलझाने वाले—जैसे दण्डायन, दिवाकर मित्र, प्रेमानन्द आदि; द्वितीय, जीवन-संग्राम में जूझने वाले—अजातशत्रु, विरुद्धक, शांतिदेव आदि, और तृतीय राजनीतिज्ञ-देवगुप्त आदि। इसी तरह उन्होंने स्त्रियों के भी तीन वर्ग किये हैं—१—राजनीति की आग से खेलने वाली, २—जीवन-संग्राम में प्रेम की आहुति देने वाली, ३—दुर्बल नारियाँ।

: १० :

कविवर रामनरेश त्रिपाठी

श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठी हिन्दी के उस युग के कवि हैं जिसको इतिहासकार 'द्विवेदी युग' कहते हैं। उस युग के महाप्राण साहित्य-निर्माता श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी-कवियों का एक अच्छा-खासा समूह तैयार किया था। श्री 'हरिऔध', श्री मैथिलीशरणगुप्त, श्री रामचरित उपाध्याय, पं० लोचनप्रसाद पाडेय आदि कवि द्विवेदी-मंडल के कवि कहे जाते हैं; जिन्होंने अपनी कविताओं में द्विवेदीजी के आदेशों, आज्ञाओं और इच्छाओं का अक्षरशः पालन में किया। इसके विपरीत, उस युग में कुछ ऐसे भी कवि हुए जो इन कवियों से बिलकुल भिन्न प्रकृति के थे। इनकी रुचि स्वतन्त्र और काव्य-शैली उन्मुक्त थी। बंधन और सीमा के पर्दे को चीरकर इन कवियों ने काव्याकाश में स्वच्छंद उड़ान भरी। ऐसे कवियों में राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल, रामनरेश त्रिपाठी, लाला भगवानदीन 'दीन', रूपनारायण पांडेय के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सब कवियों में श्री रामनरेश त्रिपाठी ही सबसे अधिक स्वच्छंदतावादी कवि हैं। विद्वान् आलोचक आचार्य शुक्ल ने हिन्दी के इन स्वच्छंद कवियों को 'द्विवेदी-मंडल' से बाहर के कविगण कहा है, क्योंकि इनकी अपनी मौलिक प्रवृत्तियाँ थीं, अपनी शैली थी और अपनी भाषा थी। पुरानी परम्परा और बँधे-छँदे सिद्धान्तों की लीक पर चलने से इन कवियों ने इन्कार कर दिया था। द्विवेदी-युग में आचार्य के झूठे प्रसाद को लोग बड़े सम्मान और श्रद्धा के भाव से स्वीकार करते थे। लेकिन हिन्दी के इन स्वच्छंद कवियों को अपनी मेहनत से बनाई हुई रोटी ही अधिक पसन्द थी। वस्तुतः छायावाद के प्रहरी-कवि प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी आदि के हिन्दी-संसार में आने के पहले इन कवियों ने स्वच्छंदतावाद के पथ को प्रशस्त कर दिया था। इसीलिए डॉ० श्रीकृष्णलाल ने इन कवियों को स्वच्छंदतावाद के प्रथम उत्थान काल का जन्म-दाता कहा है। सच तो यह है कि त्रिपाठीजी-जैसे कवियों ने ही छायावाद की पृष्ठभूमि तैयार की थी।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "जिस स्वाभाविक स्वछंदता का आभास श्रीधर पाठक ने दिया था उसके पथ पर चलने वाले द्वितीय उत्थान में त्रिपाठीजी ही दिखाई पड़े।" त्रिपाठीजी वास्तव में, द्विवेदी-युग के सर्वश्रेष्ठ स्वच्छंदतावादी कवि थे। इनकी स्वच्छंदवादिता की धारा एकमुखी न होकर अनेक स्रोतों में बही है।

ऐसी बात नहीं है कि उन्होंने पुरातन के प्रेम को एक किनारे रख दिया है बल्कि चिर पुरातन और अभिनव वर्तमान दोनों का अद्भुत समन्वय उनकी रचनाओं में हुआ है। जहाँ द्विवेदी युग के अन्य कवियों ने प्राचीनता के प्रति अपनी अन्ध श्रद्धा की श्रद्धांजलि चढ़ाई है, वहाँ त्रिपाठीजी ने अपनी सजग बुद्धि से काम लिया है। उन्हें अन्ध भक्ति से विराग है और संगत विचारों से अनुराग। उन्होंने पुरातन के जर्जर सपनों से अपने साहित्य का शृंगार नहीं किया। वे स्वप्नवादी नहीं, जागरण-वादी हैं—प्रातःकाल जागरण। आँखों के सामने होने वाली प्रतिदिन की घटनाओं को ही ये जीवन का सत्य कहते हैं। उनकी कविता में न तो कल्पना का किल्लोल है, और न अतीत की पुकार। उसका आसन समसामयिक युग है, जिसमें कवि साँस लेता रहा है। त्रिपाठीजी के लिए भूत निष्प्राण है, भविष्य अनिश्चित और वर्तमान स्पष्ट है। उन्होंने मुखरित वर्तमान को ही अपने साहित्य का आधार बनाया है, अपने युग के मुखरित भारतवर्ष की ही जीती-जागती तस्वीर खींचने की सफल चेष्टा की है। यह उनकी बहुत बड़ी विशेषता है। हिंदी के प्राचीन कवियों ने अपने युग के 'वर्तमान' से मुँह मोड़ लिया था, रीति-कवि केवल अपने युग की 'वासना' को ही वाणी दे सके थे और भारतेन्दु बाबू देश की वर्तमान दुरवस्था पर ही अबाध आँसू बहाते रह गए थे। लेकिन द्विवेदी-युग के कवियों ने पहली बार देश की दासता के मूल कारणों को समझते हुए उसके लिए निदान ढूँढ़ने की सक्रिय चेष्टा की थी। फिर भी उनका मन 'शानदार अतीत' के सपनों में ही अधिक उलझा रहा, वर्तमान उनसे भी उपेक्षित बना रहा। हिंदी-साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम भारतेन्दु ने ही साहित्य में युग की प्रत्यक्ष तस्वीर खींचने का सफल प्रयास किया था। 'भारत जननी', 'भारत-दुर्दशा', 'अन्धेर नगरी' आदि उनके इसी प्रयास के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। त्रिपाठीजी का काव्य इसी परम्परा का पोषक है। उनकी कविता मन-मोदक नहीं है, वह तो कुनैन की गोली है, जिसके स्वाद से सारा शरीर झनझना जाता है। उन्होंने अपने युग के ऐतिहासिक सत्य की यथार्थ तस्वीर खींची है। उसकी वेदनाओं, क़शमकश, प्रश्नों आदि को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। सन् १९१० से १९२१ तक का भारत त्रिपाठीजी की रचनाओं में अच्छी तरह बोल उठा है।

त्रिपाठीजी महात्मा गांधी के अन्य उपासकों में से हैं। गांधीवाद के दार्शनिक सामाजिक और राजनैतिक सिद्धांतों को इस कवि ने सिर झुकाकर स्वीकार किया है। अतः त्रिपाठीजी एक गांधीवादी कवि हैं। अतएव उनकी समस्त रचनाओं में गांधी-वाद की मूल मान्यताएँ मुखरित हुई हैं। यदि यह कहा जाय कि त्रिपाठीजी की काव्य-रचनाओं में गांधीवाद की सुन्दर और समुचित अभिव्यक्ति हुई है तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस कवि के हृदय में देश-प्रेम की तीव्रता तभी जगी जब ये महात्मा गांधी के सम्पर्क में आए और जब महात्मा जी का प्रवेश भारत की राजनीति में हुआ था। त्रिपाठीजी का राष्ट्र-प्रेम गांधी जी की देन है। उनसे भाव और प्रेरणा ग्रहण करके कवि ने राष्ट्रीय रचनाओं की सृष्टि की है। उनकी समस्त रच-नाओं में राष्ट्रीयता उनकी कविता का मेरुदंड बन गई है। अतः राष्ट्र-प्रेम त्रिपाठी

जी की काव्य-कृतियों का मूलाधार हैं। वे जहाँ कहीं भी हों, अपने प्यारे देश को कभी नहीं भूलते। महात्मा गांधी के नेतृत्व में होने वाले भारतीय आन्दोलनों की स्पष्ट झलक इनकी समस्त काव्य-कृतियों में देखने को मिलती है। देश की आजादी की लड़ाई में देश में धन-जन की जितनी क्षति उठानी पड़ी, उसकी पूरी व्याख्या उनकी रचनाओं में की गई है। इसलिए मैं त्रिपाठीजी की काव्य-कृतियों को इतिहास का सत्य कहता हूँ; क्योंकि काव्य से अधिक उनका महत्त्व ऐतिहासिक है। यदि हम १९२१ के असहयोग-आन्दोलन की झाँकी लेना चाहें तो 'पथिक' का पढ़ना अनिवार्य होगा। इस कवि की प्रत्येक कृति में देश के स्वतंत्रता-संग्राम को मुँह खोलने का अवसर दिया गया है—वह इतिहासकार के स्वर में बोल उठा है। भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का इतना प्रत्यक्ष और जीता-जागता चित्र हिन्दी के किसी भी अन्य कवि ने नहीं दिया। इस क्षेत्र में त्रिपाठी जी अकेले हैं। शुक्ल जी के शब्दों में यह कहा जायगा कि स्वदेश-भक्ति की जो भावना भारतेन्दु के समय से चली आती थी, उसे सुन्दर कल्पना द्वारा रमणीय और आकर्षक रूप त्रिपाठी जी ने ही प्रदान किया। देश-भक्ति को रसात्मक रूप त्रिपाठी जी द्वारा प्राप्त हुआ, इसमें संदेह नहीं।'

द्विवेदी-युग के कवियों की एक विशेष प्रवृत्ति थी। वे आध्यात्मिक काव्य लिखना अधिक पसन्द करते थे। त्रिपाठी जी इस प्रवृत्ति से अछूते रहे। उन्होंने अपनी समस्त काव्य-कृतियों को खंड काव्य में बाँध दिया। उनका खंड काव्य भी उनकी स्वच्छंद मनोवृत्ति का परिचायक है। उन्होंने अपनी मौलिकता और स्वच्छंदवादिता का परिचय दिया। हिन्दी के प्राचीन खंड काव्यों का मूलाधार या तो पुराण होता था या इतिहास। इनकी कथाओं में इतिहास, पुराण और जनश्रुति की आधार-भूमि पर रंगीन चित्र चित्रित किये गए हैं। लेकिन इनके विपरीत त्रिपाठी जी ने अपने खंड-काव्यों—'स्वप्न', 'मिलन' और 'पथिक'—में उन्मुक्त कवि-कल्पना-प्रसूत आख्यान दिये हैं। इनकी कथाएँ न तो प्राचीन इतिहास से ली गई हैं और न पुराणों से ही; ये न तो जनश्रुति के आधार पर खंड काव्य की रचना करते हैं और न किसी अंधभक्ति-अन्धविश्वास से प्रेरित होकर ही। त्रिपाठी जी के खंड काव्यों का कथानक सम-सामयिक युग से सम्बन्ध रखता है। उनकी कथाओं का मूलाधार वर्तमान की धारा में बहता हुआ इतिहास होता है। लेकिन उनकी प्रक्रिया कल्पना-प्रसूत होती है। संक्षेप में यह कहा जायगा कि त्रिपाठी जी के काव्य का कथानक वर्तमान इतिहास का सत्य होता है। 'पथिक', 'मिलन', 'स्वप्न'—इन तीन खंड काव्यों में उन्होंने वर्तमान भारतीय इतिहास और स्वस्थ कल्पना का सुन्दर समन्वय किया है। कथानक के निर्माण में उन्होंने अपनी स्वच्छंद प्रकृति का परिचय दिया है। वस्तुतः त्रिपाठी जी का खंड काव्य वर्तमान हिन्दी-खंड-काव्य का आधुनिकतम संस्करण है। उनके खंड काव्य और प्राचीन खंड काव्य के स्वरूप में काफी अन्तर है। इस कवि ने खंड काव्य की शैली में भी कुछ परिवर्तन कर दिये हैं। प्राचीन खंड काव्य में 'सर्ग' के आरम्भ में किसी देवी-देवता की वन्दना करना,

आवश्यक समझा जाता था लेकिन त्रिपाठी जी ने इसकी आवश्यकता नहीं समझी है। हाँ प्राचीनों की तरह उन्होंने प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में प्रकृति-वर्णन अवश्य किया है। इनकी कृतियों में हम प्राचीन और नवीन का स्वस्थ और सुखद समन्वय पाते हैं। जो स्वच्छंदतावादी कवियों की एक मुख्य विशेषता है। हिन्दी के प्राचीन कवि ने देश-प्रेम को अपने काव्य का विषय नहीं बनाया था और इसीलिए प्राचीन खंड काव्यों में केवल रसों—शृंगार, वीर और शान्त रसों—का समावेश हो सका है। लेकिन त्रिपाठी जी ने अपने खंड काव्यों में नये और विविध विषयों को उन्मुक्त उड़ान भरने के लिए अनेक अवसर दिये हैं। इतना होते हुए भी अनके काव्य का एक ही विषय है—देश-प्रेम। इस क्षेत्र पर जितना त्रिपाठी का एकाधिकार है उतना श्री मैथिलीशरण गुप्त का भी नहीं है। यदि मैथिलीशरण की राष्ट्रीयता में सांकेतिकता और परोक्षता है तो त्रिपाठी जी की राष्ट्रीयता में प्रत्यक्षता, और स्पष्टता। उन्होंने अपने राष्ट्र-प्रेम को कथानक के आवरण से ढकने की चेष्टा कभी नहीं की। इसके अतिरिक्त, यदि मैथिलीशरण गुप्त में प्राचीनता के प्रति अत्यधिक ममता है तो त्रिपाठी जी में आधुनिकता के प्रति उत्साह और तल्लीनता। त्रिपाठी जी को निराधार सपनों से स्नेह नहीं है। वे वस्तुस्थिति से अधिक उलझना-सुलझना चाहते हैं। इसीलिए उनकी कृतियों में वर्तमान की राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं को ही अधिक खुलने दिया है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि त्रिपाठी जी की कृतियाँ वर्तमान जीवन की राजनीति से ही विशेष सम्बन्ध रखती हैं। नवीन, आकर्षक, मौलिक और अभिनव कथानक की उद्भावना करने में उन्हें आशातीत सफलता मिली है। आचार्य शुक्ल ने भी अपने इतिहास में लिखा है कि "त्रिपाठी जी की कल्पना ऐसे मर्म पथ पर चली है जिस पर मनुष्य-मात्र का हृदय स्वभावतः ढलता आया है। ऐतिहासिक या पौराणिक कथाओं के भीतर न बँधकर अपनी भावना के अनुकूल स्वच्छंद संचरण के लिए कवि ने नूतन कथा की उद्भावना की है।"

देश-प्रेम के अतिरिक्त, त्रिपाठी जी का प्रकृति-प्रेम भी उनके काव्य का एक प्रधान अंग है, जिसके बिना उनकी काव्य-कृतियाँ अधूरी हो जायँगी। उनके काव्य से यदि प्रकृति-वर्णनों को निकाल लिया जाय तो उसकी स्थिति वही हो जायगी जो धान के पौधे काट लेने के बाद खेतों की हो जाती है। प्रकृति-वर्णन के क्षेत्र में भी इस कवि ने अपनी स्वच्छंद-प्रियता का परिचय दिया है। प्राचीन कवियों और द्विवेदीयुगीन कवियों की तरह परम्परा-प्राप्त प्रकृति-वर्णन की रीति-नीति को त्रिपाठी जी ने नहीं अपनाया। उनकी समस्त काव्य-कलिकाएँ प्रकृति की रमणीक गोद में प्रस्फुटित हुई हैं। प्रकृति कवि के प्राणों की सहचरी है। कवि ने 'पथिक' तथा अन्य पुस्तकों में अपने अनन्य प्रकृति-प्रेम का परिचय दिया है। उनका प्रकृति-प्रेम प्रकृति के पुजारी पंत के प्रगाढ़ प्रेम से किसी भी तरह घट-कर नहीं है। पंत जी और त्रिपाठी जी के प्रकृति-प्रेम में यदि अन्तर है तो इस बात का कि पंत प्रकृति के केवल वाह्य सौंदर्य पर ही मुग्ध नहीं होते बल्कि उसके अन्तर

की भाव-ऊर्मियों को पा लेने की चेष्टा करते हैं, लेकिन त्रिपाठी जी उसके बाहरी रूप-रंग का वर्णन करके संतुष्ट हो जाते हैं। द्विवेदी युग में त्रिपाठी जी-जैसा प्रकृति-प्रेमी कवि दूसरा नहीं हुआ। सच तो यह है कि जिस स्वच्छंद प्रकृति-रूप का आभास भारतेन्दु-युगीन कवि श्रीधर पाठक दे गए थे, उसीका प्रकृत-विकास त्रिपाठी जी ने किया। प्रो० रामशंकर शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि "प्रकृति-चित्रण में त्रिपाठी जी अपनी ओर से कुछ भी नहीं मिलाते हैं। जो दृश्य जैसा है वैसा ही उसे अंकित कर देना उनकी विशेषता है।" प्रकृति के इस स्वच्छंद और स्वतंत्र तथा यथार्थ रूप का वर्णन करने में कवि को प्रशंसनीय सफलता मिली है। देश-प्रेम और प्रकृति-प्रेम त्रिपाठी जी की कविता-कामिनी के ऐसे आवश्यक आभूषण हैं जिनके अभाव में वह विधवा-जैसी शून्य और वीरान मालूम होगी।

त्रिपाठी जी का काव्य आधुनिक खड़ी बोली कविता का स्वाभाविक विकास है। द्विवेदी-युग के कुछ कवियों का यह विश्वास था कि खड़ी बोली कविता के लिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उसका 'खरापन' पाठकों के कान फाड़ डालता है। लेकिन सरस्वती के वरद पुत्रों ने अपनी साधना से यह सिद्ध कर दिया कि खड़ी बोली में 'व्रजभाषा' की कोमलता और माधुर्य तथा 'अवधी' की गम्भीरता लाई जा सकती है। इनमें मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, त्रिपाठी जी-जैसे चोटी के कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। त्रिपाठी जी की काव्य-भाषा स्वच्छता और सरलता के लिए काफी प्रसिद्ध हो चुकी है। इसमें भाषा की सरलता भी है और प्रवाह भी। भाषा को गम्भीर बनाने के लिए कवि ने संस्कृत के प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है। आधुनिक खड़ी बोली हिंदी-कविता की भाषा के संस्कारकों, निर्माताओं और विधाताओं में त्रिपाठी जी का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। उन्होंने अपनी कविता के लिए जिस भाषा को चुना वह साहित्यिकों की भाषा नहीं है, वह जन-साधारण की है, क्योंकि उन्हें अपने सर्वसाधारण पाठकों को ही गांधीवाद की अहिंसा-नीति आदि का संदेश देना था। इसलिए उनकी कविता में सरलता और प्रवाह है जो जन-भाषा की एक मुख्य विशेषता होती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि २० वीं शताब्दी के प्रथम दो चरणों के हिंदी-साहित्य-निर्माण में त्रिपाठी जी की भी अपनी देन है और वह भी हमारे प्रतिभा-सम्पन्न कवियों में एक सबल शक्ति हैं।

: ११ :

हिन्दी-काव्य में 'दिनकर'

"दिनकर इस बात के लिए सदा स्मरण किये जायँगे कि छायावाद से प्रगति-वाद के क्षेत्र में आने वाले कवियों में उन्होंने परिवर्तन की पुकार को सबसे शीघ्र सुना।" जिस तरह छायावाद का जन्म द्विवेदी-युग के गर्भ से हुआ, उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिवाद की सृष्टि भी छायावाद-युग की प्रतिक्रिया में हुई। हिन्दी-कविता के इस दिक्-परिवर्तन का आह्वान श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने प्रयाग से निकलने वाले पत्र 'रूपाभ' (१९३२ ई०) के द्वारा कर दिया था। काशी से प्रकाशित होने वाला प्रसिद्ध पत्र 'हंस' (१९३० ई०) भी प्रेमचन्द के स्वर-में-स्वर मिलाकर उस (प्रगतिवाद) का स्वागत पहले ही कर चुका था। दिनकर उन दिनों कालेज के विद्यार्थी थे। लेकिन हिन्दी-कविता में होने वाले इस उलट-फेर की आशंका और संभावना से वे अपने भावुक-युवक कवि को परिचित कराते जाते थे। युग की विचार-धारा और उसकी बदलती हुई परिस्थितियों के प्रति दिनकर सदैव जागरूक और सचेत रहे हैं। अतः ऐसा कहना उचित होगा कि दिनकर के कवि का निर्माण उनके समय की परिस्थितियों ने ही किया है। निर्धन परिवार में जन्म लेना, बचपन में पिता के प्यार से वंचित होना, किशोरावस्था में सांसारिक दायित्वों का असमय में आ जाना—ये उनके जीवन की कठोर परिस्थितियों के सूचक थे। इन्हीं बाह्य प्रेरणाओं ने दिनकर में आवेगशीलता भरी, स्वर में विद्रोह और प्राणों में हुंकार भरा। छायावाद-युग में जीवन की बाह्य प्रेरणाओं से प्रभावित होने वाले कवियों में 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, अंचल, नरेन्द्र, बच्चन, नेपाली इत्यादि के नाम भी लिये जाते हैं। इन कवियों में आवेग, उद्वेग और प्रवेग की प्रबलता है। आगे चलकर इन कवियों के भी दो वर्ग हो गए। एक वह वर्ग जिसने गांधीवाद की शरण ली और दूसरा वह वर्ग जिसने लाल रूस के लाल सिद्धांतों को सहर्ष स्वीकार किया। दिनकर पहले वर्ग के कवि हैं। प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी इस कवि को 'भारतीय काव्य-परम्परा के अनुगामी छायावादियों का सगोत्र'[१] कहा है। यद्यपि दिनकर गांधीवाद के सैद्धांतिक विश्वासों को अस्वीकार करते हैं, तथापि शुद्ध रूप से ये गांधीवादी भी नहीं हैं। कुछ बातों में इनका उससे मतभेद बना हुआ है। विशेषतः गांधी जी के अहिंसावाद से कवि का मतभेद प्रारम्भ से ही बना रहा है।

---

१. 'दिनकर और उनकी कृतियाँ'—सं० प्रो० कपिल पृ० ७।

दिनकर को अपना काव्य-पथ निर्मित करने म जितना अपने से उलझना पड़ा है उतना हिंदी के किसी भी दूसरे कवि को नहीं करना पड़ा। अपने काव्य-जीवन के उषा-काल से ही यह कवि एक प्रकार के मानसिक संघर्ष में पलता रहा है। 'हुंकार' में यह संघर्ष काफी तीव्र हो उठा है। आवेग-प्रवेग-उद्वेग की मुखरता जितनी 'दिनकर' के काव्य में है उतनी हिंदी के किसी भी दूसरे कवि में नहीं पाई जाती। घोर दरिद्रता और अर्थ-संकट ने कवि को विद्रोही बना दिया। वह पूँजीवाद का दुश्मन बन बैठा। उसके काव्य में क्रांति का जो स्वर इतनी अधिक सतह पर उभरकर आया है, उसका यही कारण है।

हिंदी में ऐसे कवियों का सर्वथा अभाव है कि जिनकी रचनाओं में ग्राम-जीवन का उन्मुक्त चित्रण हुआ हो। गोल्डस्मिथ और टामस हार्डी-जैसे लेखकों का हिन्दी-काव्य-साहित्य में अभाव ही है। हिंदी के कवि प्रायः शहरी होते हैं। ऐसे कवि जब प्रगतिवादी स्वर का राग अलापने लगते हैं तब जीवन की अनुभूति और सत्य सिर धुनने लगते हैं। किसान और मजदूरों पर कविता लिखने वाले कितने कवि ऐसे हैं जिन्होंने उनके गन्दे जीवन और वातावरण में घुल-मिलकर उनकी समस्याओं को समझने की चेष्टा की हो। अतएव, ऐसे कवियों की रचनाओं में कृत्रिम भावनाएँ ही अधिक होती हैं। ऐसे कवि किसी राजनीतिक 'वाद' का नारा बुलन्द करने वाले होते हैं, जिनका काम अपनी पार्टी के हाथ मजबूत करना होता है। इनकी 'बौद्धिक सहानुभूति' ही अधिक वजने लगती है। दिनकर की अनुभूतियाँ उनके कुरूप और विषम जीवन की अनुभूत-गीतियाँ हैं, जो उनकी रचनाओं में उभरकर आई हैं। जिस कवि ने अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग गाँव के गन्दे वातावरण में बिताया है, जहाँ निर्धनता अट्टहास करती है, जिसने शहरी जीवन के खोखलेपन और टीम-टाम को निकट से देखा है, जिसने वर्तमान युद्ध से होने वाले दुष्परिणामों का समीपी अध्ययन किया है, उस कवि की आत्मा वर्तमान जीवन की विभीषिकाओं से घबराकर क्यों न चीत्कार कर उठेगी! दिनकर की कविता में उनकी प्रपीड़ित आत्मा का चीत्कार स्पष्टतः अट्टहास कर उठा है। उनका हृदय मानवता तथा देश के जर्जर जीवन को देखकर कराह उठता है। यही कारण है कि हमारी गरीबी के कारणों का पर्दाफाश करते हुए कवि जब हमारी नसों में उत्साह और ओज भरने की चेष्टा करता है तब सूखे-साखे शरीर में भी खून की धारा उबलने तथा उमड़ने लगती है। इतनी गति, इतना ओज, इतना उत्साह और इतना आवेग भरने वाला कवि हिंदी में कोई दसरा नजर नहीं आता। यह दुर्भाग्य की बात है कि दिनकर-जैसे प्रतिभाशाली कवि, जिनका सम्मान आज से बहुत पहले हो जाना चाहिए था, का जन्म एक ऐसे प्रान्त में हुआ जहाँ निरक्षरता और निर्धनता नंगा नाच नाचती है। बिहार की भूमि में जन्म लेना उनके लिए एक महान् अपराध सिद्ध हुआ। मेरा विश्वास है कि यदि दिनकर का जन्म बिहार में न होकर उत्तर-प्रदेश के किसी भी भाग में होता तो आज उन्हें वही स्थान मिला होता जो स्थान इस समय महादेवी और पंत को स्वतः प्राप्त है। अब तक दिनकर बिहार में उपेक्षित ही रहे। कुछ वर्ष पहले, उत्तर-प्रदेश

में इस कवि का जैसा अभिनन्दन हुआ उससे यह सिद्ध होता है कि हिंदी-संसार अब दिनकर की शक्ति और महत्ता का कायल होने लगा है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि यू० पी०-बिहार का पुराना सौत-सम्बन्ध, पुराना साहित्यिक संघर्ष अब दूर होता जा रहा है। हिंदी में दिनकर एक असाधारण शक्ति हैं जिनके शौर्य और प्रतिभा का अनुभव हिंदी के कम ही लोगों ने किया है। यदि मेरी बात अत्युक्ति तथा अतिशयोक्ति न समझी जाय तो मैं यह कहना चाहूँगा कि दिनकर का जन्म यदि बंगाल और इंगलैंड में होता तो उन्हें वही स्थान मिला होता जो स्थान अंगरेजी साहित्य में एजरा पाउण्ड (Ezra Pound) और आधुनिक बंगला-साहित्य में नजरुल इस्लाम को मिला है। चूँकि दिनकर के साहित्य का अभी तक आलोचनात्मक अध्ययन नहीं हुआ है, इसलिए हिंदी के पाठक तथा स्कूल-कालेज के विद्यार्थी उनकी वास्तविक शक्ति का अनुभव नहीं कर सके हैं। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि अभी हाल ही में दिनकर पर दो आलोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं—एक का नाम है—'दिनकर और उनकी काव्य-कृतियाँ' (सम्पादक प्रो० कपिल) और दूसरी का नाम—'दिनकर और उनका साहित्य' (प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव)। वह दिन अब दूर नहीं जब कि इस कवि की गणना भी राष्ट्र के अमर कलाकारों में होगी। उसके शुभ चिह्न दिखने लगे हैं।

दिनकर ने हिन्दी में कविता की एक सर्वथा नूतन परम्परा की नींव डाली है। यदि हम उस परम्परा को किसी 'वाद' के चौखटे में बाँधकर देखने का प्रयत्न न करें तो यह कहा जा सकता है कि सहित्य-संसार में क्रान्ति का महामंत्र फूँकने वाले कवियों में दिनकर का सर्व प्रथम स्थान है, जिन्होंने अपनी हुंकार से व्यक्तिगत सुख-दुःख से पीड़ित होने वाले छायावादी कवियों को नव जागरण और नवचेतना का सन्देश दिया और देश से पूँजीवादी संस्था को उखाड़ फेंकने के लिए देश के नवयुवक कवियों का आह्वान किया। दिनकर से पहले भी श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने 'उथल-पुथल' मचाने वाली तान छेड़ी थी। लेकिन उनका आवेग दर्द की तरह उठा और आँसू की तरह गिरकर रह गया। 'भारत-भारती' में भी भारत के नौजवानों को देश की परतंत्रता दूर करने का सूखा उपदेश दिया गया था, लेकिन अनुभूति की जो तीव्रता और भावों की गतिशीलता क्रान्ति की पुकार में होती है वह रूखे-सूखे उपदेशों में नहीं होती। दिनकर अपनी कविताओं के द्वारा सूखे शरीर में तरल रक्त का उबाल पैदा कर देते हैं। इस दृष्टि से कवि की रचनाओं में 'हुंकार' का एक विशिष्ट स्थान है।

हिन्दी-कविता में दिनकर ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने किसी भी 'वाद' या किसी विशिष्ट साहित्यकार का गुरु-मंत्र स्वीकार नहीं किया। गुप्तजी की कविता इसलिए ठंडी पड़ गई कि उनकी कविता पर आचार्य द्विवेदी की अत्यधिक उपदेशात्मकता तथा इतिवृत्तात्मकता की गहरी छाप पड़ चुकी थी, श्री रामनरेश त्रिपाठी का काव्य इसलिए शिथिल पड़ गया कि उन पर एक-मात्र गाँधीवाद का गहरा प्रभाव पड़ता रहा। वास्तव में उनका काव्य आज इतिहास की भाव-सामग्री

बन गया है। आरंभ में दिनकर त्रिपाठी जी के पथ पर चले थे, लेकिन आगे चलकर उन्हें अपना रास्ता बदल देना पड़ा। गाँधी जी के अहिंसावाद से यह कवि आज भी समझौता नहीं कर सका है, जिसके सामने गुप्त जी और और त्रिपाठी जी सदैव हाथ जोड़े खड़े रहे हैं। गाँधीवाद के प्रति दिनकर श्रद्धालु अवश्य हैं, विश्वासी नहीं मालूम होते। युग की परिस्थितियों की आवश्यकताओं के प्रति जागरूक होकर ही उन्होंने अपनी कविता का राज-मार्ग प्रशस्त किया है। साथ ही, उन्होंने साधारण जनता की मानसिक ग्रंथियों का अध्ययन करके उनकी माँगों को भी अनसुना नहीं किया। इस दृष्टि से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दिनकर ने भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व करना चाहा है। उनके विरोधियों ने इस कवि को साम्यवादी कवि कहकर उनकी खिल्ली उड़ानी चाही थी। लेकिन 'रसवन्ती' की भूमिका में वस्तु-स्थिति पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने अपनी काव्य-प्रवृत्तियों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "साहित्य के क्षेत्र में हम न तो किसी गोयबेल्स की सत्ता मानने को तैयार हैं, जो हमसे नाजीवाद का समर्थन कराये और न किसी स्टालिन की ही, जो हमें साम्यवाद से तटस्थ रहकर फूलने-फलने नहीं दे सकता। हमारे लिए फरमान न तो क्रेमलिन से आ सकता है और न आनन्द-भवन से ही। अपने क्षेत्र में तो हम उन्हीं नियंत्रणों को स्वीकार करेंगे जिन्हें साहित्य की कला अनन्त काल से मानती चली आ रही है।" स्वच्छंदवादिता दिनकर की कविता का एक ऐसा गुण है जो हिन्दी के अन्य कवियों के बाँटे में कम ही पड़ा है। लेकिन उनकी स्वच्छंदता उच्छृंखलता का पर्याय नहीं है। विचारों का संतुलन और विश्वासी स्वर की दृढ़ता उनकी कविता की प्रमुख विशेषता है। बगलें झाँककर राह बदलने वाली प्रवृत्ति दिनकर में नहीं है। हिन्दी के अनेक आधुनिक कवियों ने ऐसा किया है। यही कारण है कि दिनकर जिस सतह पर खड़े हुए हैं, उसकी ऊँचाई पर बढ़ते चले गए हैं। पंत जी ने तो कई बार अपनी कविता की राह बदली लेकिन दिनकर के काव्य का एक ही रास्ता है। बच्चन की ये पंक्तियाँ इस कवि के काव्य-जीवन पर अच्छी तरह लागू होती हैं :

> अलग-अलग पथ बतलाते सब,
> पर मैं यह बतलाता हूँ—
> राह पकड़ तू एक चला चल,
> पा जायेगा मधुशाला—

यह बात याद रखने की है कि बच्चन जी की अपेक्षा दिनकर 'मधुशाला' के स्थान पर 'मानवशाला' पाने के अभिलाषी हैं, क्योंकि 'मधु' को ये पहले ही हलाहल समझकर सदा के लिए पीकर नीलकंठ शिव हो चुके हैं। उनके हृदय की व्यक्तिगत आशा-निराशा की बदली कभी फट चुकी है। उनका एक ही रास्ता है। जिस पर वे आज भी चलते चले जा रहे हैं। लेकिन उनका रास्ता अनेक खाई-खंदकों से भरा है, जिसको तय करने के लिए भुजाओं में शक्ति, दिल में हिम्मत और मस्तिष्क में गर्म जोश चाहिए। विचारों-भावों की दृढ़ता जितनी दिनकर में

है उतनी आधुनिकतम कवियों में से किसी भी प्रगतिवादी कवि में नहीं मालूम होती।

एक बात और। दिनकर ने 'हुंकार' के 'आमुख' में अपने को 'चारण-कवि' कहा है। चारण-कवियों की परम्परा १२ वीं शताब्दी में ही शुरू हो चुकी थी। इनमें चन्दबरदाई का प्रमुख स्थान है। जिस तरह कुछ लोग कवि चन्द को 'राजस्थान का एक-मात्र कवि' समझते हैं, उसी तरह कुछ लोग दिनकर को भी 'बिहार का एक-मात्र कवि' समझते हैं। डॉ० नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक 'विचार और अनुभूति' में एक स्थान पर लिखा है कि, 'दिनकर ऐसे प्रान्त के कवि हैं जहाँ निर्धनता अट्टहास करती है। वर्ग-वैषम्य भी बिहार से अधिक शायद रियासतों में ही मिले।' इससे यह व्यंजना होती है कि कहीं दिनकर केवल बिहार के ही प्रतिनिधि कवि तो नहीं हैं ? फिर उनके राष्ट्रीय कवि का महत्त्व ही क्या रह जाता है ? ऐसी हालत में उत्तर-प्रदेश की सरकार का दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' पर दिया गया बारह सौ रुपये का पुरस्कार निराधार और व्यर्थ हो जायगा। यह सच है कि बिहार गरीबों का प्रान्त है, लेकिन यह भी सच है कि महावीर और बुद्ध के इस देश में क्रान्तिमूलक विचार-धाराओं की उद्‌घोषणा भी सदैव होती रही है। दिनकर ने भी क्रान्ति के महामंत्र का उच्चारण किया है—देश की गरीबी को विदाई देने के लिए। बिहार में वर्ग-वैषम्य के स्थान पर धीरता और सन्तोष ही अधिक है। इसीलिए यहाँ की गरीबी अरसे से जड़ जमाकर बैठी रही। यह तो दिनकर की उन्मुक्त कल्पना का विस्फोट है कि उसने अपने प्रान्त की जर्जरावस्था के दर्पण में देश की निस्सहायावस्था का अनुमान लगाकर क्रान्ति का सक्रिय आह्वान किया और समूचे राष्ट्र में वर्गहीन और जातिहीन समाज की स्थापना करने में पूरा-पूरा सहयोग दिया। सच तो यह है कि दिनकर को हम चन्द और भूषण की पंक्ति में बैठा ही नहीं सकते। दिनकर यदि चारण कवि हैं तो इसलिए कि उन्होंने भारत की सभ्यता और संस्कृति की रक्षा, क्रान्ति का राग अलाप करके भी की है। बिहार की निर्धनता इस देश की गरीबी है। भारत की दीनता, दरिद्रता और दुरवस्था के मूल कारणों को जितना दिनकर ने समझा है उतना हिन्दी की नई पीढ़ी के कवियों में से बहुत ही कम कवियों ने समझा है। अतः इस कवि को प्रान्तीयता की गन्दी गलियों में नहीं छोड़ा जा सकता; क्योंकि उसकी दृष्टि में, साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता इस अभागे देश के लिए अभिशाप सिद्ध हो चुकी हैं। दिनकर की आत्मा भारत की आत्मा है, जिसने वैशाली, दिल्ली और सतलज को याद करके आँसू बहाये हैं। 'चारण-कवि' वह है जो सोई हुई जनता को जागरण का मंत्र देकर जगाता है और सूखी हड्डियों में रक्त का संचार करता है—दिनकर ने यही किया है। उनका चारण-कवि राष्ट्रीयता का गीत गाता है, पूँजीपतियों के विरुद्ध बगावत का झंडा खड़ा करता है, मासूम बच्चों और निस्सहाय स्त्रियों के दुःख की करुण कहानी कहता है और प्रतिक्रियावादी शक्तियों के प्रलोभनों का भंडफोड़ करता है। इसके साथ ही, वह विगत और वर्तमान युगों को एक सांस्कृतिक भूमि पर खड़ा करने का प्रयत्न भी करता है। दिनकर का कार्य किसी

भी राष्ट्रीय नेता से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। श्री बेनीपुरी ने ठीक ही कहा है कि "दिनकर के आगे का मैदान अभी उसीका है।" उनका-जैसा कवि न तो पहले कभी हुआ और न आज कोई दूसरा नजर आता है। हाँ, उसका अनुकरण अवश्य हो रहा है। देश के नवयुवक कवियों के लिए यह एक प्रेरक शक्ति है, जिसने न जाने कितने राष्ट्रीय कवियों को प्रेरणा देकर कवि सिद्ध किया। दिनकर उन बड़े-बूढ़ों के कवि नहीं हैं जो चरस, चंडू पीकर आँख मूँदकर बिना समझे-बूझे 'रामायण' का पाठ किया करते हैं। वे तो उन नौजवानों की प्रेरक शक्ति हैं जो अपनी कोमल उगलियों से खंजर की जंग छुड़ाते हैं, जो बेफिक्री के साथ तूफानों से खेलना जानते हैं। हिन्दी में वह दूसरा कवि कौन है जिसने भारतीय नौजवानों के मन को इतनी गति के साथ झकझोरा हो ? श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी, आज से ३०-३२ वर्ष पहले, भारतीय नवयुवकों को सात्विक उपदेश दिये थे, 'भारत-भारती' में, लेकिन वे (उपदेश) वन में निवास करने वाले आश्रमवासी ऋषियों के पवित्र और शान्त उपदेश थे, जिनमें मन में आवेग, स्नायुओं में बिजली का स्पंदन और मस्तिष्क में प्रवेग भरने की शक्ति नहीं थी। उनमें ठंडे मन को क्षोभ, निराशा और ग्लानि से भर देने की ही शक्ति थी। दिनकर की कविता ठंडे रक्त को तप्त करने की अद्भुत क्षमता रखती है। धधकते हुए जीवन के अग्नि-कुण्ड में जलते हुए मनु पुत्र को वह नहीं देख सकता। इसलिए परम्परागत प्रामाणिक विश्वासों को एक किनारे रखकर उसने युग के अनुकूल हुंकार भरी और दूध के अभाव म तड़प-तड़पकर मरने वाले बच्चों के लिए भगवान् की इन्द्रपुरी को लूटने की ठानी। इससे कुछ कट्टर सनातनियों के पौराणिक विश्वासों को ठेस लग सकती है, लेकिन दिनकर उन धारणाओं और विश्वासों को अपने कंधों पर ढोये फिरना नहीं चाहते जो आज जर्जर, अव्यावहारिक और युग के प्रतिकूल हो गए हैं। मेरा खयाल है कि इतना अटल विश्वास हिन्दी की नई पीढ़ी की कविता के किसी भी दूसरे कवि में नहीं पाया जाता।

जवानी के दिन अलमस्ती के होते हैं। भावुक कवि इन दिनों दिवा-रात्रि, उठते-बैठते मधुर और इन्द्रधनुषी कल्पना का कानन लगाने में लगा रहता है। विश्व के प्रायः सभी कवियों के जवानी के दिन रंगीन और काल्पनिक सपनों से मधु-वेष्ठित रहे हैं। पन्त-जैसे संयत और गंभीर कवि ने भी अपने काव्य-जीवन के उषा-काल में 'सुन्दरता कल्याणि' की मधुर स्वर्णिम कल्पना में दिवा-रात्रि का रंगीन सपना देखा था। लेकिन दिनकर ने समाज के लिए, देश के लिए और मानवता के लिये उसकी भी आहुति दे दी। कवि देश की आकुल-व्याकुल पुकार के सामने अपने अरमानों की बस्ती में आग लगा देता है और जनता के दुःख-दैन्य को अपना दुःख समझने लगता है। 'हुंकार' में उसने यह स्पष्ट कर दिया है :

नहीं जीते जी सकता देख
विश्व में झुका तुम्हारा भाल।
वेदना-मधु का भी कर पान,
आज उगलूँगा गरल कराल॥

देश के लिए इतना आदर्श त्याग हिन्दी के किस दूसरे कवि ने किया ? उत्तर होगा—केवल दिनकर ने।

अन्त में, मैं समाजवादी हिन्दी-आलोचक और कवि डॉ० रामविलास शर्मा जी की उस आक्षेपजनित शंका का भी समाधान कर देना चाहता हूँ जिसमें उन्होंने बताया है कि "हमारा स्वाधीनता-संग्राम संसार की तमाम जनता की आजादी की लड़ाई का ही एक हिस्सा है, यह बात दिनकर की आँखों के सामने स्पष्ट नहीं है। इसलिए उनके लेखों और कविताओं में जहाँ-तहाँ फूट के स्वर फूट पड़े हैं।"[1] इसके उत्तर में मैं इतना ही कहकर डाक्टर साहब को इतमीनान दिला देना चाहूँगा कि जिस कवि ने वर्तमान जर्जर मनुष्य, (जिसके नैतिक मूल्यों का महानाश हो चुका है) में भी अमर मनुष्यता का दर्शन किया है--जिसने तमाम एशिया में स्वर्णिम और जाग्रत 'भविष्य की आहट' सुनी है, जिसने वर्गहीन ओर जातिहीन देश तथा समाज की कल्पना की है, जिसने पूँजीपतियों के काले कारनामे खोल-खोलकर रख दिये हैं, जिसने धर्माधिकारियों के कच्चे चिट्ठे खोले हैं, उसकी कविताओं में 'फूट का स्वर' क्योंकर फूट सकता है, समझ में नहीं आता। हाँ, इतना अवश्य है कि दिनकर ने संसार के पापों को दूर करने वाले परशुरामी शस्त्र हँसिया-हथौड़ा वाले लाल निशान को न उड़ाकर तिरंगे झंडे को ही अब तक ढोया है, उसकी वंदना की है, उसकी पूजा ही है, क्योंकि उनका यह अटल विश्वास रहा है कि यदि भारत स्वतंत्र होकर सही कदम रखकर चल सका, तो उससे विश्व की प्रगति तथा सुख-शान्ति में मदद भी मिल सकती है। कवि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि गुलाम देश का कवि पहले देश का कवि होता है। 'कुरुक्षेत्र' के पहले तक कवि अपने देश को दासता के बंधन से मुक्त करने के ही प्रयत्न में लगा रहा। 'कुरुक्षेत्र' में पहुँचकर कवि राष्ट्रीयता की चहारदीवारी को तोड़कर विश्व-बंधुत्व और सुख-शान्ति की खोज में निकल पड़ा। लेकिन यहाँ भी उसका 'शंकाकुल हृदय' उसका अन्तिम समाधान नहीं पा सका। दिनकर की काव्य-कृतियों में कवि-जीवन का मनोवैज्ञानिक विकास हुआ है। उनकी रचनाओं को इतिहास के आलोक में तथा मनोविज्ञान के प्रकाश में रखकर ही समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह नहीं समझा जाना चाहिए कि 'दिनकर ने दिल्ली और मास्को के बीच एक पटने वाली दरार की कल्पना की है।' आज कवि की आँखों के सामने सारा विश्व ही प्रश्न-सूचक चिह्न बन गया है और बनता जा रहा है। दिनकर ने समाजवादी लेखक की हर शर्त को सहर्ष स्वीकार किया है लेकिन किसी विशेष देश के लिखित या परंपरित आदर्श को स्वीकार करने में उनका मन सदैव झिझकता रहा है। यही कारण है कि उनके विचार पवन की तरह स्वतंत्र, सूर्य की तरह तप्त और आसमान की तरह व्यापक हैं। दिनकर पर संकीर्णता का दोषारोपण करना कवि के साथ घोर अन्याय करना होगा। किसी कवि की आलोचना नपे-तुले राजनीतिक सिद्धान्तों को अपना अस्त्र-शस्त्र बनाकर नहीं की जा सकती। मेरा केवल इतना ही निवेदन है कि साहित्य को राजनीतिक दासता से शीघ्र ही

१. 'प्रगति और परम्परा', पृ० १७६।

मुक्त कर दिया जाय, तो अच्छा हो। तभी हमारे कवियों को अपनी प्रतिभा को प्रकाश में लाने का सुअवसर प्राप्त हो सकेगा। एक समय था, जब दिनकर को केवल विहार का कवि कहा गया और अब उन्हें केवल 'राष्ट्रीय कवि' की संज्ञा दी जाती है। लेकिन सच तो यह है कि आज दिनकर वर्तमान जर्जर और विषण्ण विश्व के लिये 'अमर शांति' की खोज में निकले हैं। आज उसी ओर उनकी कविता का प्रयाण हो चुका है।

: १२ :

प्रकृति के कवि पंत जी

आधुनिक हिन्दी-कविता में श्री सुमित्रानन्दन पंत ही एक ऐसे कवि हैं जिनके काव्य का विकास सीधा हुआ है और जिनके प्रगति-चिन्हों को आसानी से पढ़ा जा सकता है। समस्त हिन्दी-काव्य-साहित्य में पंत जी का प्रकृति-प्रेम अजेय और अप्रतिम है। प्रकृति-प्रेम ही पंत जी की कविता की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो उनके काव्य का मूल आकर्षण है। यही उनकी काव्य-रचनाओं की आधार-शिला है जिस पर हमारे कवि की कविता के भव्य भवन खड़े हुए हैं। तात्पर्य यह है कि पंत जी की कविता का मेरुदण्ड प्रकृति-प्रेम है। उनका यह प्रेम निरर्थक और निराधार नहीं है। प्रकृति हमारे कवि की चेतना की वह शक्ति है जिस पर उसकी भावनाएँ तथा अनुभूतियाँ अवलम्बित हैं।

प्रकृति पंत जी की कविता की जननी है, प्रेरक शक्ति है। यदि पंत जी का जन्म 'हिमालय की प्यारी तलहटी' अलमोड़े में न होकर किसी सपाट मैदान में हुआ होता तो फिर कवि को यह कहने का कभी अवसर ही न मिलता "कि कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्म-भूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले , मुझे भी याद है, मैं घण्टों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखें मूँदकर लेटता था तो वह दृश्य-पट, चुपचाप मेरी आँखों के सामने घूमा करता था।··· ··· और यह शायद पर्वत-प्रान्त के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य की भावना, पर्वत की ही तरह निश्चित रूप से, अवस्थित है।" पंत की इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि प्रकृति-प्रेम ने कवि के हृदय में अज्ञात आकर्षण को जन्म दिया था और इस अज्ञात आकर्षण ने सौन्दर्य भावना को। कवि का हृदय अपने अलौकिक सौन्दर्य में खो देने को मजबूर करता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति ने ही विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य-भावना दी है जिसने कवि को चिन्तक और दार्शनिक बनने का अवसर दिया है। प्रारम्भ से ही पंतजी का भावुक हृदय प्राकृतिक सौन्दर्य में खूब रमता आया है। इसने कवि की चेतना को व्यापक बनाया है। 'वीणा' के कवि का किशोर-हृदय विरासत में मिले रीति-काल

के प्रथम स्पर्श में आने पर रम नहीं पाया। 'कनक छरी-सी कामिनी' में कैशोर्य नहीं उलझा। किशोर को चाहिए सौन्दर्य; पर उसमें कौतुक कौतूहल भी हो, मात्र मादकता नहीं; इसीलिए पंत का भावुक हृदय प्राकृतिक सौन्दर्य-सुषमा में अपनी सुध-बुध खोता रहा है और आज अनेक मंजिलें पार करने के बाद भी सौन्दर्य के प्रति कवि का अनजान आकर्षण समूल नष्ट नहीं हुआ है। नैसर्गिक प्राकृतिक सौन्दर्य से दूर जाकर भी, शहरी जीवन की कृत्रिमताओं के बीच बस जाने पर भी कविवर पंत का हृदय सौन्दर्य के स्वाभाविक रूप को भुला नहीं पाता। मानव-स्वभाव और भावी मानव-समाज के स्वप्न-दर्शन में भी उन्होंने अपनी सौन्दर्य-भावना को जीवित रखा है। अतः प्राकृतिक सुषमाओं के बीच पलते रहने के कारण उन्हें संस्कार-स्वभाव के रूप में जो-कुछ मिल सका है वह है सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण। पंत जी के काव्य में हम कहीं भी कुरूपता का दर्शन नहीं करते, इसका कारण है कि जीवन और जगत् में उन्होंने सब-कुछ 'सुन्दर' पाया है। कवि का सौन्दर्यवादी पक्षपात बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ा कि उसे जड़ और चेतन सबमें चिरंतन सौंदर्य की झाँकी मिलने लगी। आधुनिक हिन्दी-कविता में पंतजी को छोड़कर एक भी ऐसा कवि नजर नहीं आता, जिसने सौंदर्य को अपनी काव्य-चेतना का मूलाधार बनाया हो। पंत जी की दृष्टि में प्रकृति और उसका सौंदर्य अमर और अमिट है। लेकिन यहाँ एक बात याद रखने की है, वह यह 'पंत जी कामिनी की कमनीयता के ही उपासक रहे हैं, उसके काम-तत्त्व के नहीं। कारण यह कि पंत जी सौन्दर्यवादी हैं, भोगवादी नहीं।' अतः कवि की सौन्दर्य-भावना, भौतिक आधार पर अवलम्बित न होकर अध्यात्म का सम्बल लिये खड़ी है, जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों काल समाहित हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति कवि का यह दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही बना रहा है। पहले वह समझ नहीं पाता था कि सघन विटपों की शीतल छाया और प्रकृति की ममतामयी गोद को छोड़कर लोग कामिनी के केश-पाश में इच्छापूर्वक कैसे आबद्ध हो जाते हैं :

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
× × ×
तोड़ प्रकृति से भी माया।
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?

वह जीवन के प्रभात से ही देखता रहा कि आकाश में बादलों की टुकड़ियों ने घिर-घिरकर उसे आनन्द से उल्लसित कर दिया। चन्दा मामा ने रात में चाँदनी बिखेरकर उसके साथ लुका-छिपी की; उसने अनुभव किया कि पंचम समीर आकर उसे गुदगुदा देता है और उसे भी याद है कि ये सारे दृश्य नींद में भी सपने बनकर उसे रिझाया करते हैं। 'वीणा'-काल में वह देखता था कि प्राकृतिक सौन्दर्य अपनी सम्पूर्ण सुषमा के साथ उषा के कोमल कपोलों पर प्रतिफलित होता है, असंख्य तारे रजनी-रानी का हार बनकर झलमल-झलमल करते हैं, मलयानिल उसकी मनुहार में अविश्रान्त भाव से दौड़-धूप किया करता है। और तब कवि सोचता था कि प्रकृति के इतने अशेष सौन्दर्य को छोड़कर वह अपने मन को नारी की अंग-यष्टि में क्यों

बाँध दे ? इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भ से ही पंत जी ऐन्द्रिक सौन्दर्य-भावना को पराभूत करके विशुद्ध प्राकृतिक सौन्दर्य का दर्शन करना चाहते हैं। किन्तु उसकी सवेग प्रगति में बाधा दे जाती है कवि की विस्मय-भावना, जिसने कवि की चेतना को अध्यात्म का द्वार दिया है :

शान्त सरोवर का उर,
किस इच्छा से लहरा कर।
हो उठता चंचल-चंचल ?

'गुञ्जन' के पहले तक पंत की सौन्दर्यवादी निष्ठा एक प्रकार से निर्द्वन्द बनी रही। 'गुञ्जन' में पहुँचकर कवि का कौतूहल, विस्मय और जिज्ञासा के भाव दृढ़ होने लगे। पहले भी उसने कहा था :

उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही माँ,
वह अपनी वय वाली में—

अब कवि प्राकृतिक दृश्यों को कुतूहल भरी आँखों से देखने में अधिक आनन्दानुभूति का अनुभव करने लगा। अब वह भादों की अँधेरी रात में शत-शत जुगनुओं को पेड़ों के झुरमुट में झुक-झुककर, झुक-झुक करते देखता है कि प्रभात के आते-ही-आते घोंसलों से निकलकर चिड़ियाँ चहचहा उठती हैं। वह फिर सोचता है कि रात में नींद में सोई कुहुकिनी को कैसे पता चला कि ऊषा अपनी रंगीन डोरियाँ (किरण) फेंकती चली आ रही है। संध्या का समय हो रहा है और कवि देखता है कि सूर्य की ये किरणें सरिता के वक्ष से आकर वृक्ष की फुनगियों पर जा पहुँचती हैं और फिर देखता है कि :

तरु शिखरों से वह स्वर्ण विहग,
उठ गया खोल निज पंख सुभग।
किस गुहा नीड़ में रे किस मग ?

पंत जी की दृष्टि में प्रकृति अद्भुत कौतुक कर रही है। कवि देखता है कि :

मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अञ्चल,
नवनील नील कोमल-कोमल,
छाया तरुवन में तम श्यामल ?

फिर दूसरे ही क्षण देखता है :

जगमग-जगमग नभ का आँगन,
लद गया कुन्द-कलियों से घन।

इस प्रकार प्रकृति के कौतुकमय सौन्दर्य का निरीक्षण करने से पंतजी को नैसर्गिक सुख मिलता है। कवि के आरम्भिक जीवन में शुद्ध सौन्दर्य और ऐन्द्रिक सौन्दर्य में द्वन्द चला था, लेकिन 'गुञ्जन' में यौवन की तड़प का अनुभव होने पर उसकी ऐन्द्रिकता सम्पूर्ण प्रकृति पर नाना रूप-रंगों में छा गई। कवि प्रकृति की

वर्ण-विपुलता के बीच अपने प्रेम के व्यापक रूप का दर्शन करने लगता है। वह अपनी ऐन्द्रिक अनुभूति को प्रकृति के निखिल सौन्दर्य में संमाहित करके देखता है। कवि की समस्त प्राकृतिक चेतना उसी ऐन्द्रिक अनुभूति से मानो प्राणवती हो उठी है। 'गुञ्जन' की 'भावी पत्नी के प्रति' शीर्षक कविता पंत की प्रकृति-चेतना और प्रकृति-दर्शन का एक नया अध्याय खोलती है जिसमें प्रकृति-मानव और प्रकृति-जीवन में कवि तादात्म्य का अनुभव करता है। कवि की 'प्राण' जब मुस्करा देती है तो प्रभात भी सस्मित हो उठता है। सलज्ज ऊषा भी विहँस पड़ती है। निखिल विश्व शुद्ध एवं पवित्र ऐन्द्रिकता में परिणत हो जाता है। वह भावना बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ी कि स्वयं प्रकृति पुष्प लावी कन्या बनकर उल्लास, कोकिल के कुछ कोमल बोल, शरद्-रजत मुसकान आदि बेचने चली आती है और पूछती है :

लाई हूँ फूलों का हास,
लोगी मोल, लोगी मोल ?
तरल तुहिन-वन का उल्लास,
लोगी मोल, लोगी मोल ?

पंत जी के प्रकृति-प्रेम की यह विशेषता है कि प्रकृति को उन्होंने सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है। उन्होंने स्वयं कहा : "जब कभी मैंने प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया है तब मैंने अपने को भी नारि-रूप में अङ्कित किया है।" पंत जी के प्रकृति-प्रेम का मूलाधार है विस्मय-भावना, जिसको शुक्ल जी 'स्वाभाविक रहस्य-भावना' कहते हैं। प्रकृति-प्रेम ने जहाँ एक ओर कवि के हृदय में अज्ञात आकर्षण को जन्म दिया है वहाँ दूसरी ओर अव्यक्त सौन्दर्य को 'गुञ्जन' में विराट् सौन्दर्य एवं चिरन्तन सौन्दर्य का दर्शन कर लेने के बाद कवि का सारा विस्मय दूर हो जाता है। विस्मय-निवारण के बाद बौद्धिक चेतना का उदय होता है। 'युगान्त' से पंत का कवि प्रकृति को संदेह और शंका की दृष्टि से देखने का अभ्यास करने लगा है। प्रयाग का शहरी जीवन बिताने के बाद, मानव-समाज के कोलाहलमय जीवन में कुछ वर्षों तक रह लेने के बाद पंतजी प्रकृति के प्रति कुछ उदासीन होने लगे। उन्होंने अपने मन से यह प्रश्न किया—माना कि प्राकृतिक सौन्दर्य एक पूर्ण सत्य है लेकिन उसकी कुञ्ज-गलियों में तथा वीथियों में रहने वाला मानव इतना म्लान और उदास क्यों है ?

है पूर्ण प्रकृति सत्य ! किन्तु मानव जग !
क्यों म्लान तुम्हारे कुञ्ज कुसुम आतप खग ?

काल, अवस्था और परिस्थिति के अनुसार पंत जी का प्रकृति-प्रेम घटता-बढ़ता गया है, लेकिन क्रमशः उसका पतन ही अधिक हुआ है। एक समय उन्होंने कहा था : "कुसमों के जीवन का पल हंसता ही जग में देखा" लेकिन आगे चलकर जब वह मनुष्य के दुःख-दैन्य से पीड़ित हुए तो प्रकृति के अशेष सौन्दर्य के प्रति उनका जो भी विश्वास था मानो एक-एक करके टूटने लगा। उन्होंने स्पष्ट कह ही तो दिया :

कहाँ मनुज के अवसर,
देखे मधुर प्रकृति मुख ।
जब अभाव से जर्जर,
प्रकृति उसे देगी सुख ?

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में यह उसी कवि का प्रश्न है जिसने स्वयं एक दिन हमारे काव्य-साहित्य में प्रकृति की चारु चित्रशाला सजाई थी। आज वह अपनी सृष्टि को निराधार पा रहा है। 'युगवाणी' तक पहुँचते-पहुँचते 'चिंतन के क्षेत्र में बौद्धिकता की ओर झुकने के कारण पंत जी अब प्रकृति की निरपेक्ष सत्ता नहीं जानते, बल्कि उसे समाजगत मानव के परिपार्श्व में, उसके सही प्रक्षेपण के साथ प्रस्तुत करते हैं।' प्रकृति के प्रति कवि की यह उदासीनता 'ग्रंथि' 'पल्लव' में भी रेशमी आवरण की ओट लिये हुए प्रकट हुई थी जब कवि की व्यक्तिगत निराशा अभिव्यक्ति के लिए मार्ग ढूँढ़ने लगी थी। तभी उसने कहा था :

मूँदती नयन मृत्यु की रात,
खोलती नव-जीवन का प्रात।
× × ×
विश्व वाणी ही है क्रन्दन,
विश्व का काव्य अश्रु कण !

लेकिन तब की उदासीनता और आज के वैराग्य में बहुत अन्तर है। तब का वीतराग अल्हड़ भावुक कवि था आज का विराग विवेकशील चेतना का परिणाम है। यद्यपि 'ग्राम्या' में पंतजी की नैसर्गिक सौन्दर्य-प्रकृति जहाँ-तहाँ प्रकाश-पथ पर चलने के लिए मचल उठती है, लेकिन कवि की बौद्धिक चेतना उसे दबाकर यह कह जाती है :

यहाँ न पल्लव वन में मर्मर,
यहाँ न मधुर विहगों में गुञ्जन।
जीवन का संगीत बन रहा,
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन !

और आज जब पंत जी स्वर्णमय भविष्य की कल्पना-कामना में लगे हैं प्रकृति बहुत पीछे छूट गई है। क्योंकि 'आत्म-चेतना और लोक-चेतना के सोपान पार करके कवि ऊर्ध्व-चेतना की ओर प्रयाण कर चुका है। आज उनकी दृष्टि में प्रकृति की अपेक्षा मानव का प्रश्न सर्वोपरि है। प्रकृति के सौन्दर्य पर दृष्टि जाती भी है तो उसका प्रश्नोन्मुख हृदय वर्तमान सभ्यता और संस्कृति की जर्जरता को याद करके चीत्कार कर उठता है। 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि', 'युग पथ' तथा 'उत्तरा' इन सभी नवीन रचनाओं में पंत जी का 'बाल प्राकृतिक भाव जैसे निर्भ्रान्त और तिरोहित हो गया है। आज कवि जीवन और जगत् की समस्याओं में समन्वयात्मक समाधान खोजने में लगा है।' यह सब होते हुए भी पंत जी की सौन्दर्य-

चयन-वृत्ति का तिरोभाव असम्भव है। क्योंकि प्रकृति की प्रेरणा-स्वरूप उन्हें जो निधि हाथ लगी है वह अपार्थिव सौन्दर्य-भावना है। यही भावना आज भी उनके अति आधुनिक काव्य-जीवन के पथ को प्रशस्त करती जा रही है :

'मानव तुम सबसे सुन्दरतम' की भावना ही आज सर्वत्र बज रहीं हैं उनकी नवीनतम रचनाओं में भी उनके प्रकृति-प्रेम का यही साध्य है, जो आज अन्तिम परिणति पा चुका है। : :

: १३ :

भगवतीप्रसाद वाजपेयी की अमर कहानी 'मिठाई वाला'

पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी हिंदी के जाने-पहचाने कथाकार हैं। उनकी कहानियाँ हिंदी-कहानी के उस स्कूल के अन्तर्गत आती हैं जिन्हें आज के आलोचक 'मनोवैज्ञानिक कहानियाँ' की संज्ञा देते हैं। वाजपेयी जी सन् '२८ से हिंदी में कहानियाँ लिखते चले आ रहे हैं। जिनमें हम रोमान्स और वेदना मुख्य रूप से पाते हैं। वास्तव में यदि एक ओर उन्होंने मध्यवर्गीय समाज के ह्रासोन्मुख जीवन के सजीव चित्र खींचे हैं तो दूसरी ओर प्रेम की अमिट वेदना का गद्यगीत गाया है। यदि हम उन्हें रोमान्स और वेदना का प्रतिनिधि कहानीकार और वर्तमान ह्रासोन्मुख जीवन के भावुक कथाकार कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी। अपनी कहानियों में उन्होंने प्रेम और वेदना को व्यापक दृष्टि से देखा है। जीवन के प्रति उनका अपना विचार-दर्शन है। किसी भी बड़े कहानी-लेखक का यह लक्षण होता है कि वह अपनी कहानियों के द्वारा अपनी विचार-धारा को अभिव्यक्ति का मार्ग देता है। उनकी कहानियाँ भी स्थिर विचार-दर्शन की नींव पर खड़ी हैं। कुछ आलोचक वाजपेयी जी की कहानियों में अतिशय भावुकता पाकर खीझ उठते हैं, लेकिन उनकी भावुकता निरर्थक और निराधार नहीं है। जीवन को सुन्दर और जीने लायक बनाने के लिए तथा दूसरों को जीने देने के लिए आत्म-संतोष, संयम, धीरता, गम्भीरता तथा आत्म-विस्मृति की आवश्यकता होती ही है। ये मानव-मन की दुर्बलताएँ नहीं, वरन् परिस्थिति के अनुकूल कभी-कभी हमारी ये दुर्बलतायें समाज में शांति बनाये रखने में सहायक हुई हैं। वाजपेयी जी के पात्र यदि जीवन के थपेड़ों के सामने घुटने टेक देते हैं तो इसलिए नहीं कि वे दुर्बल हैं, वरन् इसलिए कि वैसी स्थिति में सभी को ऐसा करना पड़ता है और जो झुकते हैं वही उठते भी हैं।

इसी पृष्ठभूमि पर मैं यहाँ वाजपेयी जी की कहानी 'मिठाई वाला' का मूल्यांकन करना चाहता हूँ। यह कहानी सन् '३० की रचना है जो उनकी प्रारंभिक कहानियों में से एक है, लेकिन उसकी उत्कृष्टता और सफलता देखकर दंग रह जाना पड़ता है। हो सकता है कि किन्हीं-किन्हीं को यह कहानी उतनी अच्छी न लगती हो; लेकिन इसकी कुछ विशेषताएँ हैं जो इसे अमरता प्रदान करती है। कहानी जब देश-काल-स्थान के स्पर्श से दूर हटकर मानव-मन की भावनाओं

के सत्य वातायन को खोलने लगती है तो उसका महत्त्व और मूल्य अधिक बढ़ जाता है। 'मिठाई वाला' कहानी के साथ ऐसी ही बात है। यह कहानी मानव-मन की सात्विक पर त्यागमयी भावना की जीती-जागती तस्वीर है। यह कहना गलत है कि त्याग की भावना मन की एक दुर्बलता है। सन्तुलित और अव्यवस्थित समाज में ही त्याग और आत्म-संतोष की स्थिति पैदा होती है। पर मिठाई वाला कहानी यह सिद्ध करती है कि किसी भी युग में किसी भी सामाजिक व्यवस्था में मन की कोमल भावनाओं को सदा के लिए छिन्न-भिन्न नहीं किया जा सकता। ये भावनाएँ हृदय के उदात्त गुणों का उन्नयन करती हैं और मानव-जीवन को व्यवस्थित और कल्याणकारी बनाने में सहायक होती हैं। गलियों में घूम-घूमकर फेरी लगाने वाला मिठाई वाला एक ऐसा ही व्यक्ति है जिसके घर में वैभव का वरदान था, वह अपने नगर का एक प्रतिष्ठित आदमी था, मकान-व्यवसाय, गाड़ी-घोड़े, नौकर-चाकर सभी कुछ थे। स्त्री थी, छोटे-छोटे बच्चे भी थे। उसका सोने का संसार बसा था। बाहर सम्पत्ति का वैभव था, भीतर सांसारिक सुख था। स्त्री सुन्दर थी, बच्चे भी सोने के सजीव खिलौने-जैसे सुन्दर थे। लेकिन समय की गति और विधाता की लीला को कौन जानता है! किस समय किस पर किस तरह की मुसीबत बादल बनकर गरज-बरस पड़ेगी यह मनुष्य के वश की बात नहीं। ज्योतिष-शास्त्र को जन्म देकर भी, अंतरिक्ष की रहस्यमयी बातों को जानकर भी, मनुष्य लड़ाइयाँ लड़ता रहा है, भूकम्प होते रहे हैं और मृत्यु होती रही है। मन में स्वाभाविक प्रश्न होता है कि दृश्य-जगत् के पर्दे के पीछे वह कौन-सी शक्ति छिपी है जो व्यक्ति के अरमानों को इतनी निर्दयतापूर्वक कुचल डालती है? क्या साम्यवादी संसार में किसी के लहलहाते अरमान जीवन के आकस्मिक झंझावात में पड़कर सूखे पत्तों की तरह उड़कर छिन्न-भिन्न नहीं होते? होते हैं, और अवश्य होते हैं। फिर हम कौन-सी आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करें कि हमारे दरवाजे पर मौत न फटक सके, अचानक भूकम्प से हजारों-लाखों की बर्बादी न हो सके। लेकिन प्रकृति पर विजय पाने वाला मानव आज भी उसी तरह पंगु, निस्सहाय और निरुपाय है जिस तरह पहले था। अदृश्य के क्रिया-कलापों पर किसका वश चला है? 'मिठाई वाला' कहानी जीवन के इसी रहस्य पर प्रकाश डालती है। स्त्री के मर जाने पर मिठाई वाला या खिलौने वाला अगर चाहता तो वैभव के मद में आकर, जैसा कि आजकल सभ्य संसार में होता रहता है, एक क्या दो-चार शादियाँ करके एक-से-एक सुन्दर स्त्री का स्वामी और अनेक खूबसूरत बेटों का बाप हो सकता था, लेकिन उसने ऐसा नहीं किया—सोचा तक नहीं। क्यों? इसलिए कि उसने वैभव को नहीं, मन की विभूति के पराग को देख लिया था। मृत पत्नी और बच्चों के लिए उसके दिल में नैतिक कर्तव्य की भावना शेष रह गई थी। बहुतों की पत्नियाँ मरती हैं, बच्चे होते हैं और काल के ग्रास बन जाते हैं, लेकिन कितने ऐसे हैं जो अपने मृत प्रियजनों की स्मृति में अपने जीवन के शेष दिन घुल-घुलकर, दीपक की तरह जल-जलकर, काट देने का साहस करते हैं।

यह आत्म-संयम की कठोर परीक्षा है। इस परीक्षा में मिठाई वाला बेदाग निकल आया और यही इसका सौन्दर्य है। माना कि वह अपने मन को भुलावा देने के लिए कभी मिठाई, कभी मुरली और कभी खिलौने बेचता है लेकिन ऐसा करके क्या वह अपने बीवी-बच्चे की स्मृति को ताजा नहीं बनाये रखता ? उसे पुनर्जन्म में पूर्ण विश्वास है। वह रोहिणी से कहता है : "वे सब (बच्चे) अंत में होंगे तो यहीं कहीं। आखिर कहीं-न-कहीं तो जन्मे ही होंगे। इसी तरह रहता, तो घुल-घुलकर मरता। इस तरह सुख-संतोष के साथ मरूंगा। इस तरह के जीवन में कभी-कभी उन बच्चों की झलक मिल जाती है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे वे इन्हीं में उछल-उछलकर हँस-खेल रहे हैं। पैसे की कमी थोड़े ही है।" यहाँ मिठाई वाले की कोरी भावुकता नहीं, उसका विवेक बोल रहा है। विवेकपूर्ण भावुकता निराश मन को सहारा देती है और फिर वह दूसरों को सहारा देने के लिए उत्सुक होती है। अर्थशास्त्र के विकट विद्वानों ने हमारे जीवन में आर्थिक संतुलन के बड़े-बड़े सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके दुःखों के अस्तित्व के अनेक कारण बतलाए हैं, लेकिन मिठाई वाले-जैसे निराश व्यक्ति को उसकी खोई पत्नी और मरे बच्चे अर्थशास्त्र के किस सिद्धान्त के आधार पर वापिस लौटाए जा सकते हैं ! इस कठोर और नग्न प्रश्न का उत्तर संसार का कोई शास्त्र नहीं दे सकता। इसका उत्तर विवेकपूर्ण भावुकता देगी; जिसमें आत्म-संयम और आत्म-नियंत्रण का सौरभ होता है। मन की कोमल वृत्तियाँ जीवन की दिशाओं में सद्-सद् विवेक को जगाकर ध्यानस्थ हो जाती हैं। मिठाई वाला घुल-घुलकर मरना नहीं चाहता, चाहता है आत्म-संतोष, धीरता, गम्भीरता और आत्म-संयम का जीवन बिताना। वह स्वयं कहता है कि बच्चों के बीच मिठाई बेचकर उसे संतोष मिलता है और मन को धीरज बँधता है और कभी-कभी असीम सुख मिलता है। मरे हुए बच्चों को समाज के दूसरे जीवित बच्चों में ढूँढना और सभी को प्यार भरी नजरों से देखना मन की अतिशय भावुकता नहीं, विवेक का आश्चर्यजनक प्रयोग और व्यक्तित्व का विस्तार है।

प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी ने उत्कृष्ट कहानी की एक कसौटी इस प्रकार तैयार की है : "कहानी के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है घटना-संवलित कथानक का ऐसा प्रसार, जो अपनी सीमा में, एक प्रभावशाली और असाधारण जीवन-मर्म को पूरा-पूरा व्यक्त कर दे।"[1] कहानीकार वाजपेयी जी की यह कहानी आलोचक वाजपेयी जी की इस कसौटी पर अच्छी तरह खप जाती है। 'मिठाई वाला' कहानी का कथानक बहुत साधारण है लेकिन साधारण कथानक से 'असाधारण जीवन-मर्म' की व्यंजना कराने में कहानीकार को पूरी-पूरी सफलता मिली है। साधारण से असाधारण की व्यंजना और मन के मर्म को झकझोरने की क्षमता इस कहानी की अपूर्व विभूति है—यही इसका सौन्दर्य है। इस कहानी का प्रभाव सीधा मन पर पड़ता है। कहानी-लेखक ने कहीं भी अनावश्यक प्रसंग जोड़कर कहानी के उद्देश्य को स्खलित नहीं होने दिया। इसका आधार व्यापक है, और अनुभव विशाल। इसमें

---

१. 'आधुनिक साहित्य', पृष्ठ १८९–९०।

कोमल मानव-हृदय को स्पर्श करने की अद्भुत शक्ति है। 'प्रभाव की एकता' का निर्वाह बड़े कौशल से हुआ है। कहानीकार ने बड़ी ही ईमानदारी, संयम और कौशल से कहानी के कथानक को एक ही केन्द्र-विन्दु प्रदान किया है, वह है मध्यवर्गीय परिवार का एक मुहल्ला। सारी घटनाएँ उसी मुहल्ले में घटती हैं। अतः यहाँ स्थान की एकता का सम्यक् रूप से निर्वाह हुआ है। यद्यपि सारे कथानक को पूरा होने में चौदह महीने लगते हैं, तथापि कहानी-लेखक ने अपने केन्द्रीय उद्देश्य को अपने स्थान में रखा है। उसने हमारे मन की संवेदना और सहानुभूति को जगाकर ही दम लिया है। समय की एकता (unity of time) अच्छी कहानी के लिए कोई आवश्यक शर्त नहीं है। अतः इस कहानी में यदि इसका अभाव खटके तो इससे कोई विशेष हानि नहीं होती। प्रेमचन्द के कथनानुसार 'सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।' इस कसौटी पर भी यह कहानी खरी उतरती है। हम उपर्युक्त पंक्तियों में इस कहानी के मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन कर चुके हैं। श्री प्रभाकर माचवे के अनुसार कथा में मनोरंजन भी होना चाहिए। 'मिठाई वाला' कहानी में वाजपेयी जी ने न केवल गंभीर भावों की अभिव्यक्ति की है वरन् बालकोचित क्रियाओं का भी बड़ा ही मनोरंजक वर्णन किया है। निम्नांकित पंक्तियों के लिखने में कहानीकार ने कितने संयम से काम लिया है और आनवश्यक बातों को छाँट दिया है। बच्चों के समूह में खड़ा होकर मुरली वाला कहता जा रहा है—यह बड़ी अच्छी मुरली है, तुम यही ले लो बाबू. राजा बाबू तुम्हारे लायक तो बस यह है। ...हां भैये, तुमको वही देंगे। यह लो...तुमको वैसो न चाहिए, ऐसी चाहिए? यह नारंगी रंग की एक ?—अच्छा' यही लो।... पैसे नहीं हैं ? अच्छा, अम्मा से पैसे ले आओ। मैं अभी बैठा हूँ—तुम ले आए पैसे ? अच्छा, यह लो तुम्हारे लिए मैंने पहले ही से निकाल रखी थी।...तुमको पैसे नहीं मिले। तुमने अम्मा से ठीक तरह से माँगे न होंगे ? धोती पकड़ के, पैरों में लिपटके, अम्मा से पैसे माँगे जाते हैं, बाबू।...हाँ, फिर जाओ। अब की बार मिल जायेंगे दुअन्नी है ? तो क्या हुआ, ये छः पैसे वापस लो। ठीक हो गया न हिसाब। मिल गए पैसे ?...तुम्हारी माँ के पास पैसे नहीं हैं। अच्छा, तुम भी यह लो।" ये पंक्तियाँ मिठाई वाले के उदार और विनोदी स्वभाव पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। साथ ही लेखक ने बच्चों के स्वाभाविक क्रिया-कलापों का बड़ा ही सुखद वर्णन किया है। श्री माचवे ने लिखा है: 'मनोरंजन साधन मात्र है, लक्ष्य कुछ और है।'यह कथन 'मिठाई वाला' कहानी के मर्म की ओर लक्ष्य कर रहा है जिसकी व्याख्या हम ऊपर कर लाए हैं। वह लक्ष्य है मिठाई वाले के पितृत्वपूर्ण भावुक जीवन को अभिव्यंजित करना।

श्री जैनेन्द्रकुमार ने कहानी के उन पाठकों की माँग—कहानी दिलचस्प हो, जिसमें उनका मन लगे—का संशोधन करते हुए एक स्थान पर अच्छी कहानी की पहचान इस प्रकार बतलाई है, "मन लगना तो बड़ी पहचान है ही, पर मन लगा रहे। तोता-मैना में मन लगता है, पर लगा नहीं रहता।" 'मिठाई वाला' कहानी एक

ऐसी ही कहानी है जो पाठक के मन पर एक अमिट छाप छोड़ती है। मिठाई वाले का व्यक्तित्व हमारे मन पर एक अटल छाप छोड़ जाता है। जिस कहानी का जो चरित्र पाठक के हृदय-पट पर जितनी स्पष्टता के साथ अपना प्रभाव डालता है वह कहानी उतनी ही उत्कृष्ट होती है। हम उस व्यक्ति को कैसे भूल सकते हैं जो गलियों में मीठे स्वरों के साथ कहता हुआ घूमता है : 'बच्चों को बहलाने वाला, खिलौने वाला, मुरली वाला, मिठाई वाला।" जब-जब मिठाई वाला याद आयगा तब-तब वाजपेयी जी भी याद आयेंगे।

एक बात हमें बेतरह खटकी है—मिठाई वाला बच्चों की खोज तो करता है पर उसे बच्चों की माँ की तनिक भी याद नहीं आती। बच्चों को स्नेह की थपकियाँ देने वाला पिता पहले पति की हैसियत से पत्नी को प्यार की नजरों से देखता है। अच्छा होता यदि कहानी-लेखक कहीं स्थान निकालकर—वहाँ, जहाँ रोहिणी और मिठाई वाले में बातचीत होती है—इस ओर भी संकेत कर देता। मेरा विश्वास है कि इससे कहानी के उद्देश्य को किसी तरह का धक्का नहीं पहुँचता। हो सकता है कि इस कहानी के सृष्टि-काल में रवि बाबू की कहानी 'काबुली वाला' वाजपेयी जी के ध्यान में रही हो। यदि ऐसी ही बात हो तो भी यह कहानी अमर है।

: १४ :

ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा

आधुनिक काल में, इतिहास के अनगिनत मर्मस्पर्शी कथानकों का साहित्य में कोई महत्त्व हो सकता है, इस बात का विश्वास करने वालों में श्री जयशंकरप्रसाद सर्वप्रथम लेखक थे। उन्होंने ही गड़े मुर्दों को खोद-खोद कर निकाला, सँवारा और अपनी सृजन प्रतिभा से उनमें ऐसी प्राण-शक्ति भरी कि वे मुर्दे आज के जीवितों में प्रेरणा का प्राण फूँकने लगे। किन्तु प्रसाद जी नाटककार थे। ऐतिहासिक उपन्यासों की ओर उनका ध्यान अवश्य गया पर उनका प्रथम प्रयास 'इरावती'—अधूरा और अन्तिम ही सिद्ध होकर रह गया। राहुलजी ने भी अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं, लेकिन उन्हें उपन्यास कहने की अपेक्षा 'खोजपूर्ण कथाएँ' कहना अधिक उपयुक्त होगा; क्योंकि उनमें साहित्यिक सरसता के स्थान पर सोद्देश्यता की शुष्कता अधिक है। उदाहरण के लिए 'जय यौधेय' और 'सिंह सेनापति' को हम ले सकते हैं। हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में चतुरसेन शास्त्री की 'वैशाली की नगरवधू', यशपाल की 'दिव्या', गोविन्दवल्लभ पन्त का 'अमिताभ', मिश्रबन्धुओं 'विक्रमादित्य' तथा रामरतन भटनागर की 'आम्रपाली' विशेष उल्लेखनीय हैं। किन्तु ये सभी रचनाएँ किसी ऐसे लेखक द्वारा प्रस्तुत नहीं की गईं जिन्हें अतीत से स्वस्थ, विश्वासपूर्ण और स्वाभाविक प्रेम हो। उपर्युक्त किसी भी उपन्यास के पढ़ लेने पर ऐसा मालूम होता है मानो लेखक ने कुछ सोच-विचारकर, किसी एक निश्चित उद्देश्य को ध्यान में रखकर, इतिहास के पृष्ठों को उल्टा है। इतिहास के प्रति उसके हृदय में कोई विशेष आकर्षण नहीं है। ऐतिहासिक रोमांसों से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की उत्कट कामना पहले-पहल श्री वृन्दावनलाल वर्मा में जगी। साहित्य के किसी अंग विशेष की पूर्ति के लिए वर्माजी ने अपनी कलम नहीं उठाई। उनमें अपनी जन्मभूमि बुन्देलखण्ड के प्रति अमिट प्यार भरा है। यही कारण है कि उन्होंने अपने समस्त ऐतिहासिक उपन्यासों में, अनेक क्या, अधिकांश में बुन्देलखण्ड की पुरानी प्रसिद्ध गाथाओं को नवजीवन प्रदान किया है। अपनी साहित्य-साधना में निरत वर्मा जी की अनेक कृतियों को पढ़कर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि वर्मा जी हिन्दी के एक-मात्र ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। इनके उपन्यासों में कुछ कृतियाँ बहुत ही ऊँचे दर्जे की हैं।

इतिहास-प्रेम के कारण

वर्माजी के इस इतिहास-प्रेम के कुछ कारण भी हैं। ये झाँसी जिले के मऊ-रानीपुर गाँव की मिट्टी में पलकर बड़े हुए हैं। इनके पितामह श्री आनन्दीराव झाँसी राज्य के दीवान थे। सन् १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम में उन्होंने लक्ष्मीबाई का साथ दिया था और इसी शुभ काम में वे शहीद भी हुए थे। स्वभावतः आनन्दीराव का रक्त वर्मा जी की धमनियों में बहकर उन्हें जन्मभूमि और मातृभूमि के प्रेम से विमुख नहीं कर सका। इनकी पितामही प्रायः वर्मा जी को देश-प्रेम और वीर-पूजा-भाव की कहानियाँ सुनाया करती थीं। इन्हीं प्रभावों को लेकर वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी-उपन्यास में उतरे।

इतिहास का प्रेमी अध्ययनशील व्यक्ति होता है। वर्माजी के विराट् अध्ययन का अनुमान उनके उपन्यासों से स्पष्टतः किया जा सकता है। अनेक विषयों पर उनका एकाधिकार है। विशेषतः इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान, मनोविज्ञान और साहित्य इनके अध्ययनशील जीवन के अभिन्न अंग बन गए हैं। चित्र-कला और मूर्ति-कला के भी ये कम प्रेमी नहीं। ये प्रायः बन्दूक लेकर बुन्देलखण्ड के जंगलों में शिकार खेलने निकल जाते हैं। इनकी रचनाओं में प्रकृति के यथार्थ और स्वाभाविक वर्णन का यही कारण है। संगीत की ओर इनकी रुचि स्वाभाविक है। कहा जाता है कि ये सितार बजाने में बड़े कुशल हैं। तात्पर्य यह कि वर्मा जी का दैनिक जीवन ऐतिहासिक रचना के अनुकूल है। यह सब-कुछ होते हुए भी ये साहित्य के मौन साधक हैं। आत्म-प्रचार के इस युग में एकान्त साधना का जीवन इन्हें अधिक पसन्द है। बुन्देलखण्ड के वातावरण से वे भली भाँति परिचित हैं। उनके ये उद्‌गार कितने स्वाभाविक और यथार्थ हैं : "**आप कभी बुन्देलखण्ड के भीतरी स्थानों घूमे हों तो आपको स्मरण होगा कि वह दरिद्रखण्ड कितना विभूतिमय है। हम लोगों के पास पैसे नहीं हैं, परन्तु हम लोग फिर भी रागें और राधुरे गाते हैं, अपनी झीलों और नदी-नालों के किनारे नाचते हैं और अपनी रंगीली कल्पना में मस्त हो जाते हैं।**

साहित्य-साधना

वर्माजी की साहित्य-साधना का प्रारम्भ नाटक-रचना से हुआ है। सन् १९२७ से वे उपन्यास की ओर झुके। उन्होंने अनेक कहानियाँ भी लिखी हैं। एकांकी नाटक और फिल्मी नाटकों की ओर भी इनका ध्यान गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। इनके उपन्यासों के दो स्पष्ट भाग हैं—ऐतिहासिक और सामाजिक। ऐतिहासिक उपन्यासों में 'विराटा की पद्मिनी,' 'गढ़ कुण्डार', 'झाँसी की रानी', 'मुसाहिबजू', 'कचनार' आदि आते हैं और 'आनन्दघन' 'राणा साँगा', 'ललितादित्य', छत्रसाल', 'शाहगफूर', 'सत्रह सौ बीस', 'माधवजी सिंधिया' और 'टूटे काँटे' अप्रकाशित ऐतिहासिक उपन्यास हैं। सामाजिक उपन्यासों में 'कुण्डली चक्र', 'प्रत्यागत', 'हृदय की हिलोर', 'प्रेम की भेंट', 'कभी-न-कभी', 'लगन,'

'अचल मेरा कोई' तथा 'शबनम' हैं। इनके अतिरिक्त, वर्माजी ने 'फूलों की बोली', 'हंस-मयूर', 'झांसी की रानी', 'पूर्व की ओर' और 'जहाँदारशाह' ऐतिहासिक नाटक तथा 'धीरे-धीरे', 'राखी की लाज', 'बाँस की फाँस', 'पायल', 'मंगल-सूत्र', 'कब तक', 'पीले हाथ', 'सगुन', 'काश्मीर का काँटा' और 'टंटा गूद', सामाजिक नाटक भी लिखे हैं। 'हर सिंगार' और 'कलाकार का दण्ड' इनके कहानी-संग्रह हैं और 'नीलकण्ठ', 'लो भाई पंचो लो' एकांकी नाटकों के संग्रह हैं। इस प्रकार वर्माजी अब तक पचास से भी अधिक साहित्यिक पुस्तकों की रचना कर चुके हैं। उनकी यह साहित्य-साधना अब भी चल रही है।

हिन्दी कथा-सहित्य में वर्माजी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कम-से-कम वर्णन-शैली में और समाज के चित्रण में प्रेमचन्द के बाद वर्माजी का ही स्थान आ सकता है।

सामाजिक उपन्यासों की अपेक्षा उनके ऐतिहासिक उपन्यास अधिक सफल हैं। इतिहास की किसी मर्मस्पर्शी घटना को लेकर अपनी सृजनात्मक कल्पना के बल पर अत्यन्त सजीव चित्र उपस्थित करने में वे अत्यन्त कुशल हैं। इतिहास-कार तो केवल सामाजिक और परिवर्तनशील घटनाओं का रूखा-सूखा विवरण देकर संतोष कर लेता है, किन्तु ऐतिहासिक साहित्यकार तत्कालीन जीवन में छिपे चिरन्तन सत्य की खोज करता है, जो उतना ही स्पन्दनशील और वास्तविक होता है जितना एक सामाजिक साहित्यकार। वर्माजी की सृजन-कल्पना ऐतिहासिक रोमांसों में खूब रमी है; इसीलिए उन्होंने ऐतिहासिक सत्य की रक्षा करते हुए अनेक रोचक कहानियों से हिन्दी-कथा-साहित्य को समृद्ध किया है। भारतीय इतिहास के साथ वे अपने प्रांत के भूगोल से भी भली भाँति परिचित हैं। वर्माजी के बारे में कहा जाता है कि उनके कथानक का क्षेत्र बड़ा ही सीमित है, उनमें दृष्टि-विस्तार नहीं है। लगभग यही बात अंग्रेजी-उपन्यास-लेखक हार्डी के सम्बन्ध में भी कही जाती है। वास्तव में, हार्डी और वर्मा जी में बहुत-कुछ समानताएँ हैं। दोनों में हम स्थानीय रंग (Local colour) पाते हैं। दोनों प्रकृति-चित्रण में कुशल हैं। दोनों की रचनाओं में प्रकृति पृष्ठभूमि के रूप में आई है। किन्तु चूँकि वर्माजी हार्डी की तरह निराशावादी नहीं हैं, इसलिए वर्माजी के प्रकृति-चित्रण में वैसी उदासीनता नहीं मिलती। दोनों का प्रकृति-चित्रण स्थानीय रंगों से रंजित है। दोनों की भाषाओं पर स्थानीयता का विशेष प्रभाव है।

ऐतिहासिक उपन्यास

वर्माजी के प्रकाशित ऐतिहासिक उपन्यासों में 'गढ़कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झांसी की रानी' और 'मृगनयनी' को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है।

'गढ़कुण्डार' इस शृंखला की सर्वप्रथम रचना है और 'मृगनयनी' अंतिम। 'गढ़कुण्डार' में १४वीं शताब्दी के बुन्देलखण्ड की राजनैतिक अवस्था का चित्रण हुआ है। यहाँ तत्कालीन राजनैतिक कलह और फूट की झांकी दी गई है। इसके सभी प्रमुख पात्र और घटनाएं ऐतिहासिक हैं। उपन्यास का कथानक प्रेम और युद्ध पर, मुख्य रूप

से, अवलम्बित है। समस्त कथानक में प्रेमकथा की त्रिवेणी बहाई गई है। ये प्रेम-कथाएँ इस प्रकार हैं—अग्निदत्त और भानवती की, तारा और दिवाकर की, और नाग और हेमवती की। यह उपन्यास ५०० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। घटनाएँ शृङ्खलाबद्ध और प्रवाहपूर्ण हैं। ब्राह्मणी तारा और कायस्थ दिवाकर के प्रेम में समाज की रूढ़ियों को तोड़ने की क्रान्तिकारी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। खंगारों के नाश का रोचक वर्णन पाठकों के मन में उत्सुकता बनाये रखता है। मूल रूप से समस्त कथानक में बुन्देलों के जातीय गौरव, साहस, वीरता आदि का स्वाभाविक वर्णन हुआ है। वर्णन-शैली में सजीवता है। भाषा पर बुन्देलखंडी भाषा का प्रभाव स्पष्ट है। 'गढ़कुण्डार' हिन्दी का सर्व-प्रथम सफल ऐतिहासिक उपन्यास है, ऐसा कहा जा सकता है।

'विराटा की पद्मिनी' में वर्माजी ने कल्पना और जनश्रुति से अधिक काम लिया है। पर, मुख्य घटना ऐतिहासिक है। अनेक स्थानों और पात्रों के नाम काल्पनिक जान पड़ते हैं। इसका कथानक उस समय का है जब मुगलों का पतन हो रहा था; जब मुगलों की शक्ति सैयद भाइयों में केन्द्रित हो गई थी और दिल्ली का कमजोर बादशाह फर्रुखसियर उनकी उँगलियों पर नाच रहा था। देश के सभी देशी राजे स्वतन्त्र हो रहे थे। प्रान्तों के सूबेदार नाम-मात्र को दिल्ली के अधीन थे। उन दिनों पूर्वी बुन्देलखण्ड में छत्रसाल का राज्य था। इस उपन्यास की मूल कथा 'कुमुद' नाम की एक ग्रामीण युवती से सम्बन्धित है, जिसे गाँव वालों ने, उसके गुणों पर मुग्ध होकर, 'दुर्गा' की उपाधि दे रखी थी। दिलीपनगर के कुँअर कुञ्जरसिंह के साथ उसका प्रेम-व्यापार ही 'विराटा की पद्मिनी' का मूल कथानक है। पर आश्चर्य है कि यह प्रेम-व्यापार कभी प्रकाश में नहीं आया। समस्त उपन्यास में प्रेम की एक मूक वेदना ही स्पंदित हुई है। कुमुद के मूक उत्सर्ग के साथ इस दुःखान्त उपन्यास का अस्त हुआ है। प्रेम के कलात्मक और मनोवैज्ञानिक गुणों और विकास के कारण यह उपन्यास 'गढ़कुण्डार' की अपेक्षा अधिक सफल है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'कुमुद' और राजा नायकसिंह के चरित्र बड़े सजीव हैं। नायकसिंह वीर और कामुक दोनों हैं; 'कुमुद' भारतीय नारी का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है।

'झाँसी की रानी' का प्रकाशन सन् १९४६ में हुआ था। इसमें पहले दो उपन्यासों की अपेक्षा 'ऐतिहासिक सत्य' की रक्षा अधिक हुई है। इसके कई कारण हैं। प्रथम, इस उपन्यास का मूल कथानक सन् १८५७ की क्रांति पर आधारित है। द्वितीय, वर्माजी को इसके निर्माण में अधिक विश्वस्त सूत्रों से सभी प्रमुख घटनाओं का विवरण प्राप्त हुआ है। तृतीय, लक्ष्मीबाई के दत्तक पुत्र दामोदर राव से वर्माजी की इस सम्बन्ध में बातचीत भी हुई थी। इस उपन्यास में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई की समस्त जीवनी—बचपन से मृत्यु तक की—दी गई है। अध्ययन के क्रम में कभी-कभी ऐसा मालूम होता है कि लेखक ने उपन्यास को छोड़कर इतिहास लिखना आरम्भ कर दिया है। इसमें लक्ष्मीबाई की वीरता और देवी-तुल्य साहस का सुन्दर

और रोचक वर्णन हुआ है। गंगाधर राव के दोषों के परिहार की भी चेष्टा की गई है। वर्णन-शैली इतनी स्वाभाविक है कि उसकी मार्मिकता कभी-कभी पाठक को रुला देने की भी क्षमता रखती है। गीता और कृष्ण में रानी क आस्था, प्रसिद्ध डाकू को स्वयं बलपूर्वक कैद करके घोड़े पर क्रान्ति के संगठन और संचालन में रानी की कार्य-कुशलता, युद्ध में उसकी वीरता और तत्परता, पुस्तकालय को जलते देख रानी की आँखों में आँसू भर आना, पेशवा के साथ वीरतापूर्वक 'ह्यू रोज' के विरुद्ध लड़ना और अन्त में 'न····नं····द····ह····ति····पावकः' शब्दों के साथ रानी की मृत्यु उपन्यास की कुछ ऐसी मार्मिक घटनाएँ हैं जो सीधे हृदय पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाती हैं। उपन्यास में कुछ प्रेम-कथाएं भी आई हैं जो कल्पना और जनश्रुति पर आधारित हैं। ये प्रेम-कथाएँ मोतीबाई और खुदाबख्श की, जुही और ताँत्याटोपे की, सुन्दर और रघुनाथ की, नारायन शास्त्री और छोटी भंगिन की हैं। इनमें प्रथम तीन दुःखान्त हैं। ये सभी प्रेम-कथाएँ तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालती हुई रानी लक्ष्मीबाई के महान् व्यक्तित्व को व्यापक बनाती हैं। ब्राह्मण और भंगिन के प्रेम को लेकर जातीयता का जो विवाद खड़ा हुआ है, वह कम रोचक नहीं। उपन्यास प्रथम श्रेणी की रचना है।

'मृगनयनी' में ग्वालियर की १५वीं शताब्दी की राजनैतिक और सामाजिक अवस्थाओं का वर्णन हुआ है। इसकी मूल कथा में दो समानांतर प्रेम-कथाएँ जोड़ी गई हैं। एक है ग्राम-कन्या गूजरी मृगनयनी और ग्वालियर के राजा मानसिंह के वैवाहिक जीवन की और दूसरी गूजर अटल और अहीर-कन्या लाखी की। मृगनयनी और लाखी दोनों पहले सहेलियों के रूप में आती हैं। दोनों वीर हैं; मृगनयनी विशेष सुन्दर है। राजा मानसिंह मृगनयनी से विवाह कर लेता है। इधर लाखी का मृगनयनी के भाई अटल से प्रेम-व्यापार चलता है। किन्तु जात-पाँत के भेद-भाव के कारण दोनों को बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं। अंत में दोनों मानसिंह की ओर से सिकन्दर लोदी के विरुद्ध लड़ते हुए मारे जाते हैं। इस उपन्यास में 'राई' गाँव के ग्राम्य-जीवन और वन्य-जीवन का बड़ा ही आकर्षक और प्रभावशाली वर्णन हुआ है। जहाँ-तहाँ तत्कालीन राजनैतिक वातावरण का बड़ा ही रोचक वर्णन मिलता है। मालवा का कामुक शासक गयासुद्दीन मृगनयनी और लाखी को पाने के लिए ग्वालियर पर आक्रमण करता है। सिकन्दर लोदी ने भी ग्वालियर पर पाँच बार आक्रमण किये, राई गांव उजाड़ डाला, किन्तु ग्वालियर की उन्नति में कोई बाधा नहीं आई। समस्त उपन्यास में हास-परिहास, प्रेम-व्यापार, युद्ध-वर्णन और ललित कलाओं के बड़े ही रोचक वर्णन हुए हैं। 'मृगनयनी' के प्रकाशन से वर्मा जी इतने प्रसिद्ध हुए जितने पहले कभी नहीं हुए थे। निस्संदेह, यह हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का एक गौरव-ग्रंथ है।

निष्कर्ष

वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी के एक-मात्र ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। इन उपन्यासों का कथानक या तो जनश्रुति के आधार पर लिखा गया है, या खोज-

रिपोर्टों पर या फिर गहन अध्ययन द्वारा। निस्संदेह वर्मा जी और प्रेमचन्द हमारे युग के दो उत्कृष्ट उपन्यासकार हैं। इनके साथ प्रसिद्ध मानवतावादी उपन्यासकार राजा राधिकारमणप्रसाद का नाम भी लिया जा सकता है। वास्तव में, इतिहास के प्रहरी वर्माजी, गाँव के चौकीदार प्रेमचन्द और मानवता के संरक्षक राजा साहब आधुनिक हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की तीन ऐसी शक्तियाँ हैं जिन्होंने अपनी-अपनी दिशा में अद्वितीय कार्य किये हैं। यदि वर्माजी ने विगत युग की विभूतियों को एकत्र किया है और प्रेमचन्द्र ने वर्तमान की विभीषिकाओं को सामने खोलकर रखा है तो राजा साहब ने रूढ़िग्रस्त विगत युग और वर्तमान की संकीर्णताओं में फँसे रहने वाले मानव से सार्वभौम और सार्वकालिक दृष्टि अपनाने की अपील की है। वर्माजी की 'मृगनयनी', प्रेमचन्द का 'गोदान' और राजा साहब का 'टूटा तारा' हमारे उपन्यास-साहित्य के विजय-स्मारक हैं, जिन पर किसी भी देश के साहित्य को स्वाभाविक अभिमान हो सकता है। यहाँ वर्माजी और प्रेमचन्द की तुलना अप्रासंगिक न होगी। वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यासों में ऐतिहासिक और सामाजिक चेतना को अधिक और राष्ट्रीय चेतना को गौण महत्त्व दिया है। प्रेम-चन्द में सामाजिकता और राष्ट्रीयता का समान विकास हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द्र को 'भूत' ने कभी व्याकुल नहीं किया। उनमें वर्तमान जीवन में प्रवेश करने की गहराई अधिक है, वे उसकी वास्तविकताओं के प्रति, वर्माजी की अपेक्षा, अधिक संवेदनशील हैं। लेकिन वर्माजी में प्रेमचन्द की उपदेशा-त्मकता नहीं है। ललित कलाओं के उपासक वर्माजी ने अपने कथा-साहित्य में सूखे उपदेशों की झड़ी नहीं लगाई। पर भारतीय आदर्शों के संरक्षण में दोनों समर्थ हैं। प्रेमचन्द के पात्र जहाँ एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं वहाँ वर्माजी के चरित्र व्यक्तिवादी अधिक हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों के चरित्र प्रायः अहंवादी और व्यक्तिवादी होते हैं। उनकी (वर्माजी की) रचनाओं में चरित्रों की अधिकता नहीं होती। प्रेमचन्द के एक ही उपन्यास में पात्रों की संख्या अधिक होती है। चरित्र-चित्रण की प्रक्रिया में भी दोनों में स्पष्ट अन्तर है। प्रेमचन्द अपने चरित्र का मनोविश्लेषण करने में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि कथा का प्रवाह रुक जाता है, पर वर्माजी कथोपकथनों और घटनाओं के वर्णन द्वारा एक साथ, चरित्र-विकास और कथा-प्रवाह, दोनों का समुचित निर्वाह करते हैं। इस कला में वर्माजी बड़े कुशल हैं। यद्यपि प्रेमचन्द हिन्दी के एक बेजोड़ उपन्यास-लेखक हैं तथापि उपन्यासों की अपेक्षा उनकी कहानियाँ ही अधिक सफल हुई हैं, आलोचकों का ऐसा निष्कर्ष है। इसके विपरीत वर्माजी का कहानीकार उतनी प्रसिद्धि अर्जित न कर सका जितनी ख्याति उनका उपन्यासकार प्राप्त कर चुका है। भाषा-शैली की दृष्टि से भी प्रेमचन्द और वर्माजी में हम अन्तर पाते हैं। प्रेमचन्द पर जहाँ उर्दू का अधिक प्रभाव है, वहाँ वर्माजी पर स्थानीय भाषा का गहरा रंग है। प्रेमचन्द की भाषा वर्माजी की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक प्रवाहपूर्ण और सशक्त है। वर्माजी की वाक्य-रचना शिथिल है। प्रेमचन्द की अपेक्षा वर्माजी प्रकृति-चित्रण में अधिक सफल हुए हैं।

ऐसे स्थलों पर उनकी शैली अधिक आकर्षक और प्रभावोत्पादक है।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की एक अद्वितीय विभूति हैं। उन्होंने अपनी अनमोल ऐतिहासिक रचनाओं द्वारा हिन्दी के भण्डार को भरा है। इससे हमारे साहित्य का गौरव बढ़ा है।

: १५ :

कहानीकार प्रसाद और प्रेमचन्द

सांस्कृतिक पतन की पराकाष्ठा में महान् साहित्यकारों का आविर्भाव हुआ है, साहित्य का इतिहास इस बात का प्रमाण है। हिन्दी-साहित्य ही नहीं, विश्व-साहित्य के इतिहास में ऐसे अवसर बार-बार आए हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में प्रसाद और प्रेमचन्द ऐसे साहित्यकार थे, जिनके आविर्भाव की हमारे देश को, हमारे समाज को बड़ी तीव्र आवश्यकता थी। हर देश में ऐसे सुधी-साहित्यकारों का जन्म हुआ है, जिन्होंने एक साथ समाज के शरीर और मन की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए उनका उचित परिमार्जन किया है। रूस में टाल्सटाय और तुर्गनेव, बंगला में रवीन्द्रनाथ और शरत्चन्द्र तथा हिन्दी में प्रसाद और प्रेमचन्द ऐसे ही साहित्य-सेवी थे। मानव-मन को चाहिए विश्व-जनीन संस्कृति, और मानव-समाज को चाहिए एक सुव्यवस्थित तथा सुरक्षित जीवन। प्रसाद और प्रेमचन्द दोनों ने हमारे जीवन को बहुत-कुछ दिया। दोनों एक-दूसरे के पूरक थे। प्रसाद मानवीय संस्कृति के कहानीकार थे और प्रेमचन्द भारतीय समाज के। प्रेमचन्द ने यदि समाज को नई व्यवस्था की राह दिखाई तो प्रसाद ने उस नई व्यवस्था को नूतन संस्कृति का नवीन मार्ग दिया। एक ने यदि समाज-शरीर को सँवारा तो दूसरे ने मन की बासना को परिष्कृत किया।

ऐतिहासिक दृष्टि से, प्रेमचन्द और प्रसाद समसामयिक थे। दोनों ने हिंदी-कहानी-साहित्य को नई दिशा दी। दोनों हमारे युगांतरकारी कहानीकार थे। पर दोनों हमारे साहित्य में कहानी की दो परम्पराओं के संस्थापक हैं। हिन्दी में कहानीकारों के स्कूलों की भरमार चाहे न हो, लेकिन दो स्कूल—प्रसाद-स्कूल और प्रेमचन्द-स्कूल, स्फटिक की तरह स्पष्ट हैं। यह समझना कि प्रसाद और प्रेमचन्द की कहानी-साहित्य में या उनकी 'कृतियों में कोई विशिष्ट रूप-भेद अथवा रचना-पद्धति की भिन्नता नहीं पाई जाती,'[1] एक दुराग्रह है। प्रसाद और प्रेमचन्द की मनोवृत्ति, प्रवृत्ति और अभिव्यंजन-पद्धति में उतना ही अन्तर है, जितना नारी-पुरुष, चाँद-सूरज, तथा रूसी कहानीकार टाल्सटाय और तुर्गनेव में माना जाता है। प्रसाद की कला में नारी की कोमलता है और प्रेमचन्द की कला में पुरुष

१. 'हिन्दी-उपन्यास'—प्रो० शिवनारायण श्रीवास्तव, पृष्ठ १५५

पुर से प्रकाशित प्रसिद्ध उर्दू-पत्रिका 'जमाना' को कई मौलिक कहानियाँ दे चुके थे। सन् १९०७ में उनकी पहली कहानी, जो उर्दू में लिखी थी, 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' 'जमाना' में प्रकाशित हुई थी। इस तरह हम देखते हैं कि प्रेमचन्द प्रसाद से भी पहले कहानीकार के रूप में आ चुके थे। उर्दू में उसी साल उनका 'सोजे वतन' नामक पाँच कहानियों का संग्रह भी छपा था। अतः मौलिक कहानियों के सृजन में प्रेमचन्द और प्रसाद दोनों जाग्रत कहानीकार थे। इन्हीं दो लेखकों को हम आधुनिक कहानी के अग्रदूत कहेंगे, हिंदी और उर्दू में।

हिन्दी-कहानी के उषा-काल में प्रसाद के हम विशेष रूप से ऋणी हैं, क्योंकि इस काल में उन्होंने हमें बड़ी ही सशक्त कहानियाँ दीं। हिंदी-कहानी के साहित्याकाश में प्रसाद जी सूरज की वह पहली किरण थे, जिसके विकसित आलोक से हिन्दी-कहानी का आधुनिक साहित्य चमक उठा। जिस समय उन्होंने कहानी लिखना आरंभ किया, वह आधुनिक हिन्दी-कहानी का उषा-काल था। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि इस उदय-काल में ही उनकी इतनी प्रौढ़ कहानी की रचना संभव हो सकी। अतः यह कहना पड़ता है कि प्रसाद की कहानियाँ किसी प्रसन्न देवता का मुक्त वरदान हैं। यह प्रसाद की अपरिमेय प्रतिभा का ही चमत्कार था कि कहानी की बाल्यावस्था में इतनी सशक्त कहानियों की सृष्टि हो सकी। प्रसाद जी के पहले हिन्दी-कहानी का न तो कोई स्थिर प्रतिमान था और न मौलिक कहानियाँ ही लिखी जाती थीं। अधिकतर कहानियाँ अनूदित होती थीं। उन दिनों बँगला और विशेषकर रविबाबू की कहानियों की बड़ी धूम थी। हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में बंगला, फ्रेञ्च रूसी और अंग्रेजी कहानियों के अनुवाद धड़ल्ले से निकल रहे थे। प्रेमचन्द की प्रारंभिक कहानियों पर पाश्चात्य कहानी-कला का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है, लेकिन प्रसाद जी पर विदेशी कला का प्रत्यक्ष प्रभाव कितनी मात्रा में; कहाँ पड़ा है, इसका निर्णय सरल नहीं है। प्रसाद जन्म से मौलिकता के पुजारी थे। कहानी-सृजन की दिशा में उन्होंने अपनी इस साध को निभाया भी है। तो, प्रसाद आधुनिक हिन्दी-कहानी के प्रथम अग्रदूत थे, जिन्होंने अपनी सृजनात्मक शक्ति और प्रतिभा के बल पर हिन्दी-कहानी को प्राचीन कथा-पद्धति और परम्परा से मुक्त करके एक नितान्त नूतन कला का उपहार भेंट किया। प्रेमचन्द ने प्रारम्भ में विदेशी कहानी का अनुकरण किया था, पर प्रसाद भारतीय साहित्य की प्रिय कथा-परम्परा को अपनी संस्कारजन्य मौलिकता की संजीवनी देकर जिलाना चाहते थे। इस कार्य में वे सफल भी हुए। हिन्दी में प्रसाद जी ही पहले कहानीकार थे, जिन्होंने भारतीय कथा-परम्परा और उसकी पद्धति के अन्तर और बाहर का पूर्ण आधुनिक संस्कार किया। उन्होंने शरीर से अधिक आत्मा, और रूप से अधिक अन्तःशक्ति को मान्यता दी। उसकी कहानियाँ हमारे हृदय के किसी उन्मुक्त भाव-रस का उद्-बोधन करती हैं। उनके सभी पात्र मानव-मन की रहस्यमयी वृत्तियों को खोलने का प्रयत्न करते हैं, जो किसी रहस्यमय अभाव से पीड़ित रहते हैं; वैभव की गोद में पलकर भी दुखी हैं; संसार के सभी सुख-साधन उपलब्ध होते हुए भी वैरागी हैं;

किसानों के मानसिक गठन और मध्य वर्ग के दृष्टिकोण को उस समय अत्यन्त विश्वास के साथ रखा था, जिस समय इस देश के राजनैतिक और सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे।"[1] इसके विपरीत प्रसाद यदि महान् हैं तो इसलिए कि उन्होंने पतित देश को ऐसी सांस्कृतिक चेतना का संदेश दिया जो (देश) कई सौ वर्षों से परम्परा से चली आती हुई भारत की विश्व-जनीन संस्कृति को भुला चुका था।

प्रेमचन्द और प्रसाद की कहानियों का सम्यक् अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि जहाँ प्रेमचन्द के विचार क्रमशः बदलते गए हैं वहाँ प्रसाद की विचार-धारा सदैव एक ही दिशा में प्रवाहित होती गई है। सन् १९३० से १९३६ के बीच प्रेमचन्द ने जितनी कहानियाँ लिखीं, वे आरम्भिक कहानियों से बिलकुल भिन्न हैं। पर प्रसाद की सभी कहानियों में उद्देश्य की समरसता और विचार की दृढ़ता दृष्टिगत होती है। इसके अतिरिक्त, प्रेमचन्द की अधिकांश कहानियाँ 'मनोविज्ञान' की अनुभूतियाँ हैं; जिनमें उन्होंने चरित्रों की सृष्टि की है। प्रसाद की कहानियों में भी चरित्रों का सृजन हुआ है; पर वे 'मनोविज्ञान की अनुभूति' के स्थान पर रस का संचार करते हैं। एक बार प्रसाद जी ने बातों के सिलसिले में रायकृष्णदास जी से कहानी की परिभाषा बतलाते हुए कहा था : "आख्यायिका सौंदर्य की एक झलक का रस है।" प्रसाद जी ने सौन्दर्य की इस 'रसात्मक झलक' को करुण भावों के चित्रण में व्यक्त होने दिया है। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने उनकी कहानियों के बारे में ठीक ही लिखा है : "प्रसाद की कहानियों में एक निष्फल यौवन, एक करुण प्रणय, एक दर्दीली स्मृति के चित्र भिन्न-भिन्न प्रकार से चित्रित होते रहते हैं और इन्हीं के साथ किसी सूक्ष्म मानवी मनोवृत्ति की एक पतली-सी रहस्यपूर्ण रेखा भी खींच दी जाती है। उनकी सभी कहानियों के प्लाट प्रायः एक-से ही हैं, केवल स्थान और पात्रों के नाम में ही अनेकता है।"[2]

प्रेमचन्द और प्रसाद की कहानियों के अध्ययन से दोनों की प्रवृत्तियों और व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक मिल जाती है। प्रसाद का कवि व्यक्तित्व उनकी कहानियों में स्पष्टतः निखरा है। उनकी कहानियाँ गद्य-काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं। प्रेम-चन्द के साथ ऐसी बात नहीं है। वे व्यावहारिक अधिक और भावुक कम हैं। पर दोनों का साहित्य विश्व की अमिट संपत्ति है। इन पर किसी भी देश को गर्व हो सकता है।

---

१. 'प्रेमचन्द'—डा० इन्द्रनाथ मदान
२. 'हमारे साहित्य निर्माता'—पृष्ठ—११०

हैं कि उनकी अगवानी के लिए बीसवीं सदी स्वयं उनके माता-पिता की प्रकृति में आ बैठी थी। माता का अमित दुलार, पिता का संपूर्ण स्नेह महादेवी को बचपन में ही सुलभ था। इनके पिता एक हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक थे। जिससे पिता की दृष्टि इस होनहार बाला को विदुषी बनाने की ओर स्वयं गई। महादेवी को संस्कृत की शिक्षा देने के लिए विशेष अध्यापक रखे गए थे। जिससे वह अपने देश की संस्कृति और विचार-धारा से परिचित हो सके। संस्कृत महादेवी का प्रिय विषय था। भाषा की प्रौढ़ता, गंभीरता, प्रवाह और सरसता महादेवी की कला-भावना को मानो बचपन से ही सहारा देती चली। उस कला को मृदु प्राण मिल गए बौद्ध-दर्शन से, गौतम बुद्ध की उन छोटी-छोटी जीवन-कथाओं से, जिनमें उन्होंने गौतम को मेमने पर दयार्द्र होते और वृद्ध की अवस्था पर करुणा-सिक्त होते देखा था। बौद्ध-दर्शन के शून्यवाद ने महादेवी को प्रभावित किया ही, पर साथ ही उससे भी अधिक मूल्यवान् एक व्यंजना उनके कोमल शिशु-मन को मिल गई थी मानव-मात्र के प्रति जीव-मात्र के प्रति सहानभूति की भावना। यही विन्दु महादेवी की कला में क्रमशः विकास पाता रहा है और बढ़ते-बढ़ते आज तक की उनकी कविता में स्पष्ट होता गया है। संसार के दुःख से अपनी व्यक्तिगत अनुभूति को तरल करके, महादेवी ने काव्य में सुखानुभूति की भावना मन में पैदा की। वही करुणा उनकी कला का प्राण है।

महादेवी की प्रकृति आरम्भ से ही स्थिर, शान्त और गंभीर रही है। बचपन से ही कुछ सोचते रहने का अभ्यास-सा उन्हें था। उनकी वही अन्तर्मुखी वृत्ति उन्हें बौद्ध-दर्शन के शून्यवाद या रहस्यवाद की ओर खींच ले गई। नारी की कोमलता ने उन्हें कोमल भावनापूर्ण गीतियों की प्रेरणा दी। बचपन की इन्हीं प्रवृत्तियों का विकास महादेवी की कला में देखा जा सकता है।

महादेवी बचपन से ही अन्तः कठोर रही हैं। एक आदर्श और एक सिद्धान्त उन्हें सदा ही प्रिय रहा है और उस आदर्श से चिपके रहने की विशेष क्षमता भी उनमें प्रारम्भ से ही रही है। इसी प्रवृत्ति ने उन्हें एक साधिका के रूप में परिणत कर दिया, जिसके फलस्वरूप वे कोलाहल से दूर, प्रचार-भावना से परे रहकर चुप-चाप अपनी वीणा के गीले तारों पर स्वर-संधान करती रही हैं। जिस प्रकार बचपन में अपने हठ के आगे महादेवी किसी की सुनने की नहीं, यों न माने तो अश्रु-धार की सहायता से अपनी टेक पूरी करके ही मानती थीं, उसी प्रकार युग की चहल-पहल का प्रभाव महादेवी पर न पड़ा। अपने स्वीकृत दर्शन पर वे आरम्भ से आज तक दृढ़ हैं। और जब प्रायः सभी कवियों ने गलियाँ बदल-बदलकर सैर की हैं, महादेवी काव्य में अपने सीधे पथ पर अविश्रान्त भाव से चलती चली जा रही ह।

बचपन में ही महादेवी में दो चीजें स्पष्ट रूप से प्रकट थीं। एक थी करुणा और दूसरी थी दृढ़ता। करुणा की रस-धारा अश्रु-काव्य में उमड़ पड़ी। दृढ़ता की परिणति एक निर्धूम ज्वाला में हुई; जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने गद्य में की है

ओर कर रही हैं। उनकी सम्पूर्ण कर्मठता, और क्रान्तिकारी भावनाएँ गद्य में ही अभिव्यक्ति पा सकी हैं।

किन्तु महादेवी की संपूर्ण भावुकता बचपन के दिनों में लिखित पंक्तियों में व्यक्त नहीं हो सकती थी और मन में उन्हें दबाकर उन्हें मिटा देना उनके वश की बात नहीं थी। इसीलिए उनके जीवन में चित्र-कला की प्रेरणा भी सशक्त हो पड़ी और जिसे ये लिख न पाती उसकी छवि वे बैठी-बैठी यों ही घंटों सोचती रहतीं, उसे रेखाओं में बाँधना चाहतीं, न बँधने पर उसे मिटा देतीं, पर फिर-फिर प्रयास करती ही जातीं—उनकी दृढ़ता उनकी प्राथमिक असफलताओं से पराजित न होने पाती। फलत: आगे चलकर महादेवी चित्रकारिता में भी अपूर्व सफलता पा सकीं, जिसके प्रमाण हैं 'यामा' और 'दीपशिखा' में मुद्रित उनके चित्र।

बचपन से ही महादेवी कला की उपासिका रही हैं और कर्तव्य-निष्ठा, लगन, गंभीरता, दृढ़ता उनके बचपन के ही गुण हैं।

ऐसा था महादेवी का बचपन।

: १७ :

नई हिन्दी-कविता का भविष्य

आधुनिक अभिशप्त युग के सामने आज जो दो समस्याएँ प्रधान बनकर आई हैं, वे हैं रूप और रुपया। इसे साधारण भाषा में हम चाहे कामिनी कहें या कंचन, या आहार-विहार; पर आज की स्पष्ट भाषा में तो इसका अर्थ रोटी और सैक्स है। सम्पत्ति और सैक्स आज के कलाकार की सबसे बड़ी समस्या है। वह इन्हीं दो पहलुओं को सुलझाने का प्रयत्न करता है। पर उसके सामने एक और द्वन्द्व है—बुद्धि और भावना का, मन और मस्तिष्क का। परम्परा और परिस्थितियों के संगम पर वह अपने काव्य का निर्माण तो करना चाहता है पर रचना की 'मधुमती भूमिका' में वह दो क्षण भी अपने को वर्तमान कोलाहलमय वातावरण से ऊपर नहीं उठा पाता और फिर तुरन्त ही युग के झावात में बह जाता है। वर्तमान समाज का हर व्यक्ति आज कुण्ठाओं का शिकार है। कलाकार या कवि भी इससे अछूता नहीं। यह ठीक है कि प्रत्येक व्यक्ति की कुण्ठा और अतृप्ति के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं; लेकिन आज के साहित्य में इसका वेग अधिक तीव्र दिखाई पड़ता है। पर युग की मृगतृष्णा और कलाकार की लालसा में अन्तर है। युग की धारा अपना रास्ता बनाती है और कलाकार अपना निर्माण करता है। लेकिन आज के कलाकार पर युग के धर्म और उसकी परिस्थितियों का जितना प्रभाव पड़ा है उतना किसी भी दूसरे युग में नहीं पड़ा। आज का कवि सबसे पहले अपनी प्यास बुझाना चाहता है, अपने लिए जीना चाहता है। साहित्य के संसार में भावना की यह संकीर्णता इस युग के साहित्य की अपनी देन है। परिणामतः माँ-भारती के मन्दिर में आज वह जो-कुछ भी अर्पित कर रहा है वह प्राचीन परम्परा से असम्बद्ध और स्वतंत्र है। आज वह समस्त रूढ़ियों और विगत विश्वासों को कुचलकर साहित्य की एक नई पगडण्डी बनाना चाहता है। अब वह भावुक नहीं रहा। बुद्धि की परिधि में इतना सिमट गया है कि संवेदना और भावना उससे कोसों दूर जा पड़ी हैं। वह अपने दर्द-दिल की कहानी सुनाने में ही अधिक रस लेता है। और अचानक कह उठता है :

मेरा तन भूखा मन भूखा
मेरी फैली युग बाहों में
मेरा सारा जीवन भूखा।

और तभी उसका ज्ञान और राग एक ऐसे मिलन-बिन्दु पर पहुँच जाता है जहाँ आकाश की गम्भीरता नहीं, सागर की गहराई नहीं, और चिन्तन की चेतना नहीं। वह अपनी समस्त मानसिक कुण्ठाओं को सामाजिक अन्याय और राजनैतिक संघर्ष की कुरूपताओं में डुबा देना चाहता है। युग की गंगा से वह इतना प्रभावित है कि आत्म-बल और आत्मिक चेतना की अंतर्ध्वनि को सुनना नहीं चाहता। वह विश्वास के शब्दों में युग की दुहाई देकर कह उठता है :

युग की गंगा,
पाषाणों पर दौड़ेगी ही।
लम्बे, ऊँचे पथ को रोके,
चट्टानों को तोड़ेगी ही।
युग की गंगा,
सब प्राचीन डुबायेगी ही।
नई बस्तियाँ, नये निकेतन,
नव संसार बसायेगी ही।
युग की गंगा,
अन्धकार को भेदेगी ही।
गुहा गर्त से जाकर आगे,
सूर्योदय से खेलेगी ही।
युग की गंगा,
सूनी खेती सींचेगी ही।
भूखी, प्यासी, दुर्बल,
निर्बल धरती को हरियाएगी ही।

यह है हिन्दी-कविता का नया मोड़, जिसे हम 'प्रगतिवाद' के नाम से पुकारते हैं। लेकिन प्रगति का मार्ग रोककर खड़ा हो गया है 'प्रयोग', और लगा है वह साहित्य की नई तान छोड़ने। किसी भी क्रिया के साथ प्रतिक्रिया के भाव बीज रूप में उसीमें छिपे रहते हैं। एक समय था जब छायावाद ने द्विवेदी युग की शुष्कता के प्रति भावुकता का राग अलापा था और एक युग वह भी था जब प्रगतिवाद ने अपनी समस्त शक्तियों के साथ भावना की गर्दन मरोड़कर बुद्धिवाद की स्थापना की थी। लेकिन अब दोनों के सिर पर एक नया दबाव होने लगा है और वह 'तार-सप्तक' के सितार पर नई धुन गुनगुना रहा है और 'नकेनवाद' के नगाड़े की चोट पर यह कहना चाहता है कि मैं हिन्दी-साहित्य में सर्वथा मौलिक अध्याय खोलने का दावा रखता हूँ।

प्रगतिवाद ने छायावाद के सौन्दर्यवादी मापदण्ड के बदले साहित्य को सामाजिक चेतना का मापदण्ड दिया था और इस मापदण्ड का उद्देश्य मनुष्य की सामाजिक चेतना को अधिकाधिक तीव्र और सावधान करना था। यह एक समाजगत व्यापक उद्देश्य था। जिसमें जन-जीवन के सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने की सम्भा-

[illegible] छिपी थीं। उसने वर्गहीन और जातिहीन समाज का सपना देखा था और [illegible] से वर्ग-संघर्ष को मिटाकर मनुष्य के लिए एक नया पथ तैयार करना चाहा था। लेकिन प्रगति का फूल प्रस्फुटित होने को ही था कि अचानक उस पर 'प्रयोग' का वज्र-वर्षण हो गया। अस्तु, छायावाद और प्रगतिवाद आज परिवर्तन की प्रक्रिया में मन्द पड़ते जा रहे हैं और उसके चरण शिथिल पड़ गए हैं। अस्तु, प्रगतिवादी कही जाने वाली कविता की नई परम्परा भी प्रतिक्रिया का शिकार होने लगी है। कुछ नवयुवक कवियों और लेखकों ने इस धारा को दूसरी ओर मोड़कर ले जाना चाहा है। 'प्रयोगवाद' के समर्थकों का यह मत है कि "भाषा को अपर्याप्त पाकर, विराम संकेतों से अङ्कों और सीधी-तिरछी लकीरों से छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उल्टे अक्षरों से, लोगों या स्थानों के नामों से अधूरे वाक्यों से, सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके ... ... प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किया है किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं उनसे आगे बढ़कर उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी नहीं छुआ गया है या जिनको अभेद्य मान लिया गया है।"[1] प्रयोगवादी स्कूल के कवि इन्हीं मान्यताओं और सिद्धान्तों के समर्थक हैं। जिस तरह दुर्बल शिशु के जन्म लेने पर माता-पिता के हृदय में उसकी असामयिक मृत्यु की आशंका होने लगती है, उसी तरह प्रयोगवाद भी अपने जन्म के आरम्भिक वर्षों में ही अपने 'अन्त' का संकेत पाने लगा है। जिस तरह आरम्भ में प्रगतिवाद के विरुद्ध आवाजें उठी थीं उसी तरह प्रयोगवाद के विरोध में भी आज हिन्दी-साहित्य-संसार में जहाँ-तहाँ कठोर शब्दों का प्रयोग किया जा रहा है। कहा जाता है कि यह प्रयोगवाद कुछ विश्वविद्यालयों के उन अध्यापकों की अनियंत्रित सृष्टि है जिनको हिन्दी-साहित्य ने कोई स्थान नहीं दिया। ये अचानक एक नये वाद की सृष्टि करके अपने को अमर कलाकारों की पंक्ति में खड़ा करना चाहते हैं। लेकिन वाद का ववंडर अधिक दिनों तक नहीं चलता। प्रयोगवाद ने हिन्दी-कविता के स्वाभाविक प्रवाह को रोककर एक कृत्रिम दीवार खड़ी कर दी है। फलतः उसमें आज एक गतिरोध आ गया है। अगर यह कहा जाय कि पंत और दिनकर के बाद हिन्दी-कविता का मार्ग अवरुद्ध हो गया है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। न तो प्रगतिवाद ने किसी प्रौढ़ कवि को जन्म दिया और न प्रयोगवाद ने ही।

अब प्रयोगवादी कविता का एक प्रतिनिधि उदाहरण लिया जाय। एक कवि जी रात-भर जागकर लिखते-पढ़ते रहे—सवेरा हो गया। धर्मपत्नी चाय ले आईं। पति ने कागजों पर चाय रख देने का आदेश दिया और कमरे से बाहर कर दिया। इतने में ही उनका बच्चा माला का जाप करता हुआ पहुँचा—ई से ईश्वर, उ से उल्लू। वह भी चलता बना। कविजी ने उसे भी डाँटकर कमरे के बाहर कर दिया। यह प्रसंग उनकी कविता का एक साकार चित्र बन गया और वे

१. अज्ञेय

इन पंक्तियों को लिख गए :

आह सारी रात,
चाय रख दो कागजों पर ।
या निशां सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
ई, ईश्वर, उ, उल्लू, चल हट बेटा ।

यह है प्रयोगवादी कविता का नंगा रूप; जिसमें कवि के मस्तिष्क का प्रलाप दिखाई पड़ता है। इसमें न शब्द-योजना है और न छन्द-योजना; न संगीत है, न भाव; न लक्षण है, न ध्वनि। ऐसा मालूम होता है जैसे कवि के कंठ में कोई भारी पत्थर अटका हुआ है और वह उसे निकालने में असमर्थ है। इस कविता की कूची में न रंग है, न संगीत की मिठास। इनकी उपमाएँ पाठक को चकित करती हैं, आकर्षित नहीं। कविता की इस नग्नता और भाव-शून्यता में कितना स्थायित्व है इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

जहाँ तक इस नई कविता के भविष्य का प्रश्न है मेरा अनुमान है कि यह भी साहित्य में स्थायी स्थान ग्रहण न कर सकेगी। जिस कविता में भावना और विवेक का संतुलन और सम्मिश्रण होगा वही भविष्य की धारा में चट्टान की तरह अटल रहेगी। हम न तो केवल हृदय के राग को ही लेकर जी सकते हैं और न बौद्धिक चिन्तन को लेकर ही प्रगति के पथ पर आगे बढ़ सकते हैं। बुद्धि के विना भावना अंधी और भावना के विना बुद्धि लँगड़ी है। अस्तु, भविष्य में हिन्दी-कविता में इन दोनों का सम्बन्ध उचित होगा।

जहाँ तक प्रयोगवाद की बौद्धिकता और उसकी रचना के विलास का प्रश्न है वह युग की परिस्थितियों के अनुकूल भी नहीं है; क्योंकि उसका कवि व्यक्ति की आकांक्षाओं, आशाओं और निराशाओं की परिधियों में सिमटा बैठा है। जो दोष छायावाद ने व्यक्तिवाद पर लगाया था, प्रयोगवाद आज उसीका शिकार है। इसलिए भविष्य में यह प्रगतिवाद से भी बाजी नहीं मार सकता; क्योंकि इसमें सामाजिक सजगता और जागरूकता का अभाव है। यद्यपि यहप्र योगवाद प्रगतिवाद की ही एक शाखा है, क्योंकि सभी प्रयोगवादी थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ मार्क्स के विचारों से सहमत हैं, लेकिन इन पर (प्रयोगवादी) फ्रायड के मनोविज्ञान का प्रभाव अत्यधिक मालूम होता है, जो आज जीवन का पुराना अध्याय बन चुका है। मेरा अनुमान है कि भविष्य में हिन्दी-साहित्य नई शैलियों के साथ नये भावों को भी जन्म देगा, लेकिन उसका आधार प्रयोग न होकर प्रगति होगा, जो अतीत और वर्तमान, पूरब और पश्चिम सबकी मान्यताओं का एक संगम बनायगा, जहाँ भावना और बुद्धि का अद्‌भुत मेल होगा। वास्तव में, छायावाद के बाद हिन्दी-कविता में किसी निश्चित युग का प्रारंभ अभी तक नहीं हुआ है। हम अभी फ्रांसीसी साहित्य, अंग्रेजी-साहित्य, अमेरिकन साहित्य की नई-पुरानी रोशनी में अपनी कविता का मन्द प्रकाश जगा रहे हैं, जिसमें अनुकरण अधिक और सृजन कम है। हम छलाँग मारकर विश्व-साहित्य के रंगमंच पर आ जाना चाहते हैं और अपने साहित्य में भी

उन तमाम अद्भुत विचित्रताओं को देखना चाहते हैं जो संसार के समृद्ध साहित्यों में देखी जा चुकी हैं या आज दिखाई जा रही हैं। लेकिन सच तो यह है कि किसी भी देश का साहित्य उस देश का दर्पण होता है। उसकी अपनी विशेषताएँ होती हैं। अनुकरण की नींव पर साहित्य का भवन टिकाऊ नहीं होता। उसके लिए सृजनात्मक कल्पना और युग-चेतना का सम्मिलित योग चाहिए। मेरा विचार है कि हिन्दी की भविष्यत् कविता छायावाद और प्रगतिवाद का संगम बनकर युग-चेतना में नया प्रकाश और नया विकास ला सकेगी।

दूसरा खण्ड

युग-प्रवर्तक गद्यकार

: १ :

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु के पहले भारत में संघर्ष चल रहा था। राजनीति के क्षेत्र में अराजकता थी। देश के सभी कोनों में हलचल मची थी। सन् १८५७ का विद्रोह अभी समाप्त हुआ था, किन्तु शोषक और शोषित की मानसिक प्रवृत्तियों का संघर्ष भीतर-ही-भीतर चल रहा था। हारी हुई शक्तियाँ मुहर्रम मना रही थीं और विदेशियों का डंका सभी जगह पिटने लगा था। साम्प्रदायिकता ने हिन्दू-मुसलमानों की दुर्बल भावनाओं में घर करके उनके ऐश्वर्य को मिट्टी में मिला दिया था। इस अव्यवस्था और निराशा का परिणाम यह हुआ कि किसी को समाज और संस्कृति के पुनरुत्थान का न तो अवकाश ही मिला और न उत्साह ही। सभी अपनत्व खोकर अंग्रेजी रंगों से अपनी सभ्यता, रहन-सहन, दिल-दिमाग सब-कुछ रँगने लगे। चारा ही क्या था, उनके जीवन के सभी तार झनझनाकर टूट चुके थे।

इस राजनीतिक हलचल का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। इसीलिए सैकड़ों वर्षों तक किसी सत्साहित्य का निर्माण नहीं हुआ। अब ऐसा अवसर आया जब हिंदी और उर्दू वाले अपनी चूल्हा-चक्की अलग करने लगे और तब हिंदी लेखकों को यह चिंता सताने लगी कि किस मार्ग का अनुसरण किया जाय? राजा शिवप्रसाद ने यह विचार प्रकट किया कि उर्दू को त्यागना असम्भव है, इसके बिना हिंदी सर्वसाधारण के बीच नहीं पहुँच सकती। राजा लक्ष्मणसिंह ने प्रतिवाद किया कि हिंदी-उर्दू के बिना भी जीवित रह सकती है, इसके लिए संस्कृत की सहायता पर्याप्त है। मुं० सदासुखलाल 'सुख सागर' लिखने बैठे, इंशाअल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी, लल्लूलाल जी 'प्रेमसागर' में रम गए और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना प्रस्तुत की; किंतु इन सबकी भाषा-शैली में मतैक्य नहीं है। प्रचार की दृष्टि से तो इनकी खूब चली; किंतु साहित्यिक दृष्टि से इनमें अनेक दोष थे। भाषा-विज्ञान का कोई निश्चित सिद्धांत इनमें नहीं था। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये सभी हिंदी-गद्य की प्रारम्भिक पुस्तकें थीं, जिन्होंने जनता पर हिंदी-गद्य-शैली का प्रभाव डालने का प्रयत्न किया था। इन रचनाओं की एक और दुर्बलता यह थी कि शब्दों का चुनाव ठीक नहीं होता था। इनका भाषा-शैली-सम्बन्धी कोई निश्चित दृष्टिकोण नहीं था, प्रांतीयता की गन्ध आ रही थी। जिस स्थान पर जिस शब्द को लोग साधारणतः जानते थे उन्हींको आश्रय दिया जाता था। अतः शुद्ध

साहित्यिकता का सम्पूर्ण अभाव था। इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में मुहावरों का अभाव था। कुछ को संस्कृत के प्रति अधिक मोह था और वे भाषा पर अलंकार का बोझ डाल देते थे। अनुप्रास और समास के साथ उपमाएँ भी बहुत होती थीं। राजा शिवप्रसाद ने पाठ्य-पुस्तकों निर्माण किया, जिनसे विद्यार्थियों की एक बड़ी कमी की पूर्ति हुई। राजा लक्ष्मणसिंह ने अंग्रेजी से अनुवाद किया। किंतु इन सभी आचार्य-चतुष्टय और दो राजाओं की भाषा व्याकरण के दोषों से मुक्त नहीं थी, यद्यपि इनके द्वारा खड़े किये गए गद्य-शैली के आधार ने हिंदी-साहित्य के इतिहास में एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण अध्याय खोलने का प्रयत्न किया था।

भारतेन्दु की भाषा-नीति

अब तक जिस गद्य में कुछ लेखकों ने जो कुछ भी लिखने का प्रयत्न किया था उस पर ब्रजभाषा का प्रभाव अत्यधिक था और खड़ी बोली का ठीक से संस्कार नहीं हुआ था। लल्लूलाल, सदल मिश्र आदि की भाषा में कहीं पंडिताऊपन था, तो कहीं पूर्वीपन। वाक्यों की क्रियाएँ विचित्र थीं, इसका कारण यह था कि शैली अभी परिष्कृत नहीं हुई थी। वाक्य-विन्यास इसीलिए शिथिल होते थे। भारतेन्दु ने एक साथ भाषा के कई अभावों को दूर किया। उनकी दृष्टि उपयुक्त सभी लेखकों की भाषा पर थी। उनकी आँखों में भविष्य का सुहानापन चमक रहा था। उन्होंने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। जिसमें न तो उर्दू और फारसी का भार था और न संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही बोझ। हम कह सकते हैं कि उन्होंने राजा लक्ष्मण-सिंह और राजा शिवप्रसाद की भाषा में सामंजस्य लाने की चेष्टा की और आवश्य-कता, विचार तथा भाव के अनुसार शब्दों का चुनाव किया। हिंदी-शब्द-कोष का भी उन्होंने सुधार किया। हिंदी-व्याकरण के सिद्धांतों का सावधानी के साथ पलन करने वाले वे हिंदी के प्रथम लेखक थे। विदेशी शब्दों को उन्होंने हिंदी की प्रकृति के अनुसार ही ग्रहण किया। इसी प्रकार ब्रजभाषा में भी भारतेन्दु ने कुछ आवश्यक परिवर्तन किये। उन्होंने अधिकांश कविताएँ ब्रजभाषा में ही लिखीं, क्योंकि उस समय तक खड़ी बोली शक्तिशालिनी नहीं हो पाई थी। रीतिकाल के बाद ब्रजभाषा का ह्रास होने लगा था। इसीलिए उसे स्वाभाविक सौंदर्य तथा माधुर्य प्रदान करने में उन्होंने बड़ा परिश्रम किया। युग के अनुसार भाषा में अन्तर आना स्वाभाविक है। अब नये शब्दों को ब्रजभाषा में स्थान दिया जाने लगा। नाटकों के लिए भारतेन्दु जी ने भिन्न प्रकार की भाषा को जन्म दिया। उनकी भाषा विशुद्ध खड़ी बोली नहीं है, पर बहुत सरल है। जहाँ-जहाँ उन्होंने करुण भावों की उद्भावना की है वहाँ का शब्द-चयन अधिक काव्यात्मक है। उस पर कवित्व का प्रभाव अधिक है। इनके शब्द प्रायः छोटे-छोटे और सरल होते हैं। प्रचलित शब्दों को साहित्यिक रूप देकर तथा उर्दू, फारसी और सरल तत्सम शब्दों का प्रयोग उन्होंने बड़ी कुशलता के साथ किया है। शब्दों की कोमलता पर विशेष ध्यान रखा है और 'स्नेह' के बदले 'नेह', 'स्वभाव' के बदले 'सुभाव' तथा 'अंचल' के बदले 'आँचल' शब्दों का प्रयोग उन्हें अधिक

आता था। इससे यह सिद्ध है कि उनकी गद्य-शैली से ब्रजभाषा का प्रभाव मिटा नहीं था। भारतेन्दु जी ने अनुवाद की भाषा में अधिक-से-अधिक सरसता और माधुर्य डालकर मौलिक ग्रन्थों का सौंदर्य लाने की चेष्टा की है। अनुवाद में पद्य की भाषा तो ब्रजभाषा है किन्तु उसमें एक प्रकार की आधुनिकता प्रतीत होती है, जो उन्हें प्राचीन कवियों से भाषा की दृष्टि से, अलग करती है।

भारतेन्दु की शैली

जिस प्रकार भारतेन्दु की भाषा समन्वय की एक निश्चित योजना उपस्थित करती है उसी प्रकार उनकी शैली में भी हम राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मण-सिंह की शैलियों का समन्वय पाते हैं। उन्होंने मुहावरों और कहावतों का अच्छा प्रयोग किया। तत्कालीन लेखकों में ऐसे प्रयोग नहीं दिखाई देते। उन्हें लल्लूलाल जी का ब्रजभाषापन, लक्ष्मणसिंह का विशुद्ध हिन्दीपन तथा शिवप्रसाद जी का उर्दूपन मान्य नहीं था। भाषा-शैली को मधुर, मुहावरेदार और प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए उन्होंने हिन्दी-उर्दू में कोई भेद-भाव नहीं माना। भारतेन्दु जी के नाटकीय पात्रों की भाषा प्रेमचन्द जी की तरह विभिन्न प्रकार की है। उनके विद्वान् पात्र विशुद्ध हिन्दी तथा गँवारू पात्र सरल तथा अपभ्रंश हिन्दी का व्यवहार करते हैं, इसी प्रकार मराठी और बंगाली पात्र स्वभाव के अनुसार विकृत उच्चारण करते हैं। इनकी शैली भाव और विषय के अनुरूप चलती है तथा सरलता और मधुरता से पूर्ण रहती है। वे राष्ट्र के सच्चे सेवक और युग के प्रति जागरूक थे। उनकी शैली की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें ओज बहुत अधिक है; साथ ही कृत्रिमता का कहीं नाम नहीं। भारतेन्दु की शैली में हम उनके व्यक्तित्व की झलक पाते हैं; क्योंकि वे महान् कलाकार थे और सदा अपने भावों के प्रति ईमानदार बने रहे। उनकी शैली में सदल मिश्र का-सा पण्डिताऊपन कहीं नहीं दिखाई पड़ता। यद्यपि वे व्याकरण की ओर सदा सावधान रहे, फिर भी उस समय तक व्याकरण का अधिक विकास नहीं हुआ था। यही कारण है कि कहीं-कहीं व्याकरण-सम्बन्धी दोष, विशेषतः लिंग-निर्णय में, दिखाई देते हैं। 'कृपा की है' के बदले 'कृपा किया है' या 'श्यामता' के बदले 'श्यामताई' इसी प्रकार की अशुद्धियाँ हैं। किन्तु ये दोष कोई महत्त्व नहीं रखते।

भारतेन्दु जी की शैलियाँ चार प्रकार की हैं—

(i) परिचयात्मक शैली—इस शैली का निर्माण साधारण 'मूड' में हुआ होगा। यही भारतेन्दु जी की साधारण शैली है। इसके वाक्य छोटे और मुहावरे-दार हैं। भाव के अनुरूप ही भाषा का रूप चला है, किन्तु सरसता के साथ सरलता सदा वर्तमान रही है। इस प्रकार की शैली का प्रयोग सर्वप्रथम भारतेन्दु जी ने ही किया है। इसलिए उसमें उनके मिलनसार व्यक्तित्व की छाप देखी जा सकती है। करुण और शृंगार रसों में यह शैली और भी निखरी है।

(ii) भावात्मक शैली—भावात्मक शैली भारतेन्दुजी के भावावेश की

परिचायक हैं। एक सरल कवि होने के नाते ये अपनी शैली में कवित्व-प्रदर्शन करने में अपने युग के सभी लेखकों से आगे बढ़े हुए थे। 'भारत जननी,' 'भारत दुर्दशा', 'चन्द्रावली' आदि पुस्तकों की शैली इसी प्रकार की है। उस शैली में ओज और राष्ट्रीय प्रेरणा भी मिलती है। आवेशपूर्ण स्थलों में छोटे-छोटे शब्दों की सजावट अच्छी बन पड़ी है।

(iii) **गवेषणात्मक शैली**—इस शैली में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। साथ ही संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक व्यवहार हुआ है। इस शैली को दो क्षेत्रों में अपनाया गया है; पहला साहित्यिक निबंधों में और दूसरा ऐतिहासिक निबंधों में। पहले वाले में सरसता है और दूसरे में शुष्कता। इस शैली के अन्तर्गत भारतेन्दु जी ने अपने गम्भीर भावों को प्रकट किया है। इसमें वाक्य-विन्यास आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है।

व्यंग्यात्मक शैली—व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग सर्वप्रथम भारतेन्दु जी ने ही किया था, जिसका अनुसरण द्विवेदी जी ने सफलतापूर्वक किया है। इस शैली में व्यंग और आक्षेप विनोदपूर्ण ढंग से किये गए हैं। इसमें शब्द अशिष्ट नहीं होते। इनके जीवन-काल में ही इस शैली का क्षेत्र विस्तृत होने लगा था और सामाजिक पाखण्डों की खिल्ली उड़ाई जाने लगी थी।

भारतेन्दु के बाद

भारतेन्दु-युग हिन्दी-साहित्य की एक ऐसी कड़ी है जो प्राचीन काल और आधुनिक काल को जोड़ती है। हम देखते हैं कि इस युग के पूर्व साहित्य में अराजकता थी। भारतेन्दु जी की मृत्यु के बाद भी लेखकों की मनमानी चलती रही। ऐसा प्रतीत होता है मानो इस युग ने एकाएक साहित्य-क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न कर दी थी। एकबारगी लोगों ने अनुभव किया कि दुनिया बदल चुकी है और यह देव या बिहारी का युग नहीं है। लोगों में एक साहित्यिक चेतना भरने लगी। किन्तु आश्चर्य है कि जिस प्रकार कृष्ण के महाप्रस्थान के बाद यादवों में निरंकुशता फैलने लगी थी उसी प्रकार भारतेन्दु की मृत्यु के बाद लोग असावधान होने लगे। किन्तु सौभाग्यवश महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आगे का उत्तरदायित्व अपने सबल कंधों पर लिया। इस समय लोगों में हिन्दी के नाम का डंका पीटा जाने लगा और यह भाषा राजा-महाराजाओं की कृपा-पात्र न रहकर जन-जन की शुभचिन्तक बनने लगी। हिन्दी का सम्पर्क जनता के साथ बढ़ने लगा। रचनाओं में केवल कविता के स्थान पर निबन्ध, नाटक, उपन्यास आदि भी आने लगे। रीतिकाल की अतिशय शृंगारिकता मिट गई और लेखक जनता के प्रति उत्तरदायी होने लगे। कल्पना की उड़ान के बदले वास्तविकता का चित्रण करने का प्रयास किया गया और राष्ट्रीयता की चेतना फैलाने के लिए स्वयं भारतेन्दु जी ने अनेक रचनाएँ कीं। भारतेन्दु जी के ही समय में गोष्ठियों का प्रचलन हुआ, जिसके कारण इस काल का साहित्य ही गोष्ठी-साहित्य कहा जाने लगा। इन्हींके सभापतित्व में ऐसी मण्डलियाँ बैठा

करतीं और लोग गोष्ठियों में अपनी-अपनी रचनाएँ सुनाया करते। आलोचना का जन्म इन्हीं गोष्ठियों से हुआ है। लोग एक-दूसरे की रचनाओं पर टीका-टिप्पणी किया करते और यही फिर लिखित रूप लेने लगी। इस प्रकार की मण्डलियों में भाग लेने वाले लेखक एक परिवार के सदस्य की तरह रहते और दूसरे के द्वारा की गई आलोचनाओं को मानकर अपने को सुधारने का प्रयत्न किया करते। इन्हीं अनेक कारणों से भारतेन्दु-काल हिन्दी-साहित्य में एक अत्यन्त युगान्तरकारी माना जाता है।

: २ :

महावीरप्रसाद द्विवेदी

महावीरप्रसाद द्विवेदी के पहले हिन्दी-गद्य का आविष्कार हो रहा था। हिन्दी में गद्य-शैली की उत्पत्ति एक युगान्त-कारी घटना थी और हिंदी-साहित्य आधुनिक युग के आलोक में आने का प्रयास कर रहा था। किन्तु यह हिंदी-गद्य की बाल्यावस्था थी, अभी इसके पैर लड़खड़ा रहे थे। इसी संकट-काल में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इसके संरक्षण का भार लेकर हिंदी-गद्य को शक्तिशाली और समर्थ बनाया। इनके पूर्व साहित्य में कोई व्यवस्था न थी, क्योंकि उसके संरक्षण का भार किसी एक व्यक्ति पर नहीं था। साहित्य में और भाषा में अराजकता फैली थी। जिसकी समझ में जो आता उस विषय का निर्माण मनमानी भाषा-शैली में कर देता था। भारतेन्दु-युग प्रचार का युग था, इसीलिए किसी को भाषा के संस्कार के लिए अवसर ही न मिला। यहाँ तक कि व्याकरण की दुरवस्था हो रही थी। शब्दों के लिंग-निर्णय और उनके प्रयोग में मनमानी चल रही थी। इसका प्रमुख कारण यह भी था कि भारतेन्दु-काल के अधिकांश लेखकों के पास शब्द-भण्डार का अभाव था। इन सबके अतिरिक्त एक और विशेष कारण यह भी था कि साहित्यिकों में हिन्दी और उर्दू को लेकर संघर्ष चल रहा था। कुछ लोग चाहते थे कि हिंदी-गद्य में उर्दू और फारसी के शब्द न लिये जायँ; क्योंकि ये विदेशी शब्द हैं और कलात्मकता के सौंदर्य को नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार के विचार रखने वालों में राजा लक्ष्मणसिंह प्रमुख थे। किन्तु एक दूसरा वर्ग यह चाहता था कि भाषा को अधिक-से-अधिक जन-सम्पर्क में लाने योग्य, सरल और सुगम बनाना चाहिए। यह वर्ग उर्दू के शब्दों का प्रयोग करने के पक्ष में था। इस समुदाय के उन्नायक राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद थे। पर भारतेन्दु जी स्वयं इन दोनों वर्गों में से किसी से सहमत नहीं थे। वे जब जैसी आवश्यकता पड़ती वैसी ही भाषा गढ़ लेते थे। अतएव, इनका मध्यम मार्ग था।

भारतेन्दु-युग की गद्य-भाषा ज्यों-त्यों चलती रही। गोष्ठी का प्रचलन था। कहा जा चुका है कि तत्कालीन लेखकों का प्रमुख कार्य प्रचार था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतेन्दु जी से हिन्दी-साहित्य को जनता का बल बहुत प्राप्त हुआ है। इस प्रकार हिंदी की सीमा का विस्तार करने वालों के तीन वर्ग थे। पहले वर्ग में भारतेन्दु ने नाटकों और अनुवादों द्वारा, दूसरे वर्ग में श्याम-

सुन्दरदास ने 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा और तीसरे वर्ग में देवकीनन्दन खत्री, किशोरी लाल गोस्वामी और गहमरी जी ने अपने मनोरंजक उपन्यासों द्वारा हिंदी-साहित्य को अधिक-से-अधिक जन-प्रिय बनाने का प्रयत्न किया। इन सबके अतिरिक्त ऐसे और अनेक लेखक तथा कवि प्रकाश में आये, जिन्होंने इनका अनुसरण करके कुछ प्रचारात्मक कार्य में हाथ बँटाया। वस्तुतः इन अनेकानेक लेखकों में संगठन की कमी होने के कारण और साहित्य में स्वेच्छाचारिता के कारण तत्कालीन भाषा में अराजकता बनी रही।

हिंदी-गद्य में अराजकता

द्विवेदी-युग की पृष्ठभूमि में हिन्दी-गद्य में अराजकता फैली थी, क्योंकि यह हिंदी का जागरण काल था। प्रयोग हो रहे थे। जिस प्रकार राजनीति में ऐसे अवसरों पर अराजकता छा जाती है; अनेक दल उठ खड़े होते हैं, उसी प्रकार साहित्य में भी ऐसा ही हुआ। इसके कई कारण थे। प्रथम, हिन्दी में अंग्रेजी शिक्षितों का आगमन हो रहा था। लोग अंग्रेजी से अपनी समझ से जो कुछ ग्राह्य समझते थे, उसे हिन्दी में लाने का प्रयत्न करते थे। नवीनता लाने का यह प्रयास इस प्रकार अंधानुकरण के रूप में हो रहा था कि स्वयं ऐसा करने वाले ठीक-ठीक नहीं समझ रहे थे कि वे साहित्य का विकास और उसकी अभिवृद्धि किस आधार पर कर रहे हैं। दूसरा कारण यह था कि जनता की औपन्यासिक रुचि विचित्र प्रकार की थी। तिलस्मी और जासूसी पुस्तकों की माँग बढ़ रही थी और इसमें लोग विशेष रुचि दिखला रहे थे। निबन्ध, आलोचना, कविता और गम्भीर विषयों पर विचार करने के लिए न किसी के पास योग्यता थी, और न उत्साह ही।

तीसरी बात थी अनुवादों की बाढ़। दो-चार पुस्तकों को पढ़कर लोग अनुवाद करने लग जाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अनुवाद की भाषा ऊबड़-खाबड़ होने लगी। भाषा का ज्ञान छिछला होने के कारण लोग न मौलिक ग्रन्थों को ही ठीक से समझ सके और न अनुवाद में ही सौंदर्य ला सके। अनुवाद विशेषतः बंगला और अंग्रेजी से होता था। इन बातों से यह स्पष्ट है कि व्यवसाय के लिए या अपना नाम प्रकाशित कराने के लिए लोग पुस्तकों का अनुवाद करते थे और हिन्दी की प्रकृति या सौंदर्य-वृद्धि की ओर प्रयत्नशील नहीं थे। चौथी बात व्याकरण की उपेक्षा थी। अधिकतर लेखक उत्तरदायित्वहीन थे। उनके व्याकरण-सम्बन्धी दोष बड़े भद्दे और भयंकर होते थे। 'इच्छा किया' अथवा 'आशा किया' आदि जैसी भूलों पर किसी का ध्यान नहीं जाता था। ऐसा मालूम होता था जैसे हिंदी एक ऐसी भाषा है जिसका न कोई व्याकरण है और न वैज्ञानिक आधार, सभी को इच्छानुसार भाषा लिखने की स्वतंत्रता थी। इस समय बंगला के अतिरिक्त गुजराती, पंजाबी आदि भाषाओं से हिन्दी का सम्पर्क बढ़ रहा था। दूसरी भाषा के जानने वाले यदि हिन्दी में अपनी लेखनी उठाते थे तो उनमें वाक्य-दोष अधिक होते थे। शब्दों की अस्थिरता भाषा-शैली को शिथिल बना रही थी।

हिन्दी-साहित्य में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के आने के पहले हिन्दी-गद्य की ऐसी ही दुरवस्था हो रही थी।

आचार्य द्विवेदी के तीन उद्देश्य

इस प्रकार हम यह देख चुके हैं कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के पूर्व हिन्दी-गद्य की भाषा-शैली में कोई संयम नहीं था। सौभाग्यवश अनेकानेक दोषों से साहित्य को मुक्त करने के लिए उपयुक्त अवसर पर द्विवेदी जी आये। उनके तीन मुख्य उद्देश्य थे। पहला यह कि वे भाषा का संस्कार करना चाहते थे। उन्होंने भाषा-विज्ञान और व्याकरण का गम्भीर अध्ययन किया था। वे हिंदी खड़ी बोली में सुधार करने में समर्थ भी हुए। पहले तो उन्होंने व्याकरण-सम्बन्धी दोषों को दूर किया। फिर अनगढ़ और अशुद्ध शब्दों का बहिष्कार किया। नवीन लेखकों की कटु आलोचना करके उन्हें अनुशासन में लाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार धीरे-धीरे, साहित्य में संयम आने लगा। दूसरा उद्देश्य था—देश में भाषा द्वारा राष्ट्रीय चेतना लाने का प्रयत्न। भारतेन्दु जी पहले लेखक थे जिनका ध्यान इस ओर गया था। द्विवेदी जी भी राष्ट्र भाषा की आवश्यकता को समझते थे और इसके लिए वे सस्ते साहित्य का प्रचार छोड़कर भाषा द्वारा देश-प्रेम की भावना फैलाने लगे। तीसरा उद्देश्य था हिन्दी को गम्भीरता प्रदान करना। किन्तु अब युग बदल रहा था और लोग समझ रहे थे कि यदि हिन्दी का साहित्यिक स्तर ऊँचा करना है तो उसकी गद्य की भाषा-शैली को सशक्त बनाना होगा। इसके पूर्व हिंदी में उपन्यास और ब्रजभाषा के अनेक कविता-ग्रंथों को छोड़कर अन्य किसी भी आधुनिक विषय पर गम्भीर साहित्य की रचना नहीं होती थी। द्विवेदीजी ने विषय की गम्भीरता, सत्साहित्य के निर्माण, व्याकरण-सम्मत शुद्ध भाषा और राष्ट्रभाषा की आवश्यकता पर विशेष ध्यान दिया और उसका जोरदार प्रचार किया। यह द्विवेदी जी के मौलिक कार्यों की सबसे बड़ी विजय थी।

द्विवेदी जी द्वारा भाषा-परिष्कार

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जिस भाषा को अपनाया वह भारतेन्दु जी की भाषा से मिलती-जुलती है। उनका विचार था कि हिन्दी का सीधा व्यावहारिक सम्बन्ध संस्कृत से है। इसलिए संस्कृत पर वे अधिक आसक्त थे; किंतु भाषा को सरल-से-सरल रूप देने के पक्ष में थे। उन्होंने उर्दू शब्दों का बहिष्कार कभी नहीं किया। जो भाषा अधिक-से-अधिक जन-प्रिय थी उसीको साहित्यिक रूप देकर उन्होंने भाषा-सम्बन्धी द्वन्द्व को मिटाया, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि सभी समकालीन लेखकों ने उसे मान ही लिया। कुछ ऐसे शब्दों का भी उन्होंने सुधार किया जो अपभ्रंश के तो थे पर उनका प्रयोग विचित्र प्रकार के परिवर्तन के साथ होता था। संस्कृत के शब्दों का उचित प्रयोग द्विवेदी जी ने हमें बताया; जैसे 'मार्दव' के स्थान पर 'मृदुता'। 'मृदुत्व' या 'मृदुपन' का प्रयोग करना इनकी दृष्टि में उचित नहीं था। इसी प्रकार श्रेष्ठ को श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम शब्द रूप देना

उन्हें पसन्द नहीं था। 'लेखनी' के बदले 'क़लम' ही लिखना और 'नोकदार नाक' के बदले 'नोकवती नासा' लिखना अच्छा नहीं समझते थे। उन्होंने यह भी बताया कि उर्दू और हिंदी में कोई भिन्नता नहीं है। द्विवेदी जी तो फारसी और अरबी के प्रचलित शब्दों को भी हिंदी का अंग मानते थे। इनका विचार था कि "हिंदी में जिन विदेशी शब्दों को आसानी ... ण किया जा सके उन्हें शीघ्र ही अपने में मिला लेना चाहिए।" वे सरल भाषा में गम्भीर भाव भरने के पक्षपाती थे। इसी प्रकार द्विवेदी जी ने अपनी भाषा को सर्व-व्यापी बनाने के लिए अंग्रेजी से स्पष्ट भाव-व्यंजना, बंगला से सरसता और मधुरता, मराठी से गम्भीरता तथा उर्दू से प्रवाह लिया। अशुद्धियों तथा अनुपयुक्त शब्दों को त्यागने के लिए उन्होंने प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का बहिष्कार किया। ये ऐसे शब्द थे जो ग्रामीण तो थे ही, अनगढ़ भी थे और अर्थ का अनर्थ कर बैठते थे। द्विवेदी जी वाक्य-विन्यास में बड़ी सावधानी रखते थे। उनका एक-एक शब्द पूर्ण और वास्तविक अर्थ रखता है। उनके वाक्यों की रचना व्याकरण की दृष्टि से सर्वथा शुद्ध है। संस्कृत के विद्वान् होने के नाते संस्कृत शब्दों का उपयुक्त अर्थ कहाँ पर क्या होना चाहिए, इसका उन्हें पूरा ज्ञान था। इस क्षेत्र में उनका प्रतिद्वन्द्वी आज भी कोई नहीं है। उनके छोटे-छोटे वाक्यों में चमत्कार और उर्दू की-सी बहार है। सम्भवतः वे यह अच्छी तरह जानते थे कि वे जिस हिंदी-गद्य की भाषा का नवसंस्कार कर रहे हैं वह निस्सन्देह आगे चलकर राष्ट्र-भाषा का गौरव पायगी।

द्विवेदी जी की शैली

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की शैली उस काल की सर्वमान्य राष्ट्रीय शैली है। वे आधुनिक हिंदी-गद्य के प्रथम सशक्त तथा वैज्ञानिक शैलीकार थे। भारतेन्दु-युग में हिंदी-गद्य की व्यक्तिगत शैली ही अधिक प्रचलित थी। भारतेन्दु जी ने सर्वप्रथम हिंदी और उर्दू में सामंजस्य उपस्थित करके राष्ट्रीय शैली का गठन करना चाहा था। लेकिन इस दिशा में वे सफल न हो सके। किन्तु द्विवेदी जी ने इसका संगठन किया और हमें राष्ट्रीय या जातीय शैली दी। गद्य-शैली के निर्माण में वे एक निश्चित योजना लेकर चले थे, जिसकी कार्यान्विति में उन्हें पूरी सफलता भी मिली है। डॉ० श्रीकृष्णलाल के शब्दों में "द्विवेदी जी की गद्य-शैली में कहानी कहने की कला की पूर्ण पराकाष्ठा है।" वास्तव में हिंदी-भाषा-भाषी बच्चे जिस रोचक शैली में नानी से कहानियाँ सुनते आए हैं, उन्हीं को द्विवेदी जी ने सर्वसाधारण के लिए साहित्यिक रूप दिया। इस प्रकार उसकी रोचकता बनी रही। द्विवेदी जी की शैली में एक प्रकार की सरसता, सीधापन, घरेलूपन तथा माधुर्य है। कहानियों के समान उनका भी ढंग भिन्न-भिन्न प्रकार से कहने का है। कभी उपदेश देना, कभी हँसा देना, कभी कटु आलोचना करना, कभी व्यंग्य कसना उनकी गद्य-शैली की मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं; जो उनकी सहृदयता और आत्मीयता की परिचायक हैं।

निबंधकार के रूप में द्विवेदी जी अधिक लोकप्रिय नहीं हुए, क्योंकि इनके निबन्ध प्रायः अनूदित हैं; और जो मौलिक हैं भी, वे उपदेशपूर्ण होते हुए भी साहित्यिक दृष्टि से अधिक मूल्य नहीं रखते। किन्तु सभी जगह इनकी शैली में वही अपनापन है। हृदय को आकर्षित और मुग्ध कर देने वाली उनकी जो कला है, वह अद्वितीय है। उनके आलोचनात्मक निबंध विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। द्विवेदी जी ने जिस शैली को अपनाया था उसके लिए वे किसी के ऋणी नहीं हैं, यह उनकी अपनी मौलिक देन है। यों तो द्विवेदी जी की गद्य-शैली की अनेकरूपता है, पर द्विवेदी जी की रचनाओं की प्रतिनिधि शैली परिचयात्मक है। इसमें सरल ढंग से और सरल भाषा में विचारों की व्याख्यात्मकता लाने का प्रयत्न किया गया है। एक अध्यापक जिस प्रकार अपने छात्रों को कोई एक गम्भीर विषय वार-वार दुहराकर समझाता है और उसे अधिकाधिक बोधगम्य बनाने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार की चेष्टा द्विवेदी जी ने अपनी शैली द्वारा की है। दार्शनिक और गम्भीर विषयों की समीक्षा द्विवेदी जी ने इसी शैली में की है।

साहित्य में स्थान

द्विवेदी जी ने जिस क्षेत्र में जो काम किया है वह युग-प्रवर्त्तन में सहायक हुआ है। इसीलिए आज उनके साहित्यिक कार्यों का ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है। मुख्यतः उनके तीन प्रमुख लक्ष्य थे—(१) संस्कृत-साहित्य का पुनरुत्थान तथा प्राचीन भारत के गौरव की रक्षा, (२) संसार की वर्तमान प्रगति से हिन्दी-साहित्य को परिचित कराना, और (३) पाश्चात्य शैली की सहायता से भाषा को भाव-व्यंजक बनाना।

उनकी रचनाएँ इन्हीं उद्देश्यों पर आधारित हैं और अपने युग का प्रतिनिधित्व करती हैं। 'सरस्वती' के सम्पादक के पद से उन्होंने इन तीन कार्यों को करके दिखलाया है। एक साथ भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारक और साहित्य के शिक्षक द्विवेदी जी ही थे। समाज में नैतिक जागरण लाना उनका आदर्श था।

द्विवेदी युग का महत्त्व इसलिए भी अधिक है कि इसी समय मैथिलीशरण गुप्त जैसे महाकवि, प्रेमचन्द-जैसे उपन्यास-सम्राट, शुक्लजी-जैसे सुधी आलोचक का उदय हुआ था। द्विवेदी जी गद्य और पद्य दोनों का पथ-प्रदर्शन कर रहे थे। उन्होंने ही यह सिद्ध किया था कि खड़ी बोली में कविताएँ सफलतापूर्वक लिखी जा सकती हैं। इस प्रकार पहले से चले आते हुए सारे विरोधों का अन्त उन्होंने ही किया। आलोचना के क्षेत्र में उन्हीं की तूती बोली। कवियों की श्रेणी का विभाजन सर्वप्रथम उन्होंने ही किया। सूर-तुलसी की प्रथम कोटि बनी, देव आदि पृथक् कर दिये गए और भारतेन्दु जी आधुनिक साहित्य के जन्मदाता माने गए। द्विवेदी जी ने कई बातों में भारतेन्दु जी का अनुकरण किया।

इस प्रकार यदि हम द्विवेदी जी की बहुमुखी प्रतिभा पर सरसरी दृष्टि डालने की चेष्टा करें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि उनकी रचनाओं का मूल्य-निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि साहित्य के क्षेत्र में आज हम उनके

प्रभाव से निकल चुके हैं, किन्तु उनकी ऐतिहासिक सत्ता आज भी अमिट है। सच्ची बात तो यह है कि भारतेन्दु जी ने जिस परम्परा की नींव डाली थी उसे सफलतापूर्वक विकसित करने का भार द्विवेदी जी को छोड़कर उस काल का कोई भी दूसरा साहित्यिक ले भी नहीं सकता था। इस दृष्टि से द्विवेदी जी और भारतेन्दु एक-दूसरे के पूरक थे। द्विवेदी जी ने अपनी इच्छा और बुद्धि के अनुसार निर्धारित नये मार्गों पर चलने के लिए हिन्दी-लेखकों को प्रेरित किया, किन्तु वे साहित्य के क्षेत्र में 'डिक्टेटर' नहीं थे। वे नये लेखकों के जन्मदाता और साहित्य, समाज तथा राष्ट्र के शुभचिन्तक थे। यही द्विवेदी जी की महानता है।

: ३ :

रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पूर्व हिन्दी-आलोचना-साहित्य अपनी बाल्या-वस्था में था। अभी तक न तो कोई प्रमुख या उच्चकोटि के निबन्धकार ही प्रकाश में आ सके थे और न आलोचना-साहित्य का कोई आधुनिक माप-दण्ड ही निश्चित किया जा सका था। किसी कवि के एक पक्ष को लेकर सैद्धान्तिक रूप से विवेचन कर देना, उसमें रस, अलंकार, उपमा आदि के निर्वाह की खोज करना तथा उसी सिलसिले में अपनी-अपनी रुचि के अनुसार किसी रीतिकालीन कवि की कविता से उद्धरण देकर उसका मूल्य-निर्धारण करना, उस समय आलोचना का काम समझा जाता था। यहाँ रीतिकाल का नाम इसलिए लिया गया है कि द्विवेदी-युग के पूर्व इने-गिने काव्य-रसिकों की दृष्टि देव, बिहारी, केशव आदि तक ही सीमित थी। सूर, तुलसी-जैसे कवियों की रचनाएँ यद्यपि भक्तों के बीच अत्यधिक प्रचलित थीं किन्तु उन्हें साहित्यिक दृष्टि से पहचानने का कष्ट तब तक किसी ने नहीं किया था। कभी-कभी ऐसा होता था कि जिसके मन में जो कवि अधिक रुचिकर या प्रिय होता था वह उसीको बिना उचित परीक्षा किये सर्वश्रेष्ठ घोषित कर देता था। इस प्रकार द्विवेदी-युग के पूर्व के आलोचना-साहित्य की अवस्था अविकसित थी। सबके पास अपनी-अपनी डफली थी और अपना-अपना राग था। साहित्य में अराजकता फैली थी। न तो प्राचीन कवियों को यथोचित स्थान मिल रहा था और न नवीन कवियों को उत्साह ही। कविता चाहे कैसी ही निकृष्ट कोटि की हो, अश्लील हो, कोई हानि नहीं। उसमें रस और अलंकार का पुट हो, नायिका-भेद और बीहड़ उपमाओं का समावेश तो अवश्य होना चाहिए—आलोचकों की ऐसी ही धारणा बनी थी। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के अन्त तक हिन्दी-कवि और कविता की दुर्दशा होती रही।

हिन्दी के आलोचना-साहित्य में सबसे पहले आँख खोलने वाले साहित्यिकों में दो प्रमुख थे—श्री पद्मसिंह शर्मा और डॉ० श्यामसुन्दरदास। यद्यपि पद्मसिंह शर्मा के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि ये बिहारी के पक्षपाती थे और उन्हें ऊँचा दिखाने में सदैव प्रयत्नशील रहे तथापि इस विषय में सभी एकमत हैं कि उनमें कविता को परखने की बड़ी ही सूक्ष्म और विचित्र शक्ति थी। डा० श्यासुन्दरदास ने किसी कविता या कवि को लेकर कोई आलोचना-पुस्तक तो नहीं लिखी, किन्तु भाषा-विज्ञान, शुद्ध

कला और साहित्य के मूल विषयों पर जो सैद्धान्तिक आलोचना उपस्थित की है वह अपने क्षेत्र में अनमोल है। ठीक इन्हींके बाद द्विवेदी-युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने हिन्दी-आलोचना की दिशा का युग-प्रवर्त्तन किया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी में निबन्ध-साहित्य के जन्मदाता भी शुक्ल जी ही थे। वास्तव में शुक्ल जी आधुनिक हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचक और निबन्ध-लेखक थे।

शुक्ल जी का कार्य-क्षेत्र

आचार्य शुक्ल के दो प्रमुख कार्य-क्षेत्र थे—निबन्ध और आलोचना। यद्यपि इनका प्रादुर्भाव एक कवि के रूप में हुआ था और शुरू-शुरू में उनकी कुछ सुन्दर कविताएँ भी प्रकाश में आई थीं, लेकिन उन्होंने शीघ्र ही कविता को छोड़कर गद्य-साहित्य को अपनाया। यह ठीक ही कहा गया है कि शुक्ल जी हृदय से कवि, मस्तिष्क से आलोचक और जीवन से अध्यापक थे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि आलोचक पहले कवि की आलोचना न करके अथवा उनके एक विशिष्ट काव्य-ग्रन्थ पर दृष्टि न डालकर उनकी फुटकर पंक्तियों पर ही प्रशंसा या कटु आक्षेप किया करते थे। किन्तु शुक्ल जी ने कवि और कृति दोनों को एक साथ लिया, देश, काल और वातावरण को भी समझा, सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से उनकी समीक्षा भी की। उन्होंने भावनाओं के आदर्श और कल्पना की स्वच्छता तथा स्वाभाविकता को दृष्टि में रखते हुए उनका मूल्यांकन भी किया। निबन्धकार की हैसियत से शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की है। इनके मनोवैज्ञानिक निबन्ध उनके ज्ञान की प्रौढ़ता, विशाल अनुभव तथा गम्भीर अध्ययन के परिचायक हैं। आचार्य शुक्ल के सभी निबन्ध भावात्मक और विचारात्मक हैं। निबन्ध के अतिरिक्त उन्होंने एक अन्य दिशा में भी प्रशंसनीय कार्य किया है, वह है अनुवाद का क्षेत्र। उन्होंने छः पुस्तकों का अंग्रेजी से और एक पुस्तक का बँगला से हिन्दी में अनुवाद भी किया है, जो गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों है। ये अनूदित निबन्ध दर्शन, मनोविज्ञान, प्राचीन इतिहास और संस्कृति-सम्बन्धी हैं। अँग्रेजी की गद्य-शैली और निबन्ध-कला से प्रभावित होने के बावूद भी शुक्ल जी में मौलिकता और भारतीयता बनी हुई है।

आचार्य शुक्ल की भाषा

द्विवेदी-काल हिन्दी-गद्य-साहित्य की प्रौढ़ता के प्रयास का समय था। किन्तु ब्रजभाषा की पुरानी छाप अभी भी बनी हुई थी। उस काल के लगभग सभी साहित्यिक पहले ब्रजभाषा के कवि थे। किन्तु बाद में चलकर उन्होंने खड़ी बोली को अपना लिया। आचार्य शुक्ल की भाषा निबन्ध और आलोचना की भाषा है, जो शुद्ध साहित्यिक है। इसका रूप इतना ठोस है कि इसमें एक प्रकार की संचित गम्भीरता बनी हुई है। इनकी रचनाओं की शैली गठित और प्रवाह स्वाभाविक है। शुक्ल जी ने जिस भाषा का प्रयोग किया है उसमें ऐसी शक्ति है, जो सभी विषयों को स्पष्ट करने की क्षमता रखती है। शुक्ल जी यही चाहते भी थे।

विशेषतः जहाँ वे मनोविज्ञान और दर्शन-सम्बन्धी विचार प्रकट करते हैं वहाँ की भाषा प्रौढ़ है, शब्द-चयन गठित है। ऐसे स्थलों की अधिकता के कारण शुक्ल जी की भाषा कुछ क्लिष्ट हो गई है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। फिर भी भाषा दुरूह नहीं है; क्योंकि भाषा भाव के अनुरूप ही बदलती गई है। ऐसे स्थलों पर जहाँ वे किसी गूढ़ विषय पर प्रकाश डालते हैं अथवा जहाँ उन्हें व्याख्या करनी पड़ी है वहाँ की भाषा सरल और व्यावहारिक है। जहाँ भाव गम्भीर हैं वहाँ भाषा की जटिलता होगी ही, ऐसी बात नहीं है। उनका प्रत्येक शब्द सार्थक है और उपयुक्त अर्थ रखने वाला है। कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि अमुक स्थान पर अमुक शब्द के बदले अमुक शब्द होता तो ज्यादा अच्छा होता। उनका शब्द-चयन सजीव और सार्थक है। इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करने से बहुत-से संस्कृत-शब्दों का उद्धार हुआ है। पर ऐसे स्थलों पर, जहाँ शुक्ल जी कोई संस्कृत-पर्याय नहीं दे सके हैं वहाँ अंग्रेजी शब्दों को अपनाने में उन्होंने कोई संकोच नहीं किया। उनकी रचनाओं में हम कई स्थानों पर अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग पाते हैं। उर्दू का प्रयोग उन्होंने दो प्रमुख उद्देश्यों को लेकर किया है—व्यंग्य और हास्य के लिए तथा किसी विशेष बात को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए। इस प्रकार सब मिलाकर हम कह सकते हैं कि शुक्ल जी की भाषा में संस्कृत के तत्सम, तद्भव तथा अपभ्रंश शब्दों से लेकर अंग्रेजी तथा उर्दू सभी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस विशेषता के कारण शुक्ल जी की भाषा में अपनापन और हृदयग्राहिता की विलक्षण शक्ति है। जैसी व्यवस्था इनकी भाषा की है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इस दृष्टि से वे आधुनिक गद्य-साहित्य के समर्थ निर्माता थे। व्याकरण से लेकर भाषा-विज्ञान और भाषा-सौष्ठव, सब पर उनका पूर्ण अधिकार है।

शुक्ल जी की शैली

आचार्य शुक्ल जी के समय हिन्दी-गद्य-साहित्य का बहुमुखी विकास हो रहा था। अनेक प्रकार के प्रयोग किये जा रहे थे। आलोचना और निबन्ध के क्षेत्र में शुक्ल जी साहित्य को नई दिशा प्रदान कर रहे थे। उनकी भाषा ने सजीव शैली के निर्माण में विलक्षण सफलता प्राप्त की है। उनकी शैली के कई रूप हैं। वे ऐसे दृढ़ साहित्यिक स्तर पर प्रतिष्ठित हैं जिनकी विशेषता के कारण ये हिन्दी के प्रथम सफल शैलीकार हैं।

शुक्ल जी के निबन्धों में विचारों की शृङ्खला और भाव-व्यंजना का अपूर्व समन्वय हुआ है। सच तो यह है कि शैली में भाषा और भाव का सम्मिलित रूप गद्य की गति और शक्ति का निर्माण करता है। ऐसी प्रौढ़ता है जो वाक्य-विन्यास को पुष्ट करती है। उसमें न तो एक शब्द अनुपयुक्त है और न एक वाक्य शिथिल है। भाषा-शैली का यह गठन सूत्रात्मक शैली का परिचायक है। उनकी शैली का दूसरा गुण प्रभावात्मकता है। भाषा में उनका व्यक्तित्व निखर आया है, जो उनकी व्यक्तिगत गंभीरता और आचार्यत्व का परिचायक है। जहाँ भावों

की सूक्ष्मता और विचारों की गहनता है वहाँ शुक्ल जी अपनी प्रभावात्मकता की सिद्धि के लिए वर्णनात्मक शैली का आश्रय लेते हैं, किन्तु पूर्ण संयम और स्वाभाविकता के साथ। इसके साथ ही उपयुक्त स्थलों पर व्याख्या द्वारा समझाने की चेष्टा की गई है। अतः हम इनकी शैली को व्याख्यात्मक भी कह सकते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इनके समस्त निबन्धों में भावना और विचार की प्रधानता है। वे अपने कवि-हृदय की भावुकता को कभी नहीं भूलते। अनेक स्थलों पर शुक्ल जी ने बड़े ही तीखे व्यंग्य से काम लिया है। किन्तु उसमें विनोद का पुट भी रहता है। अतः हास्य की दृष्टि स्वाभाविक ढंग से हुई है। गम्भीर विचार-विनिमय में इस प्रकार का हास-परिहास और मनोरंजकता तो है ही, विषय को स्पष्ट करने की भी क्षमता रखता है। शुक्ल जी की स्वाभाविक गम्भीरता विनोद में भा बनी रहती है, जिसमें न तो कहीं अश्लीलता है और न किसी के हृदय पर इसकी अनुपयुक्त प्रतिक्रिया होती है। इनकी गद्य-शैली में एक और विशेषता है—वह है मुहावरों का प्रयोग। मुहावरे शैली को अधिक स्वाभाविक बनाते हैं। यथास्थान सुन्दर और उपयुक्त कहावतों ने शुक्लजी की शैली की सौन्दर्य-वृद्धि में पर्याप्त सहायता पहुँचाई है। विचारों की निश्चयता से प्रसाद गुण का समावेश हो गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-गद्य की भाषा और शैली दोनों पर उनका पूर्ण अधिकार है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है शुक्ल जी की शैली में हम कई प्रकार के नवीन प्रयोग पाते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि उन्होंने कई प्रकार के विषयों पर अपनी लेखनी उठाई है। यों तो भावों और विचारों के अनुरूप उनकी शैली कुछ-न-कुछ बदलती गई है, फिर भी साधारणतः हम उनकी शैली को इन चार भागों में बाँट सकते हैं —

१. **व्याख्यात्मक शैली**—शुक्ल जी की व्याख्यात्मक शैली का परिचय लगभग सभी प्रकार के निबन्धों में मिलता है। ऐसे स्थलों पर उनकी समझाने की विधि सर्वसाधारण के लिए बड़ी सुबोध है। प्रायः कहावतों तथा अन्य चटकीले उद्धरणों की बहुलता ऐसे स्थानों पर पाई जाती है, जिससे तर्क के आधार पर विषयों का स्पष्टीकरण आसानी से हो जाता है। इस शैली के अन्तर्गत जिस भाषा का विधान किया गया है वह साहित्यिक होते हुए भी सर्वसाधारण के अनुकूल है। इसमें उर्दू या चलते-फिरते शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है।

२. **सूत्रात्मक शैली**—शुक्ल जी छोटे-से-छोटे वाक्यों में गम्भीर भाव भरने में बहुत ही कुशल सिद्ध हुए हैं। इस दृष्टि से उनमें गागर में सागर भरने की अपूर्व क्षमता वर्तमान है। किन्तु ऐसी शैली का प्रयोग जहाँ भी हुआ है वहाँ उनकी भाषा क्लिष्ट और दुरूह हो गई है। ऐसे स्थानों पर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। कहावतों और मुहावरों की अनुपस्थिति के कारण यह शैली शुष्क हो गई है।

३. **आलोचनात्मक शैली**—शुक्ल जी आलोचनात्मक शैली के जन्मदाता थे। यह उनकी मौलिक देन है। विशुद्ध आलोचना-शैली के अन्तर्गत उनके छोटे-छोटे संयत वाक्यों में अधिक मार्मिकता है। ऐसे वाक्यों में व्याख्यात्मकता का तादात्म्य

है। आलोचना-शैली में जहाँ व्यंग्य आये हैं वहाँ वाक्य अधिक बड़े हो गए हैं। व्यंग्यात्मक आलोचना में शिष्टता बनी हुई है। इस प्रकार आलोचना के लिए शुक्ल जी ने दो प्रकार की शैलियों को अपनाया है। विशुद्ध आलोचनात्मक शैली बहुत गम्भीर है और उसके समझने में विशेष कठिनाई होती है। व्यंग्यात्मक शैली में विनोद के साथ तर्क भी मिलता है।

४. भावात्मक शैली—शुक्ल जी ने जहाँ मनोवैज्ञानिक निबन्धों की रचना की है वहाँ उनकी शैली भावात्मक हो गई है। यह भी हिन्दी-साहित्य को उनकी अपनी देन है। इसमें विचारों की शृङ्खला है और शब्दों का संगठन। वाक्य प्रायः छोटे हैं और भाव-व्यंजना स्वाभाविक। मनोविकारों की जहाँ व्याख्या हुई है, वहाँ की शैली व्याख्यात्मक है। इस पर साहित्यिक शैली का प्रभाव स्पष्ट है।

साहित्य में स्थान

शुक्ल जी के पूर्व आलोचना की जो परिपाटी चली आ रही थी उससे हम परिचित हो चुके हैं। द्विवेदी-युग ने आलोचना का उचित मापदण्ड निर्धारित कर दिया था। उसका श्रेय निस्सन्देह शुक्ल जी को ही है। हिन्दी का निबन्ध-साहित्य इन्हीं से शुरू हुआ है। यह भी हम जान चुके हैं कि शुक्ल जी ने हिन्दी-गद्य-शैली को कई मौलिक दिशाओं का दान दिया है। इनकी महत्ता, आलोचक और निबन्धकार के रूप में, अद्वितीय है। सम्पादन के क्षेत्र में भी इनका स्थान बहुत ऊँचा है। नागरी प्रचारिणी सभा की मुख्य पत्रिका का सम्पादन उन्होंने ही योग्यता-पूर्वक किया था। 'हिन्दी शब्द सागर' नामक कोष उन्हींके सम्पादन में प्रकाशित हुआ था। सूर, तुलसी और जायसी पर उन्होंने ही प्रामाणिक आलोचनाएँ लिखी हैं। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' शुक्ल जी की प्रतिनिधि रचना है और कम-से-कम इसी एक पुस्तक के लिए वे युग-युग तक स्मरण किये जायँगे।

इस प्रकार द्विवेदी-युग ने गुप्त, प्रसाद, प्रेमचन्द और शुक्ल जिन चार विभूतियों को जन्म दिया है उनमें शुक्ल जी हमारे प्रथम आलोचक और प्रथम निबंधकार हैं। शुक्ल जी की आलोचनाओं में हम जो गम्भीर अध्ययन, गठित भाषा-शैली और निष्पक्षता पाते हैं वह अन्यत्र दिखाई नहीं देती। अब तक हिन्दी-साहित्य में आचार्य शुक्ल के जोड़ का कोई दूसरा आलोचक उत्पन्न नहीं हुआ। अपने सभी क्षेत्रों में उन्होंने मौलिकता प्रदान की है। उनके सभी निबन्धों में हम भारतीयता का पूर्ण निर्वाह पाते हैं। विचारों की नवीनता ने हिन्दी-गद्य-साहित्य में नव जागरण पैदा किया है। आचार्य शुक्ल के प्रभाव में हिन्दी के बहुत-से आलोचक आये हैं और उनकी परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने की चेष्टा की है। शुक्ल जी के चरण-चिन्हों पर चलकर हिन्दी में अनेक आलोचना-ग्रन्थ लिखे गए हैं। उनकी लोकप्रियता का इससे अधिक बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि उनके जीवन-काल में ही किसी ने उनका विरोध नहीं किया, उनकी मृत्यु के बाद भी उनके विरोधी प्रायः कम ही मिलते हैं। वे हमारे आलोचना के आचार्य हैं और उनके विचारों का उद्धरण दकर हमारे आलोचक या विद्यार्थी गौरव का अनुभव करते हैं।

: ४ :

प्रेमचन्द

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के उषा-काल में भारतेन्दु जी ने हिन्दी-गद्य को खड़ा होना सिखाया और भविष्य के संघर्ष के लिए उसे अपनी शैली द्वारा दृढ़ आधार दिया। भारतेन्दु-काल में सबसे बड़ी बात यह हुई कि हिन्दी-गद्य अधिक-से-अधिक जन-सम्पर्क में आया। फलतः हिन्दी में तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों को प्रमुखता मिलने लगी, जिसका नेतृत्व देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी कर रहे थे। इनकी भाषा प्रचार की भाषा होने के कारण सरल चलते-फिरते उर्दू शब्दों से भरी होती थी। भारतेन्दु जी ने जिस गद्य की साहित्यिक भाषा को अपनाया था वह सरल थी, किन्तु द्विवेदी-युग में ही हिन्दी-गद्य का वास्तविक संस्कार हुआ। प्रसाद और रामचन्द्र शुक्ल की भाषा कलात्मक है। उसमें तत्सम शब्दों को ही प्रायः प्रश्रय मिला है। उधर भारतेन्दु के पूर्व और उनके समकालीन भी कुछ ऐसे लेखक थे जो हिन्दी भाषा में उर्दू और फारसी के शब्दों को भरना नहीं चाहते थे। साहित्यिक भाषा के नाम पर वे शब्दों के लिए केवल संस्कृत के ही ऋणी थे। किन्तु फिर भी उन्होंने क्लिष्टता से बचने का सदैव प्रयास किया। इस प्रकार के लेखकों में राजा लक्ष्मणसिंह प्रमुख थे। कहने का तात्पर्य यह है कि हिन्दी-साहित्य की गद्य-शैली के विकास-काल में मुख्यतः लेखकों के दो वर्ग थे। पहला वर्ग ऐसा था जो सरल भाषा के पक्ष में था और जन-सम्पर्क में आने के लिए सर्वसाधारण की भाषा को अपनाने का प्रयत्न करता था। यह भाषा मिश्रित थी। इसका प्रयोग करने वालों में भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, महावीर-प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, देवकीनन्दन खत्री और प्रेमचन्द प्रमुख थे। दूसरा वर्ग शुद्ध साहित्यिक भाषा-शैली को अपनाने के पक्ष में था। इसके अनुसार उत्कृष्ट साहित्य के लिए भाषा का संस्कार बहुत आवश्यक है और यह भी संस्कृत की सहायता से ही सम्भव है। इस भाषा के प्रथम उन्नायक राजा लक्ष्मणसिंह थे, उनके बाद प्रेमघन, राजा राधिकारमण, प्रसाद, रामचन्द्र शुक्ल, चतुरसेन शास्त्री आदि ने कलात्मक भाषा को अपनाया। यद्यपि इस वर्ग की भाषा संस्कृत-प्रधान थी तथापि इसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं आई। विशेषतः प्रसाद और शुक्ल ने तो एक नवीन सुसंस्कृत भाषा-शैली की नींव डाली, जो वास्तव में साहित्यिक भाषा का शुद्ध रूप है। इन सभी गद्यकारों में राजा

राधिकारमण एक ऐसे लेखक हैं जिन्होंने विलष्ट भाषा के शुद्ध साहित्यिक रूप को छोड़कर उर्दू और संस्कृत की मिली-जुली चुस्त भाषा-शैली को अपनाया है। इस दिशा में राजा साहब और प्रेमचन्द ने हिन्दी-गद्य-भाषा के निर्माण में जो योग दिया है उसमें हम उनकी भाषा-नीति का एक लक्षण पाते हैं। प्रयोग में भिन्नता लखक की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। हिन्दी-गद्य के इस उत्थान-काल में प्रेमचन्द जी का प्रमुख हाथ रहा। प्रेमचन्द जी का कार्य-क्षेत्र मुख्यतः उपन्यास और कहानी तक सीमित था, यद्यपि उन्होंने कई जीवनियाँ भी लिखीं और कुछ अंग्रेजी से अनुवाद भी किये। प्रेमचन्द ने नाटक भी लिखे हैं, किन्तु इनके नाटकों का अधिक प्रचार नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'हंस' नामक मासिक पत्रिका को संस्थापित और संपादित भी किया था। 'जागरण' भी कुछ दिनों तक उनके सम्पादन में चला था। प्रेमचन्द ने कुछ मिलाकर दस मौलिक उपन्यास और लगभग ढाई सौ कहानियाँ लिखी हैं। उनके कुछ निबन्ध भी हैं, जो उनके साहित्यिक विचारों को स्पष्ट करते हैं।

प्रेमचन्द के भाषा-विषयक विचार

प्रेमचन्द जी उर्दू से हिन्दी में आये थे। इसलिए उनकी भाषा में उर्दू के शब्दों का पुट अधिक है। भाषा के सम्बन्ध में प्रेमचन्द जी के जो अपने सिद्धान्त थे, वे इस प्रकार हैं—

(i) उनकी भाषा पात्रों के अनुसार बदलती गई है। उसके हिन्दू और मुसलमान पात्र दो प्रकार की भाषा का प्रतिनिधित्व करते हैं। हिन्दू जहाँ संस्कृत-प्रधान भाषा का प्रयोग करते हैं, वहाँ मुसलमान उर्दू-प्रधान भाषा का। किन्तु यह बात विशेषतः नागरिक पात्रों और शिक्षित समुदाय के लिए ही लागू है। गाँव के रहने वालों में संस्कृत और उर्दू का कोई अन्तर नहीं होता। अतः उनके ग्रामीण पात्रों की भाषा मिली-जुली है। उनके हिन्दू और मुसलमान चरित्र ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं, जिनका शब्द-चयन सर्वसाधारण के ज्ञान की सीमा के अन्दर है, अन्तर केवल स्थानीय भाषा और खड़ी बोली का है। कहीं-कहीं गाँव के बूढ़े या कुछ साधारण कोटि के लोग स्थानीय भाषाओं का प्रयोग करते दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार भाषा के सम्बन्ध में प्रेमचन्द जी का अपना सिद्धान्त था। वे इस प्रकार लिखते थे मानो यह दिखाना चाहते हों कि लेखक स्वयं अपने पात्रों से अलग है और उसकी अपनी कोई निश्चित भाषा-शैली नहीं है। प्रसाद जी ने भी ग्रामीण पात्रों का चित्रण किया है, किन्तु उनके मुसलमान पात्रों को संस्कृत-प्रधान भाषा बोलनी पड़ती है। प्रेमचन्द जी के पात्रों में धर्म-संस्कार के अन्तर के कारण थोड़ी-सी विभिन्नता अवश्य है, नहीं तो सभी को अधिक-से-अधिक स्वाभाविक भाषा बोलनी पड़ी है।

(ii) उपन्यासों और कहानियों की भाषा—प्रेमचन्द जी के उपन्यासों और कहानियों की भाषा उनकी अपनी है, क्योंकि पात्रों के चित्रण में वे अपने-आपको

दूर रखते हैं। प्रेमचन्द की भाषा सभी प्रकार के पाठकों को आकर्षित करने की क्षमता रखती है। इसमें ऐसे शब्दों का व्यवहार हुआ है जिनका प्रयोग हम नित्य-प्रति किया करते हैं और जिनसे हमारी आत्मीयता बनी होती है। उदाहरण के लिए उटंगी, घामड़, घटाटोप, तरके, उड़ाकू, भाँवर आदि ऐसे शब्द हैं, जिन्हें सभी लोग घरेलू भाषा में व्यवहार में लाते हैं। उनके चरित्र जब कभी अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हम ऐसे शब्दों को पाते हैं, जो तोड़-मरोड़कर ग्रामीणों के व्यवहार में आये हैं। उदाहरण के लिए, छिच्छा (शिक्षा), जैजात (जायदाद) आदि हैं। कुछ ऐसे शब्द भी मिलते हैं, जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। ये शब्द स्थानीय भाषा के अन्तर्गत आते हैं; जिनका प्रयोग अधिक नहीं होता—जैसे अवघड़, पुमत्तर अथवा बुड़वकन आदि हैं। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि 'प्रेमचन्द जैसा देश वैसा वेश' के सिद्धान्त को मानते थे। ऐसे चरित्र या स्थल, जहाँ शिक्षित समाज होता है अथवा जहाँ आधुनिकता का वातावरण उपस्थित है, वहाँ अंग्रेजी शब्दों का व्यवहार अधिक हुआ है, जैसे—स्पीच, चार्ज, कैनवास, नेशनलिस्ट, चांस, गेम, फेयर आदि। अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्द भी बहुत आये हैं, जैसे—अपील, कौंसिल, आफिस, सेक्रेटरी, प्रोग्राम आदि। शिक्षित वर्ग ऐसे अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग अक्सर करते रहते हैं। ये शब्द हैं—टाइम, टेबुल, ट्रेन, कप, रुटीन आदि। जिस प्रकार हम बंगाली और अंग्रेजों को टूटी-फूटी भाषा में बात करते पाते हैं उसी तरह प्रेमचन्द जी के उपन्यासों और कहानियों में अंग्रेज और बंगाली पात्र बातें करते हैं। उपन्यासों और कहानियों में जब कभी ऐसे स्थल आये हैं, जहाँ किसी गम्भीर विषय पर विवेचन हो रहा हो या कोई भाषण आदि का अंश हो वहाँ भाषा में कुछ तत्सम शब्द अधिक आये हैं और शैली भी बदल गई है। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अथवा किसी मनोवैज्ञानिक विषय की व्याख्या जहाँ की गई है, वहाँ की भाषा में कवित्व का आनन्द मिलता है और शब्द-चयन अधिक कोमल है। रंगीन प्रसंगों के लिए संस्कृत शब्दों का ही प्रयोग अधिक हुआ है।

(iii) **निबन्धों और नाटकों की भाषा**—नाटकों में परिस्थितियों के वातावरण का चित्रण शब्दों के द्वारा होता है। अपनी ओर से लेखक को कुछ भी कहने का अधिकार नहीं होता। इसलिए उपन्यास के पात्रों और नाटक के पात्रों की भाषा में अन्तर होता है। प्रेमचन्द ने चार नाटकों की रचना भी की है। उनके पात्रों की भाषा साधारण होते हुए भी उर्दू शब्दों की ओर अधिक झुकी है। यद्यपि ये नाटक अधिक प्रचलित नहीं तथापि इनमें नाटकीय तत्वों की कमी भी नहीं है। निबन्धों की भाषा साहित्यिक है और उपन्यास की भाषा से बहुत-कुछ भिन्न है। उसमें उर्दू शब्द कम तो अवश्य हैं किन्तु उनका प्रभाव मिटा नहीं है।

(iv) **साधारणत:**—साधारणत: प्रेमचन्द ने अपनी भाषा को अधिक-से-अधिक सजीव और सरल बनाने का प्रयत्न किया है। विदेशी शब्दों के प्रयोग भी ऐसे स्वाभाविक हैं कि वे कहीं भी नहीं खटकते। उनकी भाषा परिष्कृत है। उनकी रचनाओं का विकास कुछ ऐसा हुआ है कि उनकी भाषा में निखार आता गया

है। उर्दू से हिन्दी में आने पर कहीं-कहीं कुछ संस्कृत शब्दों का अनुपयुक्त प्रयोग भी हुआ है, किंतु ज्यों-ज्यों हिन्दी की प्रकृति से उनका परिचय बढ़ता गया है, वे सजग और सावधान होते गए हैं। अतः यह कहना उचित है कि भाव, विचार और विषय के अनुकूल ही उनकी भाषा चली है। गम्भीर भाव को प्रकट करने के लिए गम्भीर भाषा का प्रयोग करना उन्होंने सीखा था। विचारों के उतार-चढ़ाव के साथ भाषा का उतार-चढ़ाव भी स्वाभाविक है।

प्रेमचन्द जी की शैली

प्रेमचन्द जी की शैली पर उर्दू का प्रभाव स्पष्ट है। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में उनकी शैली लड़खड़ाती हुई-सी दीख पड़ती है। किन्तु भाषा पर प्रेमचन्द का आशातीत अधिकार था। उन्होंने उपन्यास और कहानी के जिस अंग को स्पर्श किया है और अपने जिस आदर्श की ओर वे उन्मुख हुए हैं उसे एक सम्मानित स्थान तक पहुँचाकर ही छोड़ा है। फलतः उनकी बाद की रचनाओं में उनकी शैली परिमार्जित और स्वाभाविक है। उनकी शैली के चार प्रकार हैं। ये शैलियाँ हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप हैं। 'गोदान' में इनकी बहुमुखी शैली ने एक निश्चित गति और स्थान प्राप्त कर लिया है; और यही उनकी परिणति है। हिन्दी और उर्दू के प्रभाव से उन्होंने जिस समन्वय का रूप स्थिर किया है, वह वर्तमान हिन्दी-गद्य की एक विशेषता बन गया है। उर्दू की रंगीनी और चुलबुलाहट तथा हिन्दी की गम्भीरता और सजीवता, दोनों प्रेमचन्द की शैली में वर्तमान हैं, इसमें नाटकीय तत्त्व भी मिलते हैं। इसलिए उनकी शैली में अभिनयात्मकता भी मिलती है। ऐसे स्थान की भाषा ओजपूर्ण है। भाव की गम्भीरता और प्रवाह की प्रखरता ऐसे स्थलों पर देखी जा सकती है। प्रेमचन्द ने मुहावरों और कहावतों का प्रयोग बहुत अधिक किया है। इससे भाषा-शैली में एक प्रकार की मधुरता आ गई है। कहीं-कहीं एक ही वाक्य में मुहावरे और सूक्तियों का सामंजस्य अद्भुत सृष्टि करता है। यह प्रेमचन्द की भाषा-शैली की मौलिक विशेषता है। इसी प्रकार हास्य और व्यंग्य भी इनकी शैली को विशेष रूप से अनुप्राणित करते हैं। इनका व्यंग्य सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक कुरीतियों या पाखण्डों के प्रति बड़ा तीखा और मर्मस्पर्शी है। हास्य में एक प्रकार की गम्भीरता बनी हुई है। अंग्रेजी में एक कहावत है—Style is the man. प्रेमचन्द पर यह सूक्ति अक्षरशः सत्य उठती है। इनकी शैली में इनका अपना हृदय बोल रहा है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक स्थान पर लिखा है कि 'सहज मनुष्य ही सहज भाषा बोल सकता है।' प्रेमचन्द जी जिस प्रकार स्वयं सहज थे उसी प्रकार उन्होंने सहज भाषा और सहज शैली का निर्माण किया है। वर्णनात्मक शैली के अन्तर्गत उन्होंने अपनी सरलता का परिचय दिया है। भाषा पर उनका ऐसा अधिकार था कि कठिन भावों को भी सरल भाषा में व्यक्त कर देना उनके जैसे कर्मठ लेखक का काम है। जहाँ वे भावावेश में आये हैं और सौन्दर्य का चित्रण करते हैं वहाँ उनकी शैली

आलंकारिक हो गई है। इससे भाव-व्यंजना में मरधुता और स्निग्धता आ गई है। चित्र प्रस्तुत करने में प्रेमचन्द जी बहुत कुशल हैं। शब्दों के द्वारा प्राकृतिक चरित्रों की अवतारणा उनकी मूर्ति-विधायिनी शक्ति की द्योतक है। प्रेमचन्द की लेखनी से निकली हुई प्रत्येक पंक्ति हृदय को प्रभावित करती है। उसकी प्रभावोत्पादकता का प्रधान कारण यह है कि जिन संघर्षों और कठिनाइयों से हमारा व्यक्तिगत, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन उलझता रहा है, उन्हें वे बड़ी कुशलता के साथ सर्वसाधारण के लिए चित्रित करके हमारे हृदयों को अधिक स्पंदनशील तथा चेतनशील बनाते गए हैं। हृदय को स्पर्श करने की जितनी शक्ति प्रेमचन्द जी में है उतनी शायद किसी अन्य लेखक में नहीं है। हम उनके पात्रों के साथ अनायास ही आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं और उनके प्रति हमारी सहानुभूति जाग पड़ती है। इस प्रकार की शैली में एक सफल कहानीकार की कलात्मकता सुरक्षित रहती है। प्रेमचन्द की अन्य तीन प्रकार की शैलियाँ विचारात्मक, भावात्मक और आलोचनात्मक हैं। किन्तु गहन-से-गहन भावों और विचारों में उनका सहज व्यक्तित्व जीवित रहता है। कहीं-कहीं तत्सम शब्दों की अधिकता भी होती है, किन्तु उनकी स्वाभाविकता कभी नहीं मरती।

साहित्य में स्थान

हिन्दी के किसी भी उपन्यास-प्रेमी से पूछिये—'हिन्दी में सबसे बड़ा उपन्यासकार कौन है ?' उत्तर होगा—'प्रेमचन्द।' हिन्दी-साहित्य में प्रेमचन्द को वही स्थान प्राप्त है जो बंगला में शरत्चन्द्र को दिया गया है। प्रेमचन्द जी हिन्दी-कथा-साहित्य में युग-प्रवर्तक थे। सफल कलाकार वह है जो अपने युग की पुकार को सुनता है, जो अपने पड़ोसी के हृदय को टटोलता है, जो अपने समाज के दुःख-दैन्य का अनुभव करता है और समान्यतः पद्दलितों की कराह को सुनकर विकल हो जाता है। प्रेमचन्द जी स्वयं अपने-आपको मजदूर कहते थे। उनकी आत्मा भारत के कोटि-कोटि मजदूरों की आत्मा से सचमुच हिल-मिल गई है। अपने नायकों के स्वर में प्रेमचन्द जी स्वयं बोलते हैं। उन्होंने समाज की जिस जर्जर नींव को स्पर्श किया है उसे हिलाकर ही दम लिया है, उसकी प्राचीनता नष्ट करके नवीन बल देने का प्रयास किया है। समाज के अन्धविश्वास, आडम्बर और ढोंग आदि के प्रति उन्होंने विद्रोह किया है और अशिक्षित पात्रों में संजीवनी फूँकी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यथार्थ का चित्रण करके आदर्श का दिशा-निर्देश किया है और काल्पनिक पात्रों से दूर रहकर व्यावहारिक जीवन से सामग्रियाँ एकत्र की हैं। प्रेमचन्द जी को मनोविज्ञान की छोटी-से-छोटी बातों का पूर्ण ज्ञान था। उपन्यासों की अपेक्षा कहानियों में प्रेमचन्द और भी अधिक सफल हुए हैं। कहानियों के पात्रों में जिन सुन्दर भावनाओं और स्वाभाविक चरित्रों का चित्रण हुआ है उससे उनकी शक्ति और भी अधिक बलवती हो गई है। प्रेमचन्द के पात्रों ने एक आदर्श का निर्वाह किया किन्तु वह यथार्थ भी है, क्योंकि उसने अपनी दुर्बलताएँ नहीं

खोई हैं। प्रेमचन्द की औपन्यासिक कल्पना में अमीर-से-अमीर, दीन, भिखारी, मध्यवर्गीय परिवार, चोर-लुटेरे, विद्वान्, मूर्ख, चरित्रवान्, पतित सभी आते हैं। पुरुष पात्रों के चरित्र-चित्रण में ये विशेष रूप से सफल हुए हैं। नारी-जीवन की करुणामयी और दयामयी मूर्ति का अत्यन्त मार्मिक चित्रण हम प्रेमचन्द जी की स्त्री पात्रियों में पाते हैं। इस प्रकार जहाँ तक कथा-साहित्य का सम्बन्ध है, प्रेमचन्द ने किसी भी कोने को अछूता नहीं छोड़ा।

प्रेमचन्द जी का साहित्य आधुनिक युग का सामाजिक और राजनीतिक इतिहास है। वे देश में होने वाली सभी क्रांतियों और परिवर्तनों के प्रति जागरूक थे। हिन्दी-कथा-साहित्य में नवीनता लाने के लिए भिन्न-भिन्न देशी तथा विदेशी लेखकों की धाराओं को समझने का प्रयत्न किया था। किन्तु उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह विशाल अनुभव के साथ उनके विशाल हृदय का परिणाम है। गांधी जी और टाल्सटाय की आदर्श भावनाओं ने उनकी भावना पर अमिट छाप छोड़ी है। प्रेमचन्द के साहित्य की पृष्ठभूमि बड़ी सशक्त है। इन्हीं सब विशेषताओं के कारण—"प्रेमचन्द का साहित्य संगम के जल से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसमें अनुभूतियों का संगम है, आदर्शों का संगम है सामाजिक प्रवृत्तियों का संगम है, मानव की आशा-आकांक्षा का संगम है, दो सभ्यताओं और दो संस्कृतियों का संगम है। गंगा और यमुना की भाँति उसकी धाराएँ भिन्न-भिन्न नहीं हैं, वे मिल-कर एक रंग हो गई हैं। यही प्रेमचन्द के साहित्य का सौन्दर्य है।"[1]

: ५ :

जयशंकर प्रसाद

प्रसाद जी का साहित्यिक क्षेत्र

आधुनिक हिन्दी साहित्य ने जिन विभूतियों को जन्म दिया है उनमें प्रसाद जी को प्रमुख स्थान प्राप्त है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। जिस साहित्याङ्ग पर उन्होंने लेखनी चलाई, उसमें वे खूब चमके। बचपन से वे कवि रहे, आगे चलकर नाटककार हुए और फिर उपन्यास तथा कहानियाँ भी इनसे अछूती न रह सकीं। कवि के रूप में छायावादी साहित्य की सेवा करते हुए उन्होंने 'आँसू', 'लहर', 'झरना' और 'कामायनी'-जैसी काव्य-पुस्तकों की रचना की। 'कामायनी' छायावादी काव्य का एक-मात्र महाकाव्य है। 'आँसू' में प्रसादजी के हृदय की संवेदनशीलता प्रकट हुई है। नाटककार के रूप में भी उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। भारतेन्दु और प्रसाद के अतिरिक्त और कोई नाटककार प्रसिद्ध नहीं हुआ और न हिन्दी-नाट्य-साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित ही कर सका। उनके नाटक, दो को छोड़कर सभी ऐतिहासिक हैं। प्रसादजी ने दर्जनों नाटक लिखे, किन्तु सबसे बड़ी विशेषता उनकी मौलिकता और भारतीयता है। वे न अंग्रेजी नाटकों से प्रभावित हुए और न बंगला से। हिन्दी-नाटकों का वास्तविक विकास इन्हींके द्वारा हुआ। उपन्यास के क्षेत्र में भी इनकी अपनी गतिविधि रही। प्रसाद अपने जीवन में कुल तीन ही उपन्यास लिख सकें—'कंकाल', 'तितली' और 'इरावती'। इनमें अन्तिम उपन्यास अधूरा है। साहित्यिक दृष्टि से ये उपन्यास भी बहुत सफल उतरे हैं; इनमें प्रसाद का अपना व्यक्तित्व और चरित्र-चित्रण की मौलिकता है। प्रेमचन्द की अपेक्षा यद्यपि इनके चरित्र अधिक जटिल हैं, इसका कारण लेखक की भावुकता और दार्शनिकता है, तथापि संयम का अभाव नहीं। कहानीकार प्रसाद उपन्यासकार प्रसाद से कहीं अधिक सफल हुए हैं। 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' इनकी कहानियों के संग्रह हैं। प्रसाद के चरित्र शिक्षित नागरिक होते हैं। अतः ये चरित्र हल्के न होकर बहुत गम्भीर हैं। प्रसाद जी चाहे कवि हों या उपन्यासकार, नाटककार हों या कहानीकार, उनका कवि सभी स्थानों पर वर्तमान रहता है। ये अपने कवि-हृदय को कहीं भी छिपा न सके। यही कारण है कि उनका कथा-साहित्य प्रेमचन्द की तरह सर्वसाधारण की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता। फिर भी इसीसे प्रसाद की महत्ता और प्रतिभा पर कोई आँच नहीं

आती, क्योंकि इनके गम्भीर और दार्शनिक व्यक्तित्व तक सर्वसाधारण की पहुँच नहीं है। इन्होंने कुछ निबन्धों की भी रचना की है, जो 'काव्य और कला तथा अन्य-निबन्ध' नामक पुस्तक में संकलित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि के लिए प्रसाद के पास एक विशिष्ट योजना थी जिसके अनुसार वे हिन्दी-गद्य और पद्य दोनों को पूर्णता तक ले जाना चाहते थे, किन्तु ४७ वर्ष की अवस्था में राजयक्ष्मा ने इस अलौकिक विभूति से हमें वञ्चित कर दिया।

प्रसाद के गद्य की भाषा

हम देख चुके हैं कि प्रसाद ने साहित्य के अनेक अङ्गों पर सफलता-पूर्वक लेखनी चलाई है। अतः यह जानना आवश्यक है कि इनकी भाषा ने कहाँ तक व्यापक क्षेत्र का निर्वाह किया है। भाषा पर विचार करने के पूर्व यदि हम प्रसादजी के भाषा-सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तों को समझ लें तो हमारा कार्य सरल हो जायेगा। प्रसाद संस्कृत के प्रेमी और प्राचीन भारतीय संस्कृति के साधक थे। इनके ऐतिहासिक नाटक प्राचीन भारत के ऐतिहासिक कथानक पर आधारित हैं। अतः पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनकी भाषा चलती है। उनके पात्रों की संस्कृति प्राचीन भारत की संस्कृति है। फलतः वे सदा शुद्ध साहित्यिक हिन्दी का प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रसाद की भाषा देश और काल के अनुसार भी चलती है। यद्यपि उनके समस्त साहित्य की भाषा का मूलाधार और मूल प्रेरणा संस्कृत है तथापि आवश्यकतानुसार जहाँ-तहाँ कुछ अन्तर आ ही गए हैं। 'अजातशत्रु' के पात्र जिस भाषा का व्यवहार करते हैं, 'राज्यश्री' के पात्र इनसे कुछ भिन्न स्वर में बोलते हैं। इसी तरह 'राज्यश्री' की भाषा और 'कंकाल' की भाषा में स्पष्ट अन्तर है। इससे पता चलता है कि देश और काल के बारे में प्रसाद सावधान रहते हैं, यद्यपि सामान्यतः इनकी भाषा शुद्ध साहित्यिक है और भाषा का संगठन एक ही आधार पर हुआ है। प्रसादजी की भाषा में खिचड़ी भाषा-जैसी मिलावट नहीं है। इनकी यह धारणा है कि पात्रों की विविधता के कारण भाषा में विविधता लाना अच्छी बात नहीं। इसी विश्वास के आधार पर इनके सभी पात्र तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं, चाहे वह पात्र सिकन्दर-सा विजयी हो, सुरमा-जैसी साधारण मालिन हो, या दाण्डायन-जैसे दार्शनिक हों। विशेषतः दो पात्रों के वार्तालाप में जब किसी गम्भीर विषय पर तर्क-वितर्क होने लगते हैं तो इनकी भाषा बड़ी ही क्लिष्ट हो जाती है। दार्शनिकता और कविता के आग्रह से ऐसे स्थल सर्वसाधारण की पहुँच के परे होते हैं। अतः प्रसाद के गद्य पर दर्शन की गम्भीरता और कविता की रमणीयता अपनी छाप छोड़ गई है। सर्वसाधारण को इनकी भाषा बोझिल मालूम होती है पर किसी भी साहित्यकार को इसमें ओज, प्रवाह और माधुर्य की त्रिवेणी के कल-कल निनाद का अनुभव होता है। प्रसादजी ने मुहावरों का प्रयोग बहुत कम किया है और कहावतें तो मिलती ही नहीं, लेकिन शब्दों की सजावट इतनी आकर्षक और व्यवस्थित है कि इनकी कमी नहीं खटकती। सभी शब्द जैसे कुशलतापूर्वक यथा स्थान नगीने के समान जड़े हुए हैं, जिनमें न कहीं शिथिलता

है और न प्रवाह का अभाव।

आक्षेप और परिहार

प्रसाद जी की भाषा अपनी क्लिष्टता के कारण आलोच्य विषय बन चुकी है। तत्सम शब्दों की प्रधानता के कारण वह दुरूह हो गई है। इसीलिए कुछ लोगों के विचार से इनकी भाषा 'पथरीली' है। एक दूसरा आक्षेप यह है कि प्रसाद की भाषा में प्रसाद गुण का सम्पूर्ण अभाव है और यही कारण है कि उनके नाटक अभिनयोपयोगी नहीं हैं और कहानियाँ साधारण जनता के मन को आकर्षित नहीं करतीं। इस प्रकार जहाँ तक भाषा का प्रश्न है प्रसादजी ने उसे वर्तमान अशिक्षित सर्वसाधारण की निकटता से सदा बचाया है। इनकी भाषा 'पथरीली' है, ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि भाषा वही 'पथरीली' होती है जैसा स्वाभाविक प्रवाह नहीं होता। सच तो यह है कि प्रसाद की भाषा में सरिता का स्वाभाविक प्रवाह है। कोई भी भाषा संस्कृत-प्रधान या उर्दू-प्रधान होने से दुरूह या 'पथरीली' नहीं होती। प्रसाद के लिए भाषा संस्कृति का वाहन बनकर आई है। भाषा में पथरीलेपन का अनुभव तब तक नहीं होता जब तक पढ़ते-पढ़ते हमें कहीं अचानक धक्का नहीं लगता या यह भावना हृदय में नहीं उठती कि अमुक स्थान पर अमुक शब्द होता तो अधिक सुन्दर होता। भाषा में क्लिष्टता का कारण यह नहीं है कि प्रसाद अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करना चाहते हैं। इसका कारण यह है कि एक विराट् व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति और भारत की महिम संस्कृति का प्रकाशन हुआ है जो अपने में पूर्ण है। शब्द-चयन में कहीं भी आडम्बर नहीं। प्रसादजी स्वयं आडम्बर-रहित थे। जहाँ तक प्रसाद गुण का प्रश्न है यह कुछ सीमा तक ठीक ही है। इसके परिहार में हम इतना ही कहना चाहेंगे कि प्रसाद की भाषा अध्ययन के विस्तार के साथ ही अपेक्षाकृत अधिक क्लिष्ट होती गई है। बौद्ध-साहित्य के अध्ययन और दार्शनिक चिन्तन के कारण भाषा बोझिल और गम्भीर हो गई है। अतः पहले तो उनकी भाषा बहुत खटकेगी, पर ज्यों-ज्यों हम अपनी रुचि का परिष्कार करते हुए प्रसाद के व्यक्तित्व से परिचित होते जायँगे वे हमारे लिए अधिक सरल, अधिक सरस और अधिक आत्मीय होंगे। उन्होंने अपने वर्तमान नाटक, रंगमञ्च के लिए नहीं लिखे। अतः नाटकों के अभिनय में कठिनाई है तो कोई आश्चर्य नहीं। किसी भी बड़े कलाकार का काम रंगमञ्चीय आवश्यकता की पूर्ति करना नहीं होता। न तो इससे कला का पोषण होता है, और न मौलिक विचारों की अभिव्यक्ति ही होती है। प्रसाद को रंगमञ्च का स्तर ऊँचा करना था इसलिए भी उन्हें भाषा का नूतन संस्कार करना पड़ा।

प्रसाद की शैली

भाषा के अनुरूप प्रसाद की शैली को भी एक ठोस आधार प्राप्त है। अपनी रचनाओं में ये अपने-आपको कभी नहीं भूले हैं, चाहे वह गद्य-साहित्य हो या पद्य। उनकी प्रत्येक पंक्ति में उनकी आत्मा बैठी है, काव्य का सौष्ठव

वर्तमान है। अतः यह ठीक ही कहा गया है कि प्रसाद का कवि अपना अस्तित्व कभी नहीं खोता। उसका स्पन्दन पंक्ति-पंक्ति में प्रस्फुटित है। इसके अतिरिक्त दार्शनिक प्रसाद ने भी कवि प्रसाद को कभी अकेला नहीं छोड़ा। छोटे-छोटे वाक्यों में दार्शनिक भावों का गुम्फन और उपमाओं तथा उक्तियों द्वारा सुधी पाठकों के मन पर प्रभाव का सृजन करना प्रसाद के गद्य की अपनी विशेषता है। उनकी गद्य-शैली को हम मुख्यतः तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) भावात्मक शैली—किसी भी कवि के गद्य की भावात्मक शैली में भावों की सरसता का होना स्वाभाविक है। गद्य में जहाँ प्रसाद भावावेश में आ जाते हैं वैसे स्थल पर लेखक की भावुकता और सरसता स्पष्ट हो जाती है। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व-चित्रण में लेखक ने भावात्मक शैली का प्रयोग किया है। इस शैली को छोटे-छोटे सरस वाक्यों से बड़ी शक्ति मिलती है और उसमें गति और प्रवाह होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पात्रों का भावावेश प्रसाद के व्यक्तिगत भावावेश का ही प्रतिविम्ब है। उनकी व्यक्तिगत मनोवृत्तियों का परिचय हमें ऐसे स्थलों पर मिलता है। लेखक के हृदय की तरल भावुकता पानी में छलकते हुए और चमकते हुए तेल के सदृश सतह पर दिखाई पड़ती है।

(ख) चित्रात्मक शैली—चित्रात्मक शैली नाटककार और कहानीकार के लिए आवश्यक होती है; क्योंकि चरित्रों की अवस्थाओं का प्रदर्शन, भावों की अभि-व्यंजना और विषयों का स्पष्टीकरण इस शैली द्वारा सुगम और सरल होता है। प्रसाद परिस्थितियों का वर्णन चित्रों की अवतारणा द्वारा करते हैं। उनके शब्द-चित्र लेखक की कुशल चित्र-कला के परिचायक हैं। कुछ सार्थक शब्दों को चुनकर किसी वाह्य परिस्थिति और मानसिक स्थिति का वर्णन करने में लेखक को बड़ी सफलता मिली है। इन चित्रों में प्रसाद की संवेदनशीलता, मार्मिकता और काव्यात्मकता दर्शनीय है।

(ग) व्यंग्यात्मक शैली—तीसरी विशेषता, जो हम प्रसाद की गद्य-शैली में पाते हैं वह है उनका व्यंग्य। उनके व्यंग्य बड़े चुटीले और मार्मिक होते हैं। ये स्वस्थ भी हैं और यथार्थ भी। इस शैली में किसी महिम सत्य की ओर लेखक का संकेत होता है जिसमें गम्भीर परिहास भी कभी-कभी झाँक जाता है। विशेषतः नाटकों में व्यंग्य के प्रयोग से वर्णन सजीव हो उठा है।

इनके अतिरिक्त प्रसाद के गद्य में वहुत बड़ी संख्या में सूक्तियाँ मिलती हैं। इन सूक्तियों में लालित्य के साथ मन को प्रभावित करके झकझोरने की अद्भुत शक्ति है। मुहावरों का प्रयोग तो लगभग नहीं हुआ है, पर कहीं है भी तो उसमें प्रेमचन्द के मुहावरों की चुलवुलाहट नहीं है। किन्तु प्रसाद जी अपनी शैली में इसकी अपेक्षा भी नहीं करते।

प्रसाद की भाषा-शैली—उपसंहार

सामान्यतः प्रसाद की भाषा-शैली आवश्यकतानुसार भावों के अनुरूप वदलती गई है, अतः यह व्याख्यात्मक नहीं है। उनकी भाषा में न तो कृत्रिम अलंकारों

का अम्बार है और न मुहावरों की मादकता। उसका अपना स्वतन्त्र रूप है, जो केवल शब्द-चयन पर निर्भर करता है। प्रसाद जिस द्विवेदी युग में लेखक बनकर पैदा हुए थे वह भाषा की सरलता का युग था; सरसता की ओर बहुत ही कम लेखकों का ध्यान गया था। प्रसादजी ने युग की माँग के विपरीत साहित्यिक शैली में काव्य की रमणीयता और सरसता भरी। यह उनका अपना प्रयोग था। फलतः भाषा-शैली क्लिष्ट हो उठी और व्यावहारिक भाषा भी साहित्यिक आवरण में सज-सँवरकर बाहर निकली। उनके वाक्य संतुलित और व्याकरण-सम्मत हैं। जहाँ वे किसी घटना का वर्णन करने लगते हैं या किसी कथानक का विकास होने लगता है, वहाँ सजग पाठकों की उत्सुकता जागृत करने में इनकी भाषा-शैली सहायक हुई है। एक सीमा तक हम शुक्लजी और प्रसादजी के गद्य की तुलना कर सकते हैं। शुक्लजी मूलतः निबन्धकार और आलोचक थे पर प्रसाद एक साथ कथाकार, नाटककार और कवि थे। अतः शुक्लजी की शैली व्याख्यात्मक और प्रसाद की शैली भावात्मक है। प्रसाद का साहित्य गम्भीर विचारकों तथा साहित्य में स्वस्थ रुचि रखने वालों के लिए लिखा गया है: जो साधारण लोगों की पहुँच के परे है।

यह कहा जाता है कि प्रसाद ने सर्वसाधारण के लिए कुछ नहीं लिखा, किन्तु इसमें प्रसाद का कोई दोष नहीं। वे अपने युग के सारे गरल को नीलकण्ठ महादेव की तरह गले के नीचे उतार चुके थे। उनका हिन्दी-गद्य उस दिन की राह देख रहा है जब हिन्दी का गद्य-साहित्य अपनी सारी शक्ति के साथ साधारण पाठकों की बौद्धिक और आध्यात्मिक चेतना के परिष्कार में समर्थ होगा। उनकी कृतियों का यथार्थ मूल्यांकन आने वाली पीढ़ी करेगी। प्रायः प्रसाद की तुलना रवीन्द्रनाथ से की जाती है। वास्तव में वे हिन्दी के रवीन्द्र थे, किन्तु हिन्दी का यह मौन साधक प्रचार और आडम्बर की दुनिया से दूर रहा। जैसे कि वे आडम्बर-रहित थे वैसे ही उनका गद्य बनावट से दूर है। प्रसाद का बौद्धिक दृष्टिकोण इतना विकसित है कि उनके साहित्य में उनकी आत्मा हिन्दी-गद्य-साहित्य का आगामी कितने वर्षों तक पथ-प्रदर्शन करती रहेगी। कहा नहीं जा सकता कि उनकी पंक्ति-पंक्ति में आदर्श, स्वर-स्वर में करुणा, भाव-भाव में विश्व-प्रेम और पद-पद में माधुर्य भरा है। प्रसादजी अपने गठित शरीर, चौड़े ललाट और सुन्दर मुखमण्डल के द्वारा जिस प्रकार हजारों के बीच पहचाने जाते थे, उसी प्रकार उनका एक-एक असाधारण वाक्य, स्वस्थ शब्द-चयन, सुन्दर भाषा-शैली और पुष्ट विचार हजारों-लाखों वाक्यों के बीच पहचाने जा सकते हैं। उनके गद्य का युग अभी आया नहीं, आने वाला है।

: ६ :

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिन्दी-साहित्य में स्थान

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-निबन्ध-साहित्य की, जिस स्तर पर, प्राण-प्रतिष्ठा की वहाँ से उसे भारतीयता प्रदान करके उन्मुक्त वातावरण में लाने का श्रेय डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी को ही है। यदि निष्पक्ष भाव से देखा जाय तो शुक्लजी के बाद द्विवेदी जी ही हिन्दी के सफल और सबल निबन्धकार हैं। द्विवेदी जी को शुक्ल जी से भी साहित्यिक प्रेरणा मिली थी। यह बात दोनों की भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से परिलक्षित है। किन्तु शैली, विषय और वातावरण की दृष्टि से दोनों एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। द्विवेदी जी एक मौलिक निबन्धकार हैं और इसीमें उनकी श्रेष्ठता निहित है। द्विवेदीजी को रवीन्द्रनाथ और क्षितिमोहन सेन-जैसे व्यक्तियों के साहचर्य का अवसर प्राप्त हो चुका है, फलतः उनके निबन्धों में प्राकृतिक पदार्थों के प्रति आत्मीयता का भाव झलकता है। निबन्धकार के रूप में उन्होंने साहित्य की जो सेवा की है उससे उनकी महत्ता सिद्ध होती है। उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों का जो उद्धार किया है वह व्यापक है। इनके निबन्ध प्राचीन-से-प्राचीन और आधुनिक-से-आधुनिक किसी भी विषय से अछूते नहीं हैं। इतिहास, ज्योतिष, भारतीय संस्कृति, जैन-धर्म, बुद्ध धर्म, नाथ सम्प्रदाय आदि से लेकर संस्कृत, बंगला और हिन्दी का व्यापक ज्ञान तथा गम्भीर अध्ययन इनके निबन्धों को बहुत ऊँचा उठाता है। आलोचना-साहित्य का उन्होंने जो दिशा-निर्देश किया है वह मौलिक तो है ही, साथ ही स्वस्थ और स्वच्छन्द भी है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' तथा सूर और कबीर की आलोचनाएँ इस नवीन प्रयोग में सफल उतरी हैं। राजनीतिक प्रश्नों पर साहित्य की दृष्टि से, समाधान उपस्थित करना द्विवेदी जी की एक नई विशेषता है और इस क्षेत्र में वे रवीन्द्रनाथ का अनुसरण करते दिखाई देते हैं। गद्य के संकुचित क्षेत्र में रहकर भी द्विवेदी जी की साधना बहुमुखी है, एक मौन साधक रहकर भी वे अपने संदेशों को एक विशिष्ट उद्देश्य से मुखरित करने में सफल हुए हैं। आचार्य शुक्ल की मृत्यु के बाद पं० हजारी-प्रसाद ही निबन्ध साहित्य में मार्ग-दर्शन का कार्य कर रहे हैं और इसमें सन्देह नहीं कि इनकी प्रतिभा अभी विकसित होती जा रही है। अतः निर्विवाद रूप से इनका आचार्यत्व अक्षुण्ण है। हिन्दी-साहित्य को अभी इनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ

हैं। अब हम इनके निबन्धों पर विचार करेंगे।

अपनी संतुलित और सुविकसित विचार-धारा को प्रतिपादित करते हुए द्विवेदी जी अपने निबन्ध-साहित्य के जिस रूप को सामने रखते हैं, वह समन्वय का रूप है। यह समन्वय है आधुनिकता और प्राचीनता का, नवीन सभ्यता का और प्राचीन संस्कृति का। बीसवीं शताब्दी में पहली शताब्दी के आचार-विचारों को प्रतिबिम्बित करना और पहली शताब्दी में बीसवीं शताब्दी के अंकुरों का अन्वेषण करते हुए दोनों में सामंजस्य उपस्थित करना ही इस समन्वय का स्पष्ट उद्देश्य है। हम द्विवदी जी को एक ऐसे प्रतिष्ठित स्थान पर पाते हैं, जहाँ इने-गिने साहित्यिक ही पहुँच पाते हैं। इनके निबन्धों का अध्ययन दो भागों में किया जा सकता है—एक है अन्तरंग की परीक्षा और दूसरा बहिरंग की समालोचना। इस प्रकार हमारे सामने दो पक्ष उपस्थित हुए हैं—कला-पक्ष और भाव-पक्ष। कला पक्ष क अन्तर्गत उनकी निबन्ध-कला, शैली, भाषा आदि की विवेचना उपस्थित की जा सकती है। भाव-पक्ष की सीमा में हम उनकी संस्कृति, देश, भाषा और समाज के प्रति प्रकट की गई गूढ़ भावनाओं का रहस्योद्घाटन करेंगे।

सामान्य मानव-संस्कृति

पहले हम बाह्य अंगों की विशेषताओं को ही समझ लें। द्विवेदी जी अपनी संस्कृति के प्रति अत्यधिक जागरूक हैं। जब हम संस्कृति के प्रति इनके प्रेम की बात करते हैं, तो हमें स्मरण रखना चाहिए कि रूढ़िवादिता उनसे उतनी ही दूर है, जितना असत्य सत्य से। इनकी पंक्तियों में जिस संस्कृति का समर्थन किया गया है वह समस्त मानवता को अपनी परिधि से ढक लेने में समर्थ है। इनकी दृष्टि में जातीय पक्षपात, अपने धर्म और साहित्य का अन्ध-विश्वास, उसकी हठ-वादिता और जड़वादिता—मानवता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधक हैं। मेरे निबन्ध के नायक इन दोषों से मुक्त ही नहीं वरन् इतने व्यापक विचार वाले हैं कि कभी-कभी हमें इनकी बौद्धिकता की अतिशयता का बोध होने लगता है। 'भारतीय संस्कृति की देन' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं—"भारतीय संस्कृति पर कुछ विचार करने से पहले मैं यह निवेदन करना कर्तव्य समझता हूँ कि मैं संस्कृति को किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक ही सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है।" मानव-संस्कृति की इससे विशद और स्पष्ट परिभाषा और क्या हो सकती है? अपने इसी विचार को आधार मानकर द्विवेदी जी आज की सभ्यता में सच्चा विश्व-बन्धुत्व देखना चाहते हैं, किन्तु उन्हें घोर निराशा तब होती है जब वे देखते हैं कि बौद्धिकता की तीव्र मदिरा से प्रभावित होकर आज के मानव ने अपने हृदय को आप ही नष्ट कर डाला है। यही कारण है कि द्विवेदी जी का शब्द-शब्द भारतीय संस्कृति की दुहाई देना चाहता है।

इनके निबन्धों में सार्वभौम राष्ट्रीय चेतना—विशुद्ध राष्ट्रीयता की बड़ी ही तीव्र भावना वर्तमान है। विशुद्ध इसलिए कि इसमें राष्ट्रीय पक्षपात (national-

preijudice) की गन्ध नहीं है। यह हमारे युग की माँग है। इसमें सन्देह नहीं कि निबन्ध के क्षेत्र म द्विवेदी जी ने युग की जो प्रतिध्वनि स्पष्ट की है वह एकाध अपवाद को छोड़कर, किसी दूसरे निबन्धकार में नहीं मिली। इनकी राष्ट्रीयता में जन्म-भूमि, साहित्यकार, आलोचक, और प्रकाशक सभी आते हैं। इनकी राष्ट्रीयता ने हिन्दी-भाषा को आधार मानकर पन्द्रह करोड़ से भी अधिक हिन्दी भाषा-भाषी, दीन-हीन कृषकों से लेकर बड़े-बड़े विद्वज्जनों तक को समेट लिया है। इनकी राष्ट्रीयता ने आर्य-संस्कृति और प्राचीन इतिहास का बहाना बनाकर भारत के चालीस करोड़ हृदयों को अपना लिया है। अधिक व्यापक रूप में इनकी राष्ट्रीयता ने मानवता के नाम पर समस्त मानव को बन्धु बनाकर अन्तर्राष्ट्रीयता का रूप खड़ा किया है। द्विवेदी जी की राष्ट्रीयता हमारे युग की सबसे स्वस्थ और सुन्दर सूझ है, जिसे गोल्डस्मिथ ने (Citizenship of the world) की संज्ञा दी थी। आधुनिक या भावी साहित्यिकों को उन्होंने जो संदेश दिया है, वह एक शब्द में, जागृति का संदेश है, प्रगति का संदेश है। अपने संदेशों में जिस प्रकार की राष्ट्रीयता का बोध ये कराना चाहते हैं, उसमें विश्व-बन्धुत्व की भावना स्पंदित है।

द्विवेदी जी का हिन्दी-प्रेम अन्ध-विश्वासियों की पूजा करने वाली वृत्ति से बिलकुल विपरीत है। ये हिन्दी-प्रेम का अर्थ हिन्दी-भाषा-भाषी के जागरण से लेते हैं। ये इस बात को मानते हैं कि हिन्दी में शब्दावली की कमी है और इसके लिए विदेशी भाषाओं के शब्दों को अपना लेने में कोई हानि नहीं है। उन्होंने बतलाया है कि देव-भाषा संस्कृत ने भी अनेक विदेशी भाषाओं को अपनाया था। उन्हींके शब्दों में "अपने साहित्य का सर्वोत्तम देकर दूसरे के साहित्य का सर्वोत्तम ग्रहण करना ही, इनके हिन्दी-प्रचार की सुन्दर योजना है। जहाँ तक ाहित्य से इनका सम्बन्ध है, ये अपने को एक निबन्ध में स्पष्ट करते हैं और कहते हैं—"मनुष्य ही साहित्य का लक्षण है।" साहित्यकारों के दायित्व की व्याख्या करते हुए द्विवेदी जी ने जिस मार्ग का निर्धारण किया है, यदि उसका दशांश भी कार्य रूप में परिणत किया गया तो हिन्दी-साहित्य का बहुत बड़ा उपकार होगा। इस कार्य के लिए उन्हें ऐसे युवकों की आवश्यकता है जिन्हें गरुड़ के समान साहित्यिक भूख लगी है।

चौथी और प्रमुख विशेषता जो हम द्विवेदी जी में पाते हैं वह है वस्तु-निरीक्षण की सूक्ष्मता। 'अशोक के फूल' शीर्षक निबन्ध को पढ़कर मुझे बरबस चेस्टर्टन की याद आती है, जिसने एक बार अंग्रेजी सिक्के को देखकर इंगलैंड के प्राचीन इतिहास की कल्पना कर ली थी। इसी प्रकार छोटी-छोटी वस्तुओं पर एक अत्यन्त गम्भीर निबन्ध प्रस्तुत कर देना द्विवेदी जी की नई विशेषता है। इससे हम उनकी उस भावुकता का परिचय पाते हैं जिसने उनके निबन्धों में हृदय-ग्राहिता की सुगन्ध भर दी है। 'नया वर्ष आ गया' निबन्ध लिखकर तिथि, दिन एवं संवत् का इतिहास बता देना, 'एक कुत्ता और एक मैना' शीर्षक निबन्ध में

कुत्ते और मैना की अन्तर्भावनाओं का चित्र उपस्थित कर देना, 'मेरी जन्म-भूमि' में एक साधारण संग्राम का ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व निर्धारित करना, द्विवेदी जी की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। उनका अध्ययन विशाल है। प्राचीन से लेकर आधुनिकतम विषयों में उनकी गहरी पैठ है।

भाषा-शैली

द्विवेदी जी ने जिस भाषा को अपनाया है, वह सरल है। इनकी भाषा में शब्दों का प्रयोग आवश्यकता के अनुरूप हुआ है। जहाँ जिस प्रकार के भाव की अभिव्यक्ति हुई है वहाँ भाषा भी वैसी ही लिखी गई है। यही कारण है कि उन्होंने उर्दू, फ़ारसी, अंग्रेज़ी आदि शब्दों को अपनाने में संकोच नहीं किया है। आप द्विवेदी जी के निबन्धों में सबूत, मजहब, पेशा, शौक, काबू, गलती, चीज, अक्ल, मंशा, बिस्मिल्ला आदि से लेकर प्राइवेट, पुलिस केस, सुपरिण्टेण्डेण्ट, इन्जेक्शन, फैक्टरी, डाक्टर-जैसे विदेशी शब्दों को यथा-स्थान पा सकते हैं। किन्तु शब्दों के प्रयोग में द्विवेदी जी सदैव सतर्क रहते हैं, जिससे निबन्ध का प्रवाह न कहीं टूटता है और न कहीं अस्वाभाविकता ही आती है। फिर भी संस्कृत के सरल शब्दों को ही अधिकतर स्थान देने का यत्न उन्होंने किया है। जहाँ-तहाँ भावों की गहनता के अनुसार संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। द्विवेदी जी ने जिस भाषा का व्यवहार किया है वह सर्वसाधारण के साहित्य की भाषा है। मुहावरों का प्रयोग कम हुआ है, किन्तु वाक्यों की बनावट और शब्दों की योजना सुन्दर और स्वाभाविक है।

द्विवेदी जी ने जिस शैली का प्रयोग विशेष रूप से किया है वह है गवेषणात्मक शैली। भाषा का प्रवाह स्वाभाविक है, कहीं प्रयत्न का आभास नहीं मिलता। शुक्ल जी की शैली और द्विवेदी जी की शैली में मूल अन्तर यही है कि जहाँ शुक्ल जी की शैली मूलात्मक है वहाँ द्विवेदी जी की व्याख्यात्मक। हम कह सकते हैं कि द्विवेदी जी का विषय ही ऐसा है जिसके लिए उन्हें सूत्र-वाक्य प्रस्तुत करने की आवश्यकता ही नहीं होती। किन्तु तब भी भावों का तारतम्य और विचारों की गम्भीरता इस प्रकार बनी हुई है कि पाठक कभी भी अपनी तन्मयता नहीं खोता। इस प्रकार की शैली की दो विशेषताएँ होती हैं—एक तो गहन-से-गहन भाव सहसा बोधगम्य हो जाते हैं और दूसरी यह कि विचार अधिक प्रभावशाली बन जाते हैं। द्विवेदी जी की शैली शुक्ल जी की अंग्रेजी शैली से प्रभावित नहीं है। उनमें मनोविश्लेषण की वैसी (आचार्य शुक्ल-जैसी) क्षमता न होने के कारण वैसा प्रयास भी नहीं दिखाई देता। किन्तु सहसा हृदय में उत्साह जगा देने की कला द्विवेदी जी ही जानते हैं—"समय आयगा जब ऐसे महापुरुष शीघ्र ही पैदा होंगे, उस दिन दुनिया देखेगी कि कौन ऐसा साहसी होता है जो सिंह के केसर को पैर से छूने की हिम्मत करता है ... ..." अथवा "सहज मनुष्य ही सहज भाषा बोल सकता है। दाता महान् होने से दान महान् होता है।"

द्विवेदी जी के निबन्धों में हम कहीं-कहीं व्यंग्य का पुट भी पाते हैं और हास्य का प्रयोग तो अनेक स्थानों पर हुआ है। पक्षी-दम्पति में जो वार्तालाप 'एक कुत्ता और एक मैना' शीर्षक निबन्ध में किया गया है वह इसका एक सुन्दर प्रमाण है। व्यंग्य और हास्य दोनों का एक सम्मिलित उदाहरण इस प्रकार है—"पर सही बात यह है कि अधिकांश ऊपर से ऐसा दिखाते रहने पर भी भीतर-ही-भीतर अपनी आलोचनाओं को उतना महत्त्व नहीं देते। अगर वे अपनी-अपनी सम्मतियों को सचमुच ही स्वीकरणीय मानते तो दो-चार साहित्यिक पुलिस-केस हर शहर में होते रहते।" इस प्रकार के उदाहरण अनेक स्थलों पर मिलते हैं जिनका उल्लेख इस छोटे-से निबन्ध में कठिन है।

द्विवेदी जी की भाषा और शैली पर विचार कर लेने के बाद हम कह सकते हैं कि निबन्ध-कला को इन्होंने किस रूप में स्वीकार किया है। निबन्ध की जो परिभाषा शुक्ल जी ने दी है वह इन पर लागू नहीं होती। इनके निबंध हिंदी में Essay का अर्थ और भाव दोनों रखते हैं। यही कारण है कि कहीं-कहीं इनकी रचनाओं में निबन्ध और प्रबन्ध दोनों की शैली देखी जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि द्विवेदीजी तभी निबन्ध की रचना करते हैं जब ये हृदय से विवश हो गए हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि एक कवि के साथ इनके भावोद्वेग की तुलना की जा सकती है। अतएव हम इनकी रचनाओं में व्यक्तित्व के दर्शन करते हैं। ये जो भी लिखते हैं, पहले वह अपने अनुभवों का ढाँचा तैयार कर लेते हैं, फिर उस पर अपने अध्ययन की मिट्टी और अन्त में अपनी भावुकता का रंग डाल देते हैं। इतना कर लेने के बाद ये जिस निबन्ध को सामने रखते हैं हम उनमें एक प्राणमय चित्र की सजीवता पाते हैं। तैयार की हुई प्रतिमा में अपने ही प्राणों को स्पंदित कर देने में ये बहुत सफल हुए हैं। निबन्धों में ऐसा प्रतीत होता है कि वे व्यक्तिगत रूप से अपने पाठकों को प्रेरित कर रहे हैं या स्पष्ट वाणी में कुछ आदेश दे रहे हैं, किन्तु ऐसे संदेशों की शैली ऐसी है कि इनका आचार्यत्व कहीं भी नष्ट नहीं हुआ है। द्विवेदी जी की रचनाओं में हम तर्क भी पाते हैं। यह तर्क कभी-कभी व्याख्यान का रूप धारण कर लेता है। निःसन्देह यह एक दुर्बलता है। इसी प्रकार यदि हम द्विवेदी जी के निबन्धों की प्रारम्भिक पंक्तियों पर ध्यान दें तो ऐसा प्रतीत होगा मानो किसी भाषण का प्रारम्भ हो रहा है या व्यक्तिगत रूप से किसी के साथ किये गए वार्तालाप का अंश हो। इनके निबन्धों का अन्त निर्णयात्मक होता है।

अभी मैंने निबन्ध और प्रबन्ध की जिस आँख-मिचौनी का उल्लेख किया है वह एक उलझा हुआ विषय है। यहाँ मेरा तात्पर्य विषयान्तर के प्रश्न से है। ये जिस विषय पर निबन्ध लिखना प्रारम्भ करते हैं उसका एक ही तरह से निर्वाह न हीं करना द्विवेदी जी की एक दुर्बलता मानी जा सकती है। किन्तु मेरे विचार से इस निष्कर्ष पर एकाएक नहीं पहुँचा जा सकता। विषयान्तर का दोष होते हुए भी यह अनेक वार गुण बन गया है। विषयान्तर का दोष तभी मिट जाता है जब हम निबन्ध के शीर्षकों को उन्हींके अर्थ में लेते हैं। इस दृष्टि से वे स्वच्छन्द हैं।

'कुत्ते और मैना' पर निवन्ध लिखने के कई तात्पर्य हो सकते हैं—उनकी उपयोगिता का वर्णन, उनके भावों का चित्रण अथवा उनसे सम्बद्ध किसी संस्मरण का स्पष्टीकरण। इसी प्रकार किसी विषय को समझाने की उनकी अपनी विधि है। फुलवारी का वर्णन करते-करते, वे कभी क्यारी का भी उल्लेख कर देते हैं, जो कि विषय का अन्तर न होकर उसकी सहायक व्याख्या है। इसी प्रकार किसी फूल को देखकर उनके हृदय पर क्या प्रतिक्रिया होती है, इसके लिए वे अपने को एक कवि की तरह स्वतन्त्र रखते हैं। तभी तो हम कहते हैं कि उनकी रचनाओं में उनका व्यक्तित्व प्रधान है।

तीसरा खण्ड

युगान्तरकारी कहानीकार

: १ :

प्रेमचन्द

[सन् १८८०—१९३६]

साहित्य में प्रेमचन्द का स्थान

कहानी-साहित्य का वास्तविक प्रारम्भ प्रेमचन्द से होता है। प्रेमचन्द के पहले हिन्दी में उपन्यास और कहानियाँ थीं अवश्य, पर उनके रूप सर्वथा भिन्न थे। इनके पहले गद्य-साहित्य में तीन धाराएँ बह रही थीं और इन तीन धाराओं के तीन साहित्यिक नेता थे—१. देवकीनन्दन खत्री, २. किशोरीलाल गोस्वामी, ३. गोपालराम गहमरी। सन् १९१६ ई० तक हिन्दी-पाठकों पर इनका जादू सिर पर चढ़कर बोल रहा था। १९०७ में प्रेमचन्द अपनी कहानियों के साथ साहित्य में आये, पहले उर्दू में, फिर हिन्दी में। इन्होंने देवकीनन्दन खत्री के रोमाण्टिक संसार को सामयिक जीवन का स्वरूप दिया। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों की मार्मिक विवेचना की, कल्पित कथानक और रोमांचकारी घटनाओं के स्थान पर जीवन और जगत् की वास्तविकता का दर्शन कराया। हिन्दी-कहानी के क्षेत्र में इन्होंने ही मौलिक कहानियों की सृष्टि की। प्रेमचन्द के पहले पाठकों के मनोरंजन पर जरूरत से ज्यादा ध्यान रखा जाता था। इसके विपरीत प्रेमचन्द ने जनता की रुचि को उन्नत बनाने तथा उसमें सामयिक जीवन के अनुकूल नवीन संस्कार भरने का अथक परिश्रम किया। इन्होंने ही प्रथम-प्रथम हिंदी-कहानियों को सुन्दर साहित्यिक रूप देकर जनता की रुचि को उन्नत किया। आज खत्री जी के उपन्यासों की कोई पूछ नहीं है। हिन्दी के पाठकों के पुराने दृष्टिकोणों को बदलने में प्रेमचन्द का उतना ही हाथ है जितना आधुनिक भारत के राजनीतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने का श्रेय महात्मा गांधी को है। अतएव, प्रेमचन्द हिन्दी-कहानी तथा उपन्यास-साहित्य के प्रथम युगान्तरकारी साहित्यकार हैं, जिन्होंने न केवल हिन्दी-साहित्य में मौलिकता और नवीनता का रस-संचार किया, बल्कि जन-जीवन को प्रबुद्ध-शुद्ध और जागरूक बनाने का पूर्ण प्रयास भी किया; जिसमें उन्हें पूरी सफलता भी मिली।

प्रेमचन्द 'मूक जनता' के प्रथम साहित्यकार हैं। भारतीय गाँवों को ये दर्द का प्रतीक मानते थे। इस देश के ८० प्रतिशत बे-जबान ग्रामीणों का जितना स्वाभाविक चित्रण प्रेमचन्द ने किया है उसका एक अंश भी भारतीय साहित्य के किसी पुराने या नये साहित्यकार में नहीं पाया जाता। इस क्षेत्र में इनकी दृष्टि

सर्वथा नवीन तथा मौलिक थी। भारतीय भाषाओं के बहुतेरे लेखकों ने प्रेमचन्द की इस नई दिशा का अनुकरण किया। प्रेमचन्द ने जितनी सफाई, मार्मिकता और सहृदयता से इन गाँवों का चित्र उपस्थित किया है वैसा अब तक हिन्दी का कोई दूसरा लेखक नहीं कर सका। इस क्षेत्र में प्रेमचन्द अद्वितीय हैं, वे भारत के एकमात्र प्रतिनिधि लेखक हैं। अब तक के कहानी-साहित्य में वैभव के पुत्रों को ही अपने साहित्य का पात्र बनाया जाता था। ग्राम-साहित्य प्रस्तुत करने की ओर लेखकों की दृष्टि नहीं थी। प्रेमचन्द ही सबसे पहले हिन्दी-लेखक हैं जिन्होंने इतने बड़े पैमाने पर भारत के ग्रामीण-जीवन का इतना स्वाभाविक चित्रण किया। इनकी दृष्टि में गाँव और नगर में अविच्छिन्न सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध को जोड़ने का सफल प्रयास उन्होंने ही किया। महात्मा गांधी के विशाल व्यक्तित्व से प्रेरणा ग्रहण करने वाले इस लेखक ने अपनी आधी से अधिक कहानियों में ग्रामीण वातावरण को ही अपने साहित्य का आधार बनाया है। इस तरह की कहानियाँ प्रेमचन्द के साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। उनके साहित्यिक जीवन की कड़ी कमाई हैं।

"प्रेमचन्द के पहले हिन्दी की गद्य-शैली अविकसित थी। द्विवेदी जी के प्रभाव से हिन्दी-गद्य-शैली का परिमार्जन अवश्य हुआ था, पर उसमें निर्जीवता और शिथिलता की प्रबलता तथा सरलता और स्वाभाविकता का अभाव था। भाषा की ग्राहिका-शक्ति परिमित थी, उसमें इतनी व्यापकता और उदारता न थी कि वह एक ओर तो उन्नत राष्ट्रों के भावों और विचारों को आत्मसात् करके उन्हें अपने में खपा सकें और दूसरी ओर जीवन और जगत् की सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक अन्तर-वृत्तियों का कलात्मक रहस्योद्घाटन कर सके।........ हिन्दी-साहित्य के इतिहास में प्रेमचन्द सबसे पहले साहित्यिक हैं जिन्होंने उपर्युक्त अभावों को दूर किया। भाषा और शैली के क्षेत्र में इन्होंने हिन्दी-गद्य को बहुत-कुछ दिया। हिन्दी-गद्य-शैली की शिथिलता हटाकर उन्होंने उसे उर्दू की सरसता, मुहावरेदारी और रवानी दी, जिससे वह अधिक चुस्त और सुबोध बन गई। जिस 'हिन्दुस्तानी' की समस्या पर इतना अधिक विवाद होता रहा है, उसका व्यावहारिक स्वरूप सबसे पहले प्रेमचन्द ने ही हिन्दी में दिखाया। सारांश यह है कि भाव और भाषा दोनों के क्षेत्र में प्रेमचन्द ने हिन्दी-साहित्य को ऐसी भेंट दी है जिसके लिए वह शताब्दियों से तरस रहा था।"[1]

प्रेमचन्द का हिंदी-साहित्य में उच्चतम स्थान तो है ही, उन्होंने संसार के कहानी-साहित्य में भी एक उच्च स्थान बना लिया है। उनकी कहानियों का अनुवाद देश की विभिन्न प्रांतीय भाषाओं—बँगला, गुजराती, मराठी, तमिल आदि में तो हो ही रहा है इसके साथ ही विश्व की कुछ सभ्य भाषाओं—अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, डच रूसी और जापानी में भी हुआ है। इससे उनकी उत्कट प्रतिभा का परिचय मिलता है।

प्रेमचन्द के पूर्व कथाकार नागरिक जीवन के उच्च वर्ग से ही कथानक चुनता था। उन्होंने समाज के निम्न स्तर के व्यक्तियों को अपने साहित्य में स्थान

१. 'कहानी-कला और प्रेमचन्द', निवेदन, पृ० १-२

दिया। अछूतों और हरिजनों की करुण कहानी इनके साहित्य के बहुत बड़े भाग पर छाई हुई है।

भारतेन्दु के बाद हमारे साहित्य में प्रेमचन्द ही क्रान्तिकारी तथा युग-प्रवर्तक लेखक के रूप में आये, इसमें कोई सन्देह नहीं।

कहानीकार प्रेमचन्द

प्रेमचन्द उपन्यासकार के नाते तो महान् हैं ही, कहानीकार के नाते और भी महान् हैं। यह सच है कि पीछे चलकर उनका उपन्यासकार ही अधिक प्रकाश में आया, लेकिन पहले वह कहानीकार ही थे।

इस क्षेत्र में उनकी सफलता और लोकप्रियता अद्वितीय है। वे कहानी-लेखन-कला के अग्रदूत थे। उन्होंने लगभग तीन सौ कहानियाँ लिखीं, जिनमें कई साहित्य की अमर निधि हैं। उन्होंने कहानी को बिलकुल नया रूप दिया। वह पहले व्यक्ति थे जो सामग्री के लिए गाँवों की ओर गए और जिन्होंने सीधे-सादे ग्रामीणों के घटनाहीन जीवन को अपनी कहानियों का विषय बनाया। उन्होंने इन सीधे-सादे धरती के पुत्रों, क्लर्कों और बड़े-बड़े व्यापारियों के मामूली मुनीमों के मन की हलचल को व्यक्त किया। वे उनके संघर्षों, प्रलोभनों और कमजोरियों, उनकी आशाओं और आशंकाओं, उनकी सहज धार्मिकता और अन्ध-विश्वासों से भलीभाँति परिचित थे। किसान का मन उनके लिए खुली पुस्तक के समान था।

प्रेमचन्द और कहानी-कला

प्रेमचन्द "विदेशी लेखकों से बहुत अधिक प्रभावित थे। इसीलिए उन्होंने साहित्य की एक पृथक् विधा के रूप में कहानी के शिल्प-विधान के सम्बन्ध में अपना मत बनाया। उन्होंने कहानी के क्षेत्र और कार्य के सम्बन्ध में अत्यन्त उच्चकोटि के निबन्ध लिखे हैं। इन लेखों में प्रेमचन्द ने कहानी के सैद्धान्तिक और क्रियात्मक दोनों रूपों के सम्बन्ध में अपना निजी मत व्यक्त किया है। अतीत युगों के साहित्य से उसके जन्म और विकास का इतिहास बतलाते हुए उन्होंने इस कहानी-कला की कुछ विशेषताएँ अपने काम के लिए निर्धारित कर ली थीं।......" प्रेमचन्द उपन्यास और कहानी को साहित्य की दो पृथक्-पृथक् विधाएँ समझते हैं। इसलिए आवश्यक है कि कहानी में पेचीदा कथावस्तु न रखें। यदि ऐसा होगा तो कहानी का उद्देश्य नष्ट हो जायगा। चरित्र, कथावस्तु और वातावरण में से एक तत्त्व प्रधान होता है और शेष उसके आधीन रहते हैं। प्रेमचन्द ने यह अनुभव किया था कि उपन्यास उस वर्ग के मनोरञ्जन और ज्ञान-वर्द्धन के लिए है, जिसके पास पर्याप्त अवकाश है। कहानी उस वर्ग के लिए है जिसे जीवित रहने के लिए घोर संघर्ष करना पड़ता है। प्रेमचन्द एक दूसरे लेख में लिखते हैं कि अपने विकसित रूप में कहानी का शिल्प-विधान पाश्चात्य लेखकों के ग्रन्थों से लिया गया है। उन्होंने चेखव (Chechov) और मोपासाँ को सर्वश्रेष्ठ कहानीकार माना है। साहित्य की इस नई विधा का प्रयोग सबसे पहले बंगाली लेखकों ने किया।"[१]

१. 'प्रेमचन्द', डा० इन्द्रनाथ मदान

प्रेमचन्द के कहानी-सम्बन्धी सिद्धान्तों का सारांश निम्नलिखित है। डॉ० सत्येन्द्र ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द और उनकी कहानी-कला' में इन सिद्धान्तों को एक स्थान पर एकत्र कर दिया है और बताया है कि "प्रेमचन्द के विविध समय के इन एकत्रित मतों में समय के अनुसार परिवर्तन दीखता है, जिसने घटना को कहानी की इकाई माना, आगे चलकर वही अनुभूति को प्रधान बतलाने लगा, (प्रेमचन्द के शब्दों में, 'कहानी का आधार' अब घटना नहीं, अनुभूति हैं)। पहले आदर्श और उपयोगिता को जो प्रधान समझ रहा था, बाद में वह मनोरंजन और मानस-तृप्ति को प्रधानता देने लगा। (प्रेमचन्द के शब्दों में, वही कहानी सफल होती है, जिसमें इन दोनों में से, मनोरंजन और मानसिक तृप्ति में से, एक अवश्य उपलब्ध हो)। नीति के स्थान पर सौंदर्य-प्रेम हुआ, (उन्हीं के शब्दों में, 'उसका उद्देश्य स्थूल सौंदर्य नहीं है वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहती है कि उसमें सौंदर्य की झलक हो, और जिसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पष्ट कर सके।') और आदर्श ने आदर्श न रहकर 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' में परिणति पाई। इस भाव-विकास के अनुसार ही प्रेमचन्द की विविध प्रकार की कहानियाँ मिलती हैं।"

इसीके आधार पर डा० सत्येन्द्र ने उनकी कहानियों को तीन कालों में विभाजित किया है—१९०७ से १९२० तक प्रेमचन्द की कहानियों का आरम्भिक काल था, १९२० से १९३० तक उनकी कहानियों की विकासावस्था थी और १९३० से १९३६ तक उनकी कहानियाँ विकासोत्कर्ष की ओर उन्मुख हुईं अन्तिम ६ वर्षों में उनकी आधी से अधिक कहानियाँ लिखी गईं। इन तीन कालों की कहानियों की शैली और कला के विकास की रेखाएँ स्पष्ट हैं। प्रेमचन्द प्रगतिशील कहानीकार थे।

उनके विचार, भाव, शैली और कला में क्रमशः परिवर्तन होते गए। इसका सारांश निम्नलिखित विचार-विन्दुओं में दिया जाता है—

१. "कहानी में एक तथ्यता होती है, एक घटना, आत्मा की एक झलक, एक मनोवैज्ञानिक सत्यता का प्रदर्शन, जो भी हो वह एक हो, विविध न हो।"

२. "घटना का स्थान अनुभूति ले सकती है, अनुभूति वाली कहानियाँ ऊँचे दर्जे की होती हैं।"

३. "जिस कहानी का आधार मनोवैज्ञानिक सत्य हो, वह सबसे उत्तम कहानी होती है।"

४. "वह मनोरंजन करती है, पर उसमें मानसिक तृप्ति के लिए, भावों को जागृत करने के लिए भी कुछ होता है।"

५. "यह आवश्यक है कि कहानी का जो परिणाम या तत्त्व निकले वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ बारीकी हो।"

६. "कहानी में तीव्रता हो, ताजगी हो, कुछ भी ऐसा न हो जो अनावश्यक कहा जा सके।"

७. "कहानी की भाषा बहुत ही सरस और सुबोध होनी चाहिए।"

८. "कहानी घटना-प्रधान हो सकती है और चरित्र-प्रधान भी। पिछले

प्रकार की कहानियाँ उच्च कोटि की समझी जाती हैं।"

९. "घटनाएँ पात्रों की मनोगति से स्वयं उद्‌भूत हों, वे प्रधानता न ग्रहण कर लें।"[1]

प्रेमचन्द की कहानियों का अध्ययन उपरिलिखित विचार-विन्दुओं के आलोक में करना चाहिए, तभी हम उनकी कहानियों का वास्तविक आनन्द ले सकते हैं। हिन्दी के अपने कहानी-संग्रह 'मानसरोवर' के प्राक्कथन में, जो उनकी मृत्यु के कुछ ही पहले छपा था, उन्होंने वर्तमान कहानी की परिभाषा, विषय-क्षेत्र, कार्य और उसके स्वरूप की जो मार्मिक व्याख्या की है वह अन्यत्र नहीं मिलती। वह इस प्रकार है—"कहानी जीवन के बहुत निकट आ गई है। उसकी जमीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चित्रों और कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का, सजीव स्पष्ट चित्रण है अब उसमें व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। उसकी शैली भी अब प्रवाहमयी हो गई है।

"लेखक को जो कुछ कहना है, वह कम-से-कम शब्दों में कह डालना चाहता है। वह अपने चरित्रों के मनोभावों की व्याख्या करने नहीं बैठता, केवल उनकी ओर इशारा-भर कर देता है। अब हम कहानी का मूल्य उसके घटना-विन्यास से नहीं लगाते। हम चाहते हैं, पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे। खुलासा यह कि आधुनिक गल्प का आधार अब घटना नहीं, मनोविज्ञान की अनुभूति है।" श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के शब्दों में "आधुनिक गल्प की इससे अच्छी परिभाषा आज का बड़े-से-बड़ा समालोचक भी नहीं दे सकता। अपने जीवन की संध्या में प्रेमचन्द ने जो कहानियाँ लिखीं, उनसे प्रकट होता है कि उन्होंने कहानी-कला की विवेचना ही नहीं की बल्कि उस कला पर पूरी उतरने वाली कहानियाँ भी लिखीं हैं। 'कफन,' 'नशा,' 'रसिक सम्पादक,' 'मनोवृत्तियाँ' ऐसी ही कहानियाँ है।"

'प्रेमचन्द और उनकी कला' पर लेख लिखते हुए उर्दू के एक आलोचक श्री आगा अब्दुल हमीद ने फरमाया है कि "कहानी के सम्बन्ध में प्रेमचन्द का दृष्टिकोण किसी कद्र पुराना है, यों कह लीजिए कि आधुनिक पश्चिमी कथाकारों से भिन्न है, वे कभी-कभी इस बात को भूल जाते हैं कि अनावश्यक विस्तार और असंगत बातें कहानी को कितनी हानि पहुँचाती हैं।" इसका उत्तर देते हुए श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने 'हंस' में लिखा था कि "यह कहना कि प्रेमचन्द आधुनिक कहानी की टेकनिक को नहीं जानते थे और उनका दृष्टिकोण पुराना है, यह प्रकट करता है कि आगा साहब ने प्रेमचन्द की इधर की कहानियों को पढ़ने और उनके दृष्टिकोण को जानने का प्रयास नहीं किया। उनकी बहुत-सी कहानियाँ ऐसी हैं जो आधुनिक कहानी की टेकनिक पर पूरी उतरती हैं और उनमें कहानी के सब गुण मौजूद है। 'शतरंज के खिलाड़ी', 'गुल्ली डण्डा', 'कफन' कुछ ऐसी ही कहानियाँ हैं।" सच तो यह है कि प्रेमचन्द आधुनिक कहानी के स्वरूप को अच्छी तरह समझते

---

१. 'प्रेमचन्द और उनकी कहानी-कला'।

थे। यही उनके 'मानसरोवर' में दिये गए 'प्राक्कथन' से प्रकट होता है। यह गौरव प्रेमचन्द को ही है, जिन्होंने एक साथ दो भाषाओं में आधुनिक कहानी-कला को जन्म दिया। उर्दू और हिन्दी-भाषाओं में प्रेमचन्द का समान स्थान है।

प्रेमचन्द की कहानियों का वर्गीकरण

यों तो प्रेमचन्द की कहानियों का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न दृष्टियों से किया जाता है, लेकिन सामूहिक रूप से हम उनकी कहानियों को दो भागों में बाँट सकते हैं। "एक तो चरित्र-प्रधान कहानियाँ हैं, जिनमें लेखक किसी मनुष्य के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना का वर्णन करता है और दूसरी कथा-प्रधान कहानियाँ हैं, जिनमें वह जीवन के मनोवैज्ञानिक सत्य को प्रकट करने के लिए कुछ घटनाएँ चुनता है। उन्होंने दोनों प्रकार की बहुत-सी कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें उनका उद्देश्य सामाजिक रहा है। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में उन्होंने चरित्र-चित्रण की अपेक्षा कथावस्तु पर विशेष ध्यान रखा है। इन कहानियों में घटनाओं और प्रसंगों की शृङ्खला पात्रों और विचारों को घेरे हुए है। सामाजिक ध्येय की ओर संकेत नहीं किया गया है, वरन् उसे प्रकट कर दिया गया है। इस प्रकार की कहानियों में 'प्रतिकार', 'माता का हृदय', 'स्वर्ग की यात्रा', 'सत्याग्रह', 'नरक का मार्ग', 'दिवाला' उल्लेखनीय हैं।"

"दूसरे प्रकार की जो कहानियाँ प्रेमचन्द ने लिखी हैं, उनमें पात्र और कथावस्तु पर विचारों को प्रधानता दी गई है। इनका उद्देश्य सामाजिक है। वे सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखते थे और उन्होंने कहानी को उन्नत और सुधार का साधन बनाया।......उनकी आरंभिक कहानियों में जो सुधार-कामना थी उसे वे अन्त तक नहीं छोड़ सके। उदाहरण के लिए 'उद्धार', 'वैराग्य', 'कायर', 'नशा' आदि।"[1]

आज विचारों के युग में प्रेमचन्द की कहानियों का वर्गीकरण कथानक, चरित्र, वातावरण आदि शिल्प-विधानों को ध्यान में रखकर नहीं किया जा सकता। प्रेमचन्द एक कलाकार थे। उनकी कहानी-कला की आलोचना सामूहिक रूप से होनी चाहिए। उनकी कला का अध्ययन, उनके जीवन की मानसिक परिस्थितियों तथा सामयिक जीवन की सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियों का विश्लेषण करके होना चाहिए। तभी हम कलाकर प्रेमचन्द के अन्तस्तल तक पहुँचने का साहस कर सकेंगे। डा० इन्द्रनाथ मदान ने ठीक ही लिखा है कि "प्रेमचन्द यदि महान् हैं तो इसलिए कि उन्होंने किसानों के मानसिक गठन और मध्यम वर्ग के दृष्टिकोण को उस समय अत्यन्त विश्वास और उत्साह के साथ वाणी दी थी जिस समय इस देश के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे थे।...... १९०५ से लेकर १९३६ का युग, जिसमें प्रेमचन्द ने साहित्य का सृजन किया, सामन्तशाही के आभिजात्य में बदलने का संक्रान्ति-काल था।" जब लेखक के विचार बदलते हैं तब उसकी भाषा-शैली और टेकनिक में भी परिवर्तन हो जाता है। प्रेमचन्द प्रगतिवादी नहीं, प्रगतिशील कहानीकार थे। अब हम यहाँ

१. 'प्रेमचन्द : एक विवेचना', डॉ० इन्द्रनाथ मदान।

संक्षेप में उनकी कहानी-कला का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

प्रेमचन्द की कहानी-कला

प्रेमचन्द की कहानी-कला की सबसे बड़ी विशेषता है आदर्श और यथार्थ का उचित समन्वय। अधिकांश कहानियों में इसका समुचित निर्वाह किया गया है। 'उपन्यास' शीर्षक निबन्ध में प्रेमचन्द ने लिखा है कि "जहाँ यथार्थ और आदर्श का साथ-साथ समावेश मिलता है, वही उच्च कोटि की रचना है और उसे हम आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का समावेश होना चाहिए।" प्रेमचन्द की दृष्टि में कहानी का उद्देश्य नैतिक पतन नहीं वरन् नैतिक उत्थान करना है। पश्चिम का यथार्थवाद और भारत का आदर्शवाद, दोनों का सन्तुलित सामञ्जस्य उनकी कहानियों में हुआ है। अपने चरित्रों का यथातथ्य चित्रण करते हुए उन्होंने उनकी समाप्ति आदर्शात्मक ढंग से की है। प्रेमचन्द का यह स्वरूप लगभग उनकी सभी कहानियों में पाया जाता है। पाश्चात्य कहानीकारों--जैसे मोपासाँ, जोला, गोर्की, और बालजक की तरह वे जीवन का नंगा चित्र खींचकर नहीं रख देते, वरन् उन पर आदर्श जीवन का गहरा रंग भी छोड़ देते हैं। उनकी समस्त कहानियों में समस्या का समाधान निकालकर रख दिया जाता है। प्रेमचन्द का व्यक्तिगत विश्वास था कि प्रत्येक कहानी में एक ऊँचा नैतिक सन्देश होना चाहिए। ऐसा न करने से समाज तथा साहित्य का कोई लाभ न होगा और समाज पथ-भ्रष्ट हो जायगा। यह सच है जैसा कि पश्चिम वाले मानते हैं कि जीवन में सदा राम की ही रावण पर विजय नहीं होती, कभी-कभी दैनिक जीवन में रावण की भी राम पर विजय होती है। इसके उत्तर में प्रेमचन्द का कहना है कि "यदि साहित्य में भी राम पर रावण की विजय दिखाई जायगी तो इसका परिणाम कितना अनर्थकारी होगा? धर्मात्मा लोग धर्म करना छोड़ देंगे, लोग नास्तिक हो जायंगे। समाज का नैतिक पतन हो जायगा।" 'नमक का दारोगा', 'परीक्षा', 'पशु से मनुष्य', 'पञ्च परमेश्वर', 'दो बहनें', 'बड़े घर की बेटी' आदि इसकी सप्राण आदर्शात्मक कहानियाँ हैं। इन कहानियों में कहानी की कला को उपयोगिता की तुला पर तोला गया है।

प्रेमचन्द का उपर्युक्त विश्वास बहुत दिनों तक टिका न रह सका। मैं अन्यत्र कह आया हूँ कि प्रेमचन्द की धारणाएँ सदैव बदलती रही हैं। विचारों के साथ उनकी कहानी-कला का भी विकास होता रहा है। १९३० से १९३६ के बीच उन्होंने जितनी कहानियाँ लिखीं, वे आरम्भिक कहानियों से बिलकुल भिन्न हैं। डा० सत्येन्द्र का भी कहना है कि 'इस अवस्था (१९३० के बाद) की कहानियाँ न आचरण की कहानियाँ कही जा सकती हैं; न आचरण की प्रेरणा (Motive) अथवा आचरण की व्याख्या की।... ... ... जब कहानियाँ अंतर का संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करती हैं।'[1] प्रेमचन्द ने 'मानसरोवर' की भूमिका में लिखा है कि 'खुलासा यह है कि गल्प का आधार अब घटना नहीं मनोविज्ञान की अनुभूति है।'

१. 'प्रेमचन्द और उनकी कहानी-कला', पृष्ठ १७८.

'मनोविज्ञान की अनुभूति' प्रेमचन्द की कहानी-कला की दूसरी विशेषता है। इनकी आधे से अधिक कहानियाँ १९३० के बाद ही लिखी गईं, जिनमें उन्होंने मनोवैज्ञानिक चरित्रों की सृष्टि करने की चेष्टा की है। 'प्रेमपीयूष' की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि 'मनुष्य जाति के लिए मनुष्य सबसे विकट पहेली है, किसी-न-किसी रूप में वह अपनी ही आलोचना किया करता है, अपने ही मनोरहस्य खोला करता है। वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को अपना ध्येय समझती है और सबसे उत्तम वह कहानी होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।' प्रेमचन्द जब व्यक्ति-जीवन के 'किसी-न-किसी मनोवैज्ञानिक सत्य' की खोज करने लगे तब वे धीरे-धीरे आदर्शवाद की आतिशबाजी से दूर रहने लगे और उनकी ऐसी कहानियाँ बहुत अधिक पसन्द की गईं। इस प्रकार की कहानियों में 'शतरंज के खिलाड़ी', 'कफन', 'सत्याग्रह' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें उन्होंने जीवन का यथार्थ चित्रण किया है। इन कहानियों में यह दिखलाया गया है कि जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के वात्या-चक्र में पड़ जाने पर व्यक्ति की अन्तर्वृत्तियों की क्या स्थिति होती है। प्रेमचन्द इस तरह की स्थितियों से पूर्णतया परिचित थे। इस मानसिक संघर्ष का उन्होंने कहीं-कहीं बड़ा ही अच्छा वर्णन किया है, जैसे 'सोहाग का शव', 'बड़े भाई साहब', 'आत्माराम' कहानियों में। डा० भटनागर के शब्दों में 'उन्होंने मनोविज्ञान का आश्रय कई प्रकार से लिया है—शैली, वर्णन के ढंग, उपमा, कथोपकथन, कथानक इन सभी अंगों को वे मनोविज्ञान से पुष्ट करते चलते हैं।'[1]

हिन्दी के समर्थ आलोचक श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने अपने एक लेख में प्रेमचन्द को 'मनोविज्ञान का कुशल आचार्य' माना है। श्री प्रभाकर माचवे के शब्दों में यह कहा जायगा कि 'प्रेमचन्द जी हिन्दी में मनोवैज्ञानिकता लाने वाले प्रथम प्रमुख रचनाकार माने जा सकते हैं, परन्तु फिर भी मनोवैज्ञानिकता बहुत स्थूल अर्थ में प्रेमचन्द में प्रयुक्त मिलती है।'[2] इस मत का समर्थन प्रो० श्रीपति शर्मा ने इन शब्दों में किया है—"प्रेमचन्द मनोविज्ञान के पूर्ण ज्ञाता नहीं थे, क्योंकि इनके पात्रों के मानसिक चित्रण में कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं। ...अपने पात्रों की मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते समय वे उनके मुख से अपनी ही मनोवृत्ति और अपने विचारों का प्राय: प्रकाशन करने लगते हैं। अत: उनकी कहानियों में अनेक पात्र काठ के उस पुतले के तुल्य हैं, जिसे लेखक अपनी उँगलियों के सूत्र से नचाता है। उनमें कोई निजी मौलिकता नहीं है।"[3] यह सब-कुछ होते हुए भी यह तो मानना ही होगा कि 'बीसवीं शताब्दी के पहले पन्द्रह वर्षों की कहानियों में केवल प्रसाद की कहानियों को छोड़कर हम मनोवैज्ञानिक चित्रण कहीं भी प्रधान नहीं पायँगे। प्रेमचन्द ने ही पहले-पहल कहानी को मनोविज्ञान से स्पष्ट करने का साधन

१. 'प्रेमचन्द : एक अध्ययन', पृष्ठ २०६-२०७।
२. 'साहित्य संदेश', अक्तूबर १९३५.
३. 'कहानी कला और प्रेमचन्द', पृष्ठ १२२-१२४।

वनाया और अपनी कहानियों में हर जगह मानव-प्रकृति और विश्व-व्यापी नैतिक तत्त्वों की स्थापना की।'[1]

प्रेमचन्द की कहानियों की कदाचित् सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने उनमें काफी सफलता पूर्वक स्थानीय रंग (Local colour) भरा है। उन्होंने जिस स्थान और समाज की तस्वीर खींचने का प्रयत्न किया उसमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली। उनकी इस प्रकार की कहानियाँ दो वर्गों में बाँटी जा सकती हैं—१. मध्य वर्ग के नागरिकों के घरेलू जीवन की कहानियाँ। २. गाँव की कहानियाँ। इनमें भी दूसरे वर्ग की कहानियों को सबसे अधिक स्थान और प्रश्रय दिया है। प्रेमचन्द की महानता इसलिए है कि उन्होंने अपने कहानी-साहित्य के द्वारा भारत के उस ग्रामीण-समाज के जीवन को स्फूर्ति दी, जिसकी देह धूल से भरी रहती है और ललाट पर श्रम की बूँदें कभी सूखने नहीं पातीं, अत्याचार, उत्पीड़न एवं शोषण के बीच जिनके जीवन का आरंभ और अन्त होता है, ऋण की चिन्ता से भार-ग्रस्त मन लेकर जो शान्तिपूर्वक मृत्यु की गोद में अनन्त विश्राम भी नहीं ले सकते उन्हींके लिए अमर कलाकार ने फूलों की माला गूँथी है और उनके गले में पहनाई है।······प्रेमचन्द ने एक ओर यदि जमींदारों, महाजनों, रईसों, सरकारी अफसरों और धर्म-ध्वजियों के निष्ठुर लोभ, अन्याय, दुर्विनीत अहंकार, मिथ्या दम्भ, दर्प एवं स्पर्द्धा तथा दैन्य एवं दारिद्र्य के बीच उनके ऐश्वर्य एवं विलासिता के हृदयहीन आडम्वर का यथार्थ चित्रण किया है, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने अज्ञात एवं अख्यात असाधारण नर-नारियों के जीवन में जो सरल धर्म-भीरुता, जो आदर्श निष्ठा, जो सुषमा, जो माधुर्य उद्भासित होते रहते हैं उस ओर भी दृष्टि-निक्षेप किया है।'[2] इस तरह हम देखते हैं कि प्रेमचन्द की कहानियों की पटभूमि काफी व्यापक है। स्थानीय जीवन का स्वाभाविक चित्रण करने में वे अद्वितीय कहानीकार हैं। इस क्षेत्र में वे अकेले ही हैं। इससे यह पता चलता है कि उनकी निरीक्षण-शक्ति कितनी सूक्ष्म और आश्चर्यजनक थी। अब हम यहाँ, संक्षेप में, कहानी के उपादानों या तत्त्वों के आधार पर प्रेमचन्द की कहानियों का अध्ययन करेंगे।

अपनी कहानियों के कथानकों में प्रेमचन्द ने भारतीय समाज के विभिन्न अंगों को छूने का भरसक प्रयत्न किया है। उन्होंने किसान की टूटी-फूटी झोंपड़ी से लेकर नगर की विशाल अट्टालिकाओं तक में होने वाली घटनाओं को अपनी कहानी का कथानक वनाया है। समाज के इन व्यापक अंगों को लेकर अपनी कहानियों के कथानक में विविधता लाने का प्रयत्न तो प्रेमचन्द ने अवश्य किया, पर उसका सर्वत्र निर्वाह न कर सके, अर्थात् सभी कथानकों को सफल कहानी के रूप में परिणत न कर सके। प्रेमचन्द ने कहीं-कहीं कथावस्तु के चयन में अपने रूढ़िवाद और उपदेशात्मकता की छाप लगा दी है। इसी कारण कथावस्तु यथातथ्य और स्वाभाविक

१. 'प्रेमचन्द : एक अध्ययन', पृष्ठ २०७.
२. 'साहित्य की वर्तमान धारा', पृष्ठ १७४—१७६.

न होकर अस्वाभाविक हो गई है। उदाहरणार्थ, देहातियों को सरल, निष्कपट भाव का दिखाना तो उचित है परन्तु सब जगह उन्हें धर्म का पुतला ही बताना ठीक नहीं है। देहातों में भी बहुत किसान बेईमान, दुष्ट और नीच होते हैं और शहरों म भी बड़े-बड़े धर्मात्मा और सिद्धान्तवादी। उदाहरण के लिए 'दो बैलों की कथा', 'अधिकार' आदि कहानियों में पशुओं को मनुष्यों से भी अधिक विचारशील और बुद्धिमान बनाकर कहानी की कथावस्तु को अत्यन्त अस्वाभाविक बना दिया है। इस प्रकार प्रेमचन्द पहले से ही अपना ध्येय निश्चित कर लेते हैं और उसीके अनुसार कथावस्तु को तोड़-मरोड़ लेते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि कहीं-कहीं कथावस्तु कल्पित और अस्वाभाविक हो जाती है।[1]

कथानक का समुचित निर्वाह करने में प्रेमचन्द को सफलता नहीं मिली है। इसका कारण यह है कि कहानी में अनेक पात्रों का समावेश तथा जीवन के विविध रूपों का वर्णन होने के कारण कथावस्तु का मूल सूत्र टूट-फूटकर इधर-उधर बिखर जाता है और इस तरह प्रभाव की एकता (unity of impression) जाती रहती है। संकलन-त्रय (Three unities—unity of time, unity of place, and unity of impression) का सम्मिलित प्रभाव उनकी बहुत कम कहानियों में पाया जाता है। यह कहानी के लिए बहुत आवश्यक है। लेकिन प्रेमचन्द ने कहानी की कथावस्तु की अपेक्षा चरित्र-चित्रण पर अधिक बल दिया है। उनकी प्रारम्भिक कहानियों का कथानक बहुत शिथिल और लचर है। लेकिन ज्यों-ज्यों उनकी दृष्टि 'किसी-न-किसी मनोवैज्ञानिक सत्य' के उद्घाटन की ओर जाने लगी त्यों-त्यों उनकी कहानियों का कथानक सबल और सशक्त होने लगा। उनकी कथावस्तु में कहीं भी अश्लीलता नहीं आने पाई है और स्थानीय स्वरूप का सूक्ष्म पर्यवेक्षण हुआ है।

प्रेमचन्द, प्रधान रूप से, कथाकार न होकर चरित्रों के चितेरे हैं। इस कला में उनकी कलम को कमाल हासिल है। इस क्षेत्र में उनकी प्रतिभा अद्वितीय है। वे मानव-प्रकृति के कलाकार थे। उन्होंने इसका कितना गहरा अध्ययन किया था, इसका प्रमाण उनकी कहानियाँ हैं। समाज के किसी भी वर्ग का व्यक्ति क्यों न हो, उन्होंने उसका सजीव चित्रण किया है। राजकुमारों से लेकर भिखमंगों तक, खानाबदोश जिप्सियों की शोख औरतों से लेकर भोले-भाले किसानों तक का बड़ा ही मार्मिक और स्वाभाविक चित्र आँका है। प्रेमचन्द ने अपने प्रत्येक चरित्र को मनोविज्ञान की तुला पर रखकर तौला है और जहाँ तक हो सका है, उन्होंने उसके मानस-सागर में उठती-गिरती ऊर्मियों में समाकर उसकी थाह लेने की चेष्टा की है। चरित्रों की सूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों का मनोवैज्ञानिक वर्णन करने में प्रेमचन्द बड़े ही कुशल कलाकार हैं। जीवन की उलझी परिस्थितियों के बीच अपने पात्रों को रखकर उनकी मानसिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का उन्होंने बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। प्रेमचन्द की कलम जितना दरिद्र किसानों, मजदूरों, शोषितों और पीड़ितों का चित्रण

---

१. 'कहानी-कला और प्रेमचन्द', पृष्ठ ७३-७४.

करने में अपनी कार्य-कुशलता का परिचय देती हैं उतना दूसरे वर्ग के पात्रों के वर्णन में नहीं। फटे हालों, कंगालों और निस्सहायों का चित्रण करने में प्रेमचन्द को छोड़कर कोई भी दूसरा लेखक हमारे साहित्य में नहीं है। यह सब-कुछ होते हुए भी उनके चरित्रों के व्यक्तित्व स्वतंत्र नहीं हैं। ये लेखक के इशारे पर नाचते हुए से दीख पड़ते हैं। इसका कारण है लेखक का आदर्शवाद। प्रेमचन्द की अन्तिम कहानियों में यह दोष दूर हो गया है।

प्रेमचन्द की कहानी-कला की सफलता का बहुत बड़ा श्रेय कथोपकथन (Dialogue) को है। चरित्र-चित्रण और कथावस्तु के विस्तार में इसका उपयोग किया गया है। उनकी प्रारम्भिक कहानियों में कथोपकथन की अस्वाभाविकता पाई जाती है, लेकिन बाद की कहानियों में इसका रूप बिखर गया है। प्रेमचन्द के कथोपकथनों की पहली विशेषता यह है कि जहाँ-जहाँ कथोपकथन का व्यवहार किया गया है वहाँ-वहाँ पात्रों की स्थिति और सुरुचि का पूरा ख़याल रखा गया है। वर्गगत कथोपकथन इसकी विशेषता है। दूसरी बात यह है कि इसके व्यवहार में संयम और नियंत्रण से काम लिया गया है। आवश्यकतानुसार ही इसका उपयोग किया गया है। तीसरी बात यह है कि इनके कथोपकथन में सुसम्बद्धता पाई जाती है। फिर भी यह कहना होगा कि इनके वार्तालाप कहानीकार 'कौशिक' जी की अपेक्षा सफल नहीं हैं।

प्रेमचन्द की कहानी-कला और उसकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण है उनकी भाषा-शैली। भाषा की सरलता, चलते मुहावरों का प्रयोग तथा हास्य और व्यंग्य का सम्मिश्रित व्यवहार उनकी भाषा-शैली की कुछ खास बातें हैं।

: २ :

जयशंकर प्रसाद

[सन् १८८९--१९३७ ई०]

हिन्दी-कहानी-साहित्य में प्रसाद

हिन्दी-कहानी के साहित्याकाश में प्रसाद जी सूर्य की वह पहली किरण थे जिसके आलोक से हिन्दी-कहानी-साहित्य चमक उठा। जिस समय उन्होंने कहानी लिखना आरम्भ किया, वह हिन्दी-कहानी का उदय-काल था। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रसाद जी ही हिन्दी के सबसे पहले मौलिक कहानीकार हैं जिनके हाथों आधुनिक हिन्दी-कहानी-साहित्य का श्रीगणेश हुआ। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि हिन्दी-कहानी के उषा-काल में इतनी सशक्त और प्रौढ़ कहानियों का जन्म सम्भव हो सका। अतः यह कहना पड़ता है कि प्रसाद की कहानियाँ किसी प्रसन्न देवता के मुक्त वरदान हैं। यह प्रसाद की अपरिमेय प्रतिभा का ही चमत्कार था कि कहानी-साहित्य की बाल्यावस्था में इतनी प्रौढ़ कहानियों की सृष्टि हो सकी। प्रसाद जी के पहले हिन्दी-कहानी का न तो कोई स्थिर स्वरूप था और न मौलिक कहानीकार ही थे। मौलिक कहानियों का सर्वथा अभाव था। अधिकांशतः कहानियाँ अनूदित होती थीं। उन दिनों बंगला और विशेषकर रवि बाबू की कहानियों की बड़ी धूम थी। बंगला, अंग्रेजी, फ्रेञ्च और रूसी कहानियों का अनुवाद हिन्दी के पत्रों में धड़ल्ले से निकल रहा था। हिन्दी के कथा-साहित्य में प्रेमचन्द और प्रसाद ने ही पहले-पहल कहानियों के महत्त्व को समझा और इसीलिए दोनों ने कहानी को समृद्ध और उन्नत बनाने की आप्राण चेष्टाएँ कीं, जिनमें उन्हें आशातीत सफलता भी मिली। यह प्रेमचन्द और प्रसाद के ही सम्मिलित प्रयत्नों का सुपरिणाम है कि आज हम हिन्दी-कहानी-साहित्य को इतना उन्नत, विकसित और समृद्ध पाते हैं। यदि यह कहा जाय कि आधुनिक हिन्दी-कहानी-साहित्य की इमारत प्रसाद-प्रेमचन्द की नींव पर ही खड़ी है और उन्हींकी परम्परा में हिन्दी-कहानी का विकास हो रहा है तो कोई अत्युक्ति न होगी। लेकिन हिन्दी के कहानी-क्षेत्र में प्रसाद का आगमन प्रेमचन्द से पहले ही हो चुका था। हिन्दी में आने के पहले प्रेमचन्द उर्दू-कहानी-साहित्य को अपनी कहानियों से पुष्पित और पल्लवित कर रहे थे। हिन्दी-कहानी में उनका आगमन सन् १९१४ में हुआ। इसके पहले प्रसाद जी हिन्दी-कहानी-साहित्य को अपनी अनेक मौलिक कहानियों का

मुक्त दान दे चुके थे। कहा जा चुका है कि हिन्दी-कहानी के जन्म, विकास और प्रगति में हिन्दी की दो-तीन प्रमुख पत्रिकाओं 'सरस्वती', 'इंदु' और फिर 'हंस' का सक्रिय हाथ रहा है। हिन्दी-कहानी को विकास-पथ देने के लिए ही प्रसाद जी ने 'इन्दु' शीर्षक पत्रिका का प्रकाशन करवाया था। इसमें प्रसाद की प्रथम कहानी 'ग्राम' सन १९११ में प्रकाशित हुई थी। वास्तव में 'ग्राम' कहानी आधुनिक हिन्दी-कहानी की वह नींव है जिस पर वर्तमान हिन्दी-कहानी का भवन खड़ा हुआ है।

हिन्दी-कहानी के क्षेत्र में प्रसाद जी एक मौलिक कहानीकार हैं। अपनी सुविधा और विद्यार्थियों की सहूलियत के लिए यह कहा जा सकता है, जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा भी है, कि प्रसाद की कहानियों से हिन्दी-कहानी-साहित्य में कहानीकारों के उस स्कूल का जन्म हुआ जिसे कुछ लोग 'प्रसाद-स्कूल' की संज्ञा देते हैं। वास्तव में 'प्रसाद-स्कूल' की कहानियों की अपनी विशेषताएँ हैं? अपने विश्वास हैं, अपनी धारणाएँ हैं। यह स्कूल हिन्दी-कहानी के अन्य स्कूलों से बिलकुल भिन्न है, जिसकी चर्चा और व्याख्या मैं पिछले पृष्ठों में कर चुका हूँ। हिन्दी-कहानियों को स्कूलों में विभाजित करना आलोचक की निश्चित नीति का ही परिचायक है। हिन्दी में कहानियों के स्कूलों की भरमार चाहे न हो, लेकिन दो स्कूल—'प्रसाद स्कूल' और 'प्रेमचंद स्कूल' तो स्फटिक की तरह स्पष्ट हैं। यह समझना कि प्रसाद और प्रेमचंद के कथा-साहित्य में या उनकी 'कृतियों में कोई विशिष्ट रूपभेद अथवा रचना-पद्धति की विभिन्नता नहीं पाई जाती'[1] एक दुराग्रह है।

प्रसाद और प्रेमचंद में उतना ही भेद है जितना नारी और पुरुष, चाँद और सूर्य तथा रूसी कहानीकार टाल्स्टाय और तुर्गनेव में अन्तर माना जाता है। प्रसाद की कला में नारी की दया, क्षमा और करुणा है और प्रेमचन्द की कला में पुरुष की कठोरता, सूर्य का ताप और टाल्स्टाय का उपदेशात्मक प्रचार। प्रसाद की कहानियाँ नारी की कोमलता, चाँद की शीतलता और तुर्गनेव की साहित्यिकता की अन्यतम प्रतीक हैं। अतएव प्रसाद और प्रेमचंद को एक ही 'व्यक्ति' कहना बिलकुल युक्ति-संगत नहीं जँचता।

हाँ, तो, हिन्दी-कहानी-साहित्य के प्रथम अग्रदूत प्रसाद जी ही थे, जिन्होंने अपनी सृजनात्मक शक्ति और प्रतिभा के बल पर हिन्दी-कहानी की प्राचीन परम्परा को ध्वंस करके एक नितान्त नूतन सृष्टि की। उनके पहले कहानियाँ तो पौराणिक होती थीं, या धार्मिक। उनमें 'साहित्यिक क्रियाओं का वर्णन' अधिक होता था। हिन्दी में प्रसाद जी ही पहले कहानीकार थे, जिन्होंने कहानी के आन्तरिक और वाह्य रूपों का पूर्ण संस्कार किया। उन्होंने शरीर से अधिक आत्मा, रूप से अधिक शक्ति को मान्यता दी। हिन्दी में चरित्र-प्रधान कहानियों का जो अभाव बहुत दिनों से खटक रहा था, उसकी पूर्ति प्रसाद जी ने ही की। प्रसाद के पूर्व जिन कहानियों की रचना होती थी उनके पात्र किसी वर्ग या सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करते थे, लेकिन प्रसाद ने चरित्र-चित्रण की इस परिपाटी को सदा के लिए दूर करके व्यक्ति-

१. 'हिन्दी उपन्यास', प्रो० शिवनारायण श्रीवास्तव, पृष्ठ १५५

चरित्रों का सृजन किया। कहानी का रूप ही बदल गया। अब कहानी का विषय समाज न होकर व्यक्ति हो गया। प्रसाद जी ने व्यक्ति की शक्ति और हस्ती को समझने का भरसक प्रयत्न भी किया। इसीलिए उनकी कहानियों के सभी पात्र मानव हैं, जो किसी रहस्यमय अभाव से पीड़ित रहते हैं—वैभव की गोद में पलने वाले व्यक्ति दुखी हैं, संसार के सभी सुख-साधन उपलब्ध होते हुए भी विरागी हैं। अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति होते हुए भी त्यागी हैं। इस तरह हिन्दी के कहानी-साहित्य में प्रसाद ही पहले कहानीकार थे, जिन्होंने परम्परा से चली आती हुई कहानियों की आत्मा का परिष्कार किया और उसमें नवचेतना और नवजागरण का संचार किया।

इसके अतिरिक्त हिन्दी-कहानी के 'प्रसव-काल' में प्रसाद जी ने कहानी-कला को जिस ऊँचे धरातल पर विठाया उसका ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, लेकिन इस-से यह भी पता चलता है कि यह कलाकार कितना दूरदर्शी था। वास्तव में, प्रसाद जी की कहानियों में कहानी-कला ने लम्बी-लम्बी डगें भरी हैं जैसे भगवान वावन की तरह वह भी कला का संसार एक ही पग में नाप लेने का प्रयत्न कर रहे हों। प्रसाद की कहानी-कला अपने में अनूठी और अद्वितीय है। इस तरह की कहानियाँ न तो पहले कभी लिखी गई और न आज भी देखने को मिलती हैं। हाँ, प्रसाद-स्कूल के कुछ कहानीकारों ने उनका अनुकरण करने का प्रयत्न अवश्य किया है; लेकिन प्रसाद की कहानी की जो अपनी सूझ और देन है वह उनमें भी नहीं हैं। इस स्कूल के कहानीकारों में पंडित विनोदशंकर व्यास, रायकृष्णदास तथा पंडित मोहनलाल महतो 'वियोगी' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये सभी प्रसाद-स्कूल के मान्य कहानीकार हैं, जिसकी खास विशेषता मानव-मन की किसी एक मनोवृत्ति का चित्र उपस्थित करने में होती है और जिसमें घटना और चित्र की प्रधानता नहीं रहती। इसलिए ये कहानियाँ अधिकांशतः भावात्मक या वातावरण-प्रधान होता है।

प्रसाद का कहानी-साहित्य

प्रसाद का कहानी-साहित्य हिन्दी-साहित्य की नूतन सृष्टि है। उनकी समस्त रचनाओं को तीन कालों में विभाजित किया जाता है। पूर्वकाल-सन् १९१०-२१; मध्यम काल-सन् १९२३-२९; अन्तिम काल-सन् १९२९-३७। प्रसाद जी की कहानियाँ इन तीन कालों को स्पर्श करती हुई विकसित हुई हैं। पहले काल में उनकी कहानियों के दो संग्रह 'प्रतिध्वनि' और 'छाया' प्रकाशित हुए। उनमें 'छाया' उनका प्रथम कहानी-संग्रह है। दूसरे काल में 'आकाश दीप' कहानी-संग्रह प्रकाश में आया और तीसरे काल में कहानियों के दो अन्य संग्रह 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' निकले। प्रसाद की कहानियों को उपरिकथित तीन कालों में विभाजित करके अध्ययन करने से स्पष्ट हो जायगा कि इन कहानियों के विषय-पक्ष और कला-पक्ष दोनों में सूक्ष्म परिवर्तन और विकास होते गए हैं। डा० सत्येन्द्र ने विकास की इन रेखाओं को शब्दों में बाँधने का बड़ा ही अच्छा प्रयत्न किया है—"प्रसाद जी की आरम्भिक रचनाओं में किशोरीलाल गोस्वामी के

द्वारा अपनाई बंग-शैली के दर्शन होते हैं, जिसमें भावों की रंगीनी के स्थूल विकारों का प्रदर्शन करने के लिए शब्दों की रंगीनी का आश्रय लिया गया है। पर 'आकाश-दीप' तक आते-आते उनके अन्तरस्थ कला के गहरे सागर के हृदय की झलक पूरी तरह उभर आई और वे कल्पना के हिमधौत लोक में ऊँची चोटी पर उषा के रंग में रँगकर जा पहुँचे—हिमालय के पथिक बने, स्वर्ग के खंडहरों में विचरे। वहाँ से करुणा तथा प्रेम की यथार्थ अनुभूति लेकर वे 'इन्द्रजाल' और 'आँधी' की रचना करने बैठे-उनकी दृष्टि शतधा हो गई, कल्पना की रंगीनी यथार्थ में, जगत् के जीवन में से, अस्पृश्य क्षेत्रों में से उड़ने लगी।" इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद की कहानियाँ मानवीय 'भावों की रंगीनी के स्थूल विकारों का प्रदर्शन' करती हुई, 'कल्पना के हिमधौत-लोक में' विचरण करती हुई, हृदय में करुणा तथा प्रेम को समेटे, किसी 'रहस्य-लोक' की ओर अग्रसर होती गई हैं। यही उनकी कहानी की कहानी है और इसी पृष्ठ-भूमि पर प्रसाद की कहानियों का अध्ययन किया जा सकता है। अतः उनकी कहानियों में विकास की रेखाएँ बहुत स्पष्ट हैं; पारखियों की आवश्यकता है।

प्रसाद का कहानी-साहित्य उनके 'हृदय-मंथन' का सुपरिणाम है। श्री रायकृष्ण दास ने 'इक्कीस कहानियाँ' की भूमिका में प्रसादीय कहानी की परिभाषा स्थिर करने का प्रयत्न निम्नलिखित पंक्तियों में किया है—प्रसाद जी ने एक बार इन पंक्तियों के लेखक (रायकृष्णदास) से प्रसंगवश एक बात कही थी जिसका भाव लेकर कहानी की परिभाषा यों बनाई जा सकती है—"आख्यायिका में सौन्दर्य की एक झलक का रस है। मान लीजिये कि आप किसी तेज सवारी पर चले जा रहे हैं, रास्ते में गोल-मटोल शिशु खेल रहा है, सुन्दरता की मूर्ति। उसकी झलक मिलते न मिलते भर में सवारी आगे निकल जाती है। किन्तु उतनी ही झलक ऐसी होती है कि उसकी स्थायी रेखा आपके अन्तर्पट पर अंकित हो जाती है। यही काम कहानी भी करती है।" श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ने इसी भाव को प्रकारान्तर से इस प्रकार कहा है—"प्रसाद की कहानियों में एक निष्फल यौवन, एक करुण प्रणय, एक दर्दीली स्मृति के चित्र भिन्न-भिन्न प्रकार से चित्रित होते रहते हैं और इन्हींके साथ-साथ किसी सूक्ष्म मानवी मनोवृत्तियों की एक पतली-सी रहस्यपूर्ण रेखा भी खींच दी जाती है। उनकी सभी कहानियों के प्लाट प्रायः एक-से ही हैं, केवल स्थान और पात्रों के नाम में अनेकता है। उनकी कहानियों को हम एक प्रकार का प्रेम-पूर्ण कथात्मक गद्य-काव्य कह सकते हैं, जिसमें घटना और चरित्र-प्रधान न होकर भाव ही प्रधान होते हैं। इस भावाभिव्यक्ति के लिए वे कथा की सृष्टि गद्य-काव्य के ढंग पर कर देते हैं। उसमें कहानी उतनी ही सूक्ष्म रहती है जितनी पल्लवों में उनकी शिराएँ, जो उनके भाव-विकसित हृदय के हरित विस्तार में ढँकी रहती है। ... ... प्रसाद जी की कहानियाँ एकांकी नाटकों की भाँति एकांगी हैं, जिनमें एक मनोवृत्ति, हृदय का एक चित्र, अथवा घटना की एक रेखा है।"[१]

१. 'हमारे साहित्य निर्माता', पृ० ११० १११

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद की कहानियों में भावों तथा कला का क्रमिक विकास होता गया है; उनमें घटना अथवा चरित्र के स्थान पर किसी एक मानवीय मनोवृत्ति का चित्र अंकित किया गया है तथा उनके विषय 'निष्फल प्रेम' 'करुण प्रणय' और 'दर्दीली स्मृति' आदि होते हैं जिनकी परिणति किसी रहस्य की छाया में होती है। उनकी अधिकांश कहानियाँ भावात्मक होती हैं। सामान्यत: इनमें स्थूल जगत् की अपेक्षा कल्पना-लोक या भाव-लोक की सृष्टि की गई है। इसलिए ये कहानियाँ साधारण पाठकों को नहीं रुचतीं। बात यह है कि प्रसाद का कहानी-साहित्य मनोरंजन और मनोविनोद की सामग्रियाँ प्रस्तुत नहीं करता। इसमें 'मनोहर कहानियाँ' और 'माया'-जैसी सस्ती कहानियों का पूर्ण अभाव है। प्रसाद की कहानियाँ उनके लिए हैं जो भावना को पंख फैलाने का अवसर देते हैं, जो कल्पना को उड़ान भरने देने के लिए थोड़ा समय निकाल लेते हैं, जो आन्तरिक चेतना के स्फुरण और शक्ति को स्वस्थ बनाये रखने में विश्वास रखते हैं और जो भावना के साथ कामना और वासना के साथ साधना तथा भावुकता के साथ विवेक को अपने साथ लिये चलते हैं। उनकी कहानियाँ न तो कारखानों के मजदूरों को हड़ताल के लिए उत्साहित कर सकती हैं और न किसानों को जमींदारों के निर्दोष शिशुओं की हत्या करने के लिए ही प्रेरित कर सकती हैं। प्रगतिवादियों को इनसे बड़ी निराशा होगी; क्योंकि प्रसाद जी ने इनमें युग की समस्या को न लेकर युग-युग के सांस्कृतिक प्रश्नों को उठाया है और यही शाश्वत प्रश्न उनकी कहानियों के विषय बनकर आये हैं। लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रसाद जी युग के प्रति बिलकुल उदासीन थे। सच तो यह है कि युग की मूल समस्या की ओर उनका भी ध्यान था, जैसे राष्ट्रीय और सांस्कृतिक समस्या। अपनी कहनियों में उन्होंने वर्तमान युग की समस्याओं की ओर भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। यह सच है कि अपनी कहानियों में नाटकों की तरह ही वे अतीत की ओर गये हैं और उनमें भी राजे-महाराजे, रानियाँ, राजकुमार और राजकुमारियों का अत्यधिक वर्णन हुआ है, लेकिन उन्होंने उनके जिस जीवन पर प्रकाश डाला है वह पूँजीवादी लेखक से बिल्कुल भिन्न है। प्रसाद जी की दृष्टि शरीर से अधिक आत्मा की ओर लगी रहती है। इसके साथ ही उनकी कहानियों में जो एक नई बात देखने को मिलती है वह यह कि राजा-महाराजाओं के साथ निम्न वर्ग के व्यक्तियों को भी स्थान दिया है। 'पुरस्कार' कहानी में कृषक-बालिका मधूलिका और 'आकाश दीप' में प्रहरी की बेटी चम्पा इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। नाटकों की अपेक्षा कहानी-साहित्य में प्रसाद ने निम्न वर्ग के व्यक्तियों को जितना स्थान दिया है, वह अन्यत्र नहीं मिलता। यह ठीक है कि यहाँ भी वे अतीत के खंडहरों में ही विचर रहे हैं, लेकिन अतीत के जिन लोगों को उन्होंने अपनी कहानी का उपादान बनाया है वे इतिहास के उपेक्षित पात्र हैं, जिन पर इतिहासकारों का ध्यान कभी गया ही नहीं। प्रसाद जी अपने साहित्यिक जीवन में अतीत से वर्तमान की ओर केवल दो ही बार खुलकर आये थे—'कंकाल' और 'तितली' में। लेकिन

अपनी कहानियों में वे अतीत की ओर ही अग्रसर होते रहे। उनकी कहानियों में मानव-जीवन के राग-विराग का, दुःख-सुख का जो अंतर्द्वन्द्व दिखलाया गया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उपरिलिखित बातों से यह स्पष्ट है कि प्रसाद की कहानियों के पाठकों का बौद्धिक स्तर जब तक ऊँचा नहीं होता तब तक उनकी कहानियाँ समझी नहीं जा सकतीं। डा० सत्येन्द्र ने ठीक लिखा है कि 'प्रसाद जी की कहानियों का धरातल बहुत ऊँचा है।' ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी कहानियों का महत्त्व इसलिए है कि उन्होंने हिन्दी के पाठकों का ध्यान बँगला और अंग्रेजी की कहानियों की ओर से हटाकर हिन्दी-कहानियों की ओर लगा दिया। डा० सत्येन्द्र के शब्दों में प्रसाद जी ने जिस समय लिखना आरम्भ किया उस समय हिन्दी पर बँगला का आतंक था। नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय की धूम थी, काव्य-कहानी में रवीन्द्र की। प्रसाद जी ने बंगाल की इन लहरों को झेला, और उनके कलाकार ने मौलिक रचनाएँ देकर उसके विचार और मानस के धरातल को ऊँचा कर दिया। बंगाल के लिए जो लहक थी, उसका शमन प्रसाद जी ने किया—वह प्रायः उसी कोटि की वस्तुएँ देकर जिस कोटि की बँगला दे रही थी।"

प्रसाद की कहानी-कला

प्रसाद की कहानियाँ नियमों के बन्धन को स्वीकार नहीं करतीं। उनमें हृदय के भावों तथा उद्‌गारों की अभिव्यक्ति टेकनीक की अपेक्षा अधिक हुई है। अतः उनकी कहानियों की आलोचना कहानी के मूल तत्त्वों के आधार पर नहीं की जा सकती। प्रसाद की कहानी-कला उनकी प्रवृत्ति की सहचरी है जो सदैव उनके साथ 'समरसता' की स्थिति में बनी रहती है। इसीलिए उनकी कहानियों की कला में एकरूपता और समररूपता पाई जाती है। यदि उनकी भाषा और उसकी प्रकाशन-शैली में भिन्नता न होती तो संभवतः उनकी कहानियाँ मन को उबाने वाली होतीं। यद्यपि प्रसाद की कहानी-कला में एकरूपता है तथापि प्रत्येक कहानी में उसका आकर्षण तथा प्रभाव भिन्न है।

प्रसाद की कहानी-कला की पहली विशेषता ऐतिहासिक वतावरण की सृष्टि में है। मैं कह चुका हूँ कि उनकी कहानियाँ अतीत की पुकार हैं। वे जिस युग का चित्र खींचना चाहते हैं, उसकी साकार तस्वीर हमारी आँखों के सामने स्वतः खिंच जाती है। प्रसाद की ऐतिहासिक चेतना अद्‌भुत थी। इस काल में उनकी समता करने वाला हिन्दी का कोई भी दूसरा लेखक नजर नहीं आता। उस युग के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा वैयक्तिक जीवन का मूर्त चित्र आँकने में उन्हें आशातीत सफलता मिली है। यह उनकी कहानी-कला की एक ऐसी विजय है जो कठोर साधना के बाद ही प्राप्त होती है। जिस रोमाण्टिक संसार के चित्र उन्होंने हमारे सामने खड़े किये हैं, वे इतने भव्य, मनोहर और आकर्षक हैं कि पाठकों का मन उस 'सुदूर' के लिए ललक पड़ता है। उस संसार का समस्त वातावरण हमारे वर्तमान संसार से भिन्न है। 'आकाश दीप' में सामुद्रिक जीवन का जो रूप खड़ा किया गया है वह भारतीय पाठकों के लिए बिलकुल

नवीन और मौलिक है, क्योंकि भारतीयों को समुद्र-दर्शन करने का अवसर कम ही मिलता है। 'पुरस्कार' कहानी में जिस राज-परिवार के ऐश्वर्यमय जीवन का चित्र अंकित किया गया है वह यथार्थ और स्वाभाविक है।

प्रसाद की कहानी-कला की दूसरी विशेषता व्यक्ति-चरित्र (Individual character) के मानसिक द्वन्द्वों की अवतारणा में है। मैं कह चुका हूँ कि प्रसाद के पात्र किसी समाज, सम्प्रदाय या वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करते। यद्यपि वे किसी वर्ग के ही प्रतिनिधि-जैसे लगते हैं, लेकिन जिन मानसिक परिस्थितियों के द्वन्द्वमय जीवन से उन्हें गुजरना पड़ता है वह वर्गगत चरित्र से बिलकुल भिन्न होता है। उनके पात्र मानव हैं, जो आन्तरिक अभाव से पीड़ित रहते हैं। उनमें राग-विराग, पाप-पुण्य तथा सुख-दुःख का घात-प्रतिघात होता रहता है। उनके अंतर्द्वन्द्व स्वाभाविक हैं, जीवन की कठोर परिस्थितियाँ उन्हें उत्तेजित करती हैं। प्रसाद के पात्र जब किसी आदर्श भाव से आक्रान्त होते हैं तब उनके अंतर्द्वन्द्व चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं। 'पुरस्कार' में मधूलिका का आन्तरिक द्वन्द्व चरमावस्था को प्राप्त हो जाता है जब वह कर्तव्य और प्रेम के बीच आन्दोलित हो उठती है। एक ओर राष्ट्र की रक्षा का प्रश्न है और दूसरी ओर अरुण का प्रेम खींचता है। किसी भी व्यक्ति के लिए यह परिस्थिति कितनी कठोर सिद्ध हो सकती है, इसका अनुभव किसी भी समझदार व्यक्ति को हो सकता है। ऐसे-ऐसे अवसरों पर प्रसाद की कहानी-कला का आकर्षण बढ़ जाता है। यहीं पर लेखक मन का विश्लेषण करने में लग जाता है। वह एक ओर मनोभावों का चित्र खींचने लगता है और दूसरी ओर शारीरिक व्यापारों का भी वर्णन करता है। चित्रण की शक्ति प्रसाद की कला की अपनी देन है। इसके उदाहरण उनके नाटकों, उपन्यासों और काव्यों में सर्वत्र देखने को मिलते हैं।

प्रसाद की कहानी-कला की तीसरी विशेषता दृश्य-वर्णन में है। उन्होंने समयानुसार तथा युगानुकूल प्रकृति-नगर, ग्राम और समाज के सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं। उनका दृश्य-वर्णन वातावरण की सृष्टि के लिए हुआ है। उन वर्णनों से वातावरण की यथार्थता और स्वाभाविकता में पाठक का विश्वास दृढ़ हो जाता है। 'आकाश दीप' में समुद्र और जहाँ-तहाँ बिखरे हुए द्वीपों के जो दृश्य वर्णित किये गए हैं वे काफी स्वाभाविक और सजीव हैं। यहाँ भी प्रसाद जी ने अपनी चित्रण-शक्ति का परिचय दिया है।

प्रसाद की कहानी-कला की चौथी विशेषता भाव-प्रवणता में है। यह कहा जा चुका है कि प्रसाद जी पहले कवि थे फिर और कुछ। उनके कवि की भाव-प्रवणता उनकी कहानियों में भी समाविष्ट हो गई है। इसलिए उनकी कहानियाँ गद्य-काव्य का आनन्द देती हैं। काव्य की कल्पना और भावुकता का प्रयोग यहाँ भी हुआ है। जहाँ-जहाँ लेखक ने भावुकता तथा कल्पना को व्यावहारिक रूप दिया है वहाँ का गद्य स्निग्ध और काव्यमय ही है, उससे प्रसाद की प्रतिभा की गहराई का पता भी चलता है।

प्रसाद की कहानी-कला पर प्रकाश डालते हुए डा० सत्येन्द्र ने लिखा है कि प्रसाद जी की कहानी की टेकनीक का सबसे प्रधान लक्षण यह है कि उसमें बीज विकास की अवस्था में नहीं, कहानी में जैसे एक विन्दु विशद होकर उपस्थित हो गया है और वह विषद रूप अपने में सौन्दर्य लिये उस विन्दु से पूछता है—"ओ तू ! मुझे आइना बनाकर अपना रूप देख।"...... तभी प्रेमचन्द ने कहा था कि प्रसाद जी की कहानियों का अन्त अपने ढंग का निराला होता हैं—बड़ा भावपूर्ण, ध्वन्यात्मक और सहसा.... पाठक का मन झकझोर उठता है, ... वह एक समस्या को पुनः सुलझाने लगता है।" वास्तव में प्रसाद की कहानियाँ प्रसादान्त होती हैं। अन्त में न तो सुख की प्रधानता होती है न दुःख की। 'आकाश दीप' में बुद्धगुप्त तथा चम्पा का अन्त तक विवाह सम्पन्न न होना इस बात को प्रमाणित करता है। कहानी के अन्त में प्रसाद अपने सुधी पाठकों के लिए बहुत-कुछ छोड़ देते हैं, ताकि वे समस्या का समाधान अपनी ओर से निकाल सकें। अतः उन्होंने अपनी कहानियों को उपदेशात्मक और प्रचारात्मक होने से बचा लिया है। उनकी कहानियाँ विवेकशील व्यक्तियों के लिए लिखी गई हैं। जो स्वयं कुछ सोचने समझने की क्षमता रखते हैं।

प्रसाद की कहानियाँ संकलन-त्रय (Three Unities) के नियम को भी स्वीकार नहीं करती। वे स्थान और काल के बन्धन और सीमा को तोड़कर स्वच्छन्द विचरण करती हैं। उनमें न तो समय की एकता का निर्वाह किया गया है और न स्थान की एकता का ही। लेकिन प्रभाव की एकता (Unity of Impression) का सफल निर्वाह सर्वत्र हुआ है, क्योंकि प्रसाद जी रस के उद्बोधक थे और कहानियों में किसी एक रस का परिपाक करना ही उनका ध्येय था। आरम्भ से अन्त तक 'करुणा की ललकार' सर्वत्र पाई जाती है।

भाषा-शैली

प्रसाद की कहानी की सफलता का कारण उनकी भाषा-शैली भी है। कहानियों में उनकी भाषा-शैली का लगभग वही रूप है जो उनके नाटकों में प्रायः रहा करता है। उनकी भाषा के दो रूप हैं—व्यावहारिक और संस्कृत-प्रधान व्यावहारिक भाषा का प्रयोग उपन्यासों में अधिक हुआ है और संस्कृत-प्रधान भाषा का कहानी-नाटकों में। ऐतिहासिक वातावरण का चित्रांकन करने के लिए ही उन्हें अपनी भाषा को संस्कृत प्रधान बनाना पड़ा। यह स्वाभाविक बात भी है। भाषा में प्रवाह, प्रभाव और कलात्मकता हर जगह देखी जा सकती है। उनकी कहानियों की गद्य-भाषा गद्य-काव्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

: ३ :

जैनेन्द्र कुमार

[सन् १६०५]

कहानी-साहित्य में स्थान

पिछले एक हजार वर्ष के हिन्दी-साहित्य के इतिहास में जैनेन्द्र जैसे अद्‌भुत पर सीधे लेखक का दर्शन कभी हुआ ही नहीं। वास्तव में ये हिन्दी के एक 'अद्‌भुत-लेखक' हैं। इसलिए किसी की दृष्टि में ये आचार के पोषक हैं, किसी की दृष्टि में एक महान् कलाकार; किसी के लिए ये 'अनाकांक्षित श्रृङ्गार' तथा 'अनाचार' के प्रचारक हैं, और किसी के लिए कला के विदूषक। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र की तुलना करते हुए प्रो० नलिन विलोचन शर्मा ने ठीक ही कहा है कि "प्रेमचन्द और जैनेन्द्र दोनों हिन्दी के ऐसे कहानीकार हैं, जैसे हुए नहीं, हैं भी नहीं, होंगे तो जरूर ही, होने ही चाहिएँ।" [1]

श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्त ने भी उचित ही कहा है "जैनेन्द्र के हिन्दी-कहानी-साहित्य में आ जाने से शरत् और बंकिम का अभाव अब नहीं खटकता।" विचारक की हैसियत से जैनेन्द्र बर्ट्रेण्ड रसेल (Bertrand Russel) हैं और कहानीकार की दृष्टि से रूसी कहानीकार दस्तयोवस्की (Dosteovasky)। १९२० के बाद हिन्दी-कहानी-साहित्य के रूप में आमूल परिवर्तन लाने का एक-मात्र श्रेय श्री जैनेन्द्रकुमार को है। यद्यपि तब तक श्री बेचन शर्मा 'उग्र', श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्री इलाचन्द्र जोशी-जैसे उच्चकोटि के कहानी-लेखक हमारे साहित्य में आ गए थे, लेकिन इन सबमें जैनेन्द्र का स्वर सबसे ऊँचा है। 'उग्र', उल्कापात की तरह आये और चले गए, जोशी जी अपनी बनाई रेखाओं पर आज भी चल रहे हैं। पर जैनेन्द्र हिमालय-जैसे अडिग और अडोल पर्वत की तरह आज भी वहीं हैं जहां वे आज से कई वर्ष पहले थे। श्री प्रभाकर माचवे के शब्दों में "हिन्दी के घटना-प्रधान कथा-साहित्य को पात्र-प्रधान बनाने का श्रेय जैनेन्द्र को ही है। पात्र भी दो-ही-चार चुनकर उनके अन्तर्द्वन्द्वों में पैठने की शैली हिन्दी में अपने ढंग की एक ही है। उनके बाद के सभी कहानीकारों तथा उपन्यासकारों ने कम-अधिक परिमाण में उसे ग्रहण किया है।" [2]

---

१. 'दृष्टिकोण', 'प्रेमचन्द और जैनेंद्र' शीर्षक लेख में।

२. 'साहित्य-संदेश', अक्तूबर १९४५।

"जैनेन्द्र", श्री इलाचन्द्र जोशी के शब्दों में "वास्तविक अर्थ में हिन्दी के प्रमुख वैज्ञानिक कथाकार हैं। उन्होंने हिन्दी-साहित्य की निर्जीव औपन्यासिकता में, (जिसमें या तो किसानों तथा जमींदारों के बीच संघर्ष दिखाने वाले निर्जीव कठपुतली का खेल दिखाया जाता था, या काव्य-जगत् के अवास्तविक जीवों के 'स्वर्गीय प्रेम' का स्वाँग भरा जाता था) सप्राण और अन्तरसंघर्षशील पात्रों की सजीवता भर दी।"[1] श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने मनोवैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से प्रेमचन्द से लेकर जैनेन्द्र तक के क्रम-विकास का स्वरूप इस प्रकार स्थिर किया है—"पहले सत्-असत् अलग-अलग व्यक्तित्वों में विभक्त था, एक पात्र अच्छा रहता था दूसरा पात्र बुरा, यथा प्रेमचन्द के साहित्य में। यथार्थवादी चित्रण में सत्-असत् का वर्गीकरण टूट गया, सिर्फ असत् की अनेक विकृतियों को ही बहिर्मन और अवचेतन मन का युगल धरातल मिल गया, यथा, 'उग्र' के साहित्य में। आदर्शवाद की ओर से जैनेन्द्र जी ने यथार्थवाद को एक मनोवैज्ञानिक नवीनता दी। उन्होंने सत्-असत् को एक ही व्यक्तित्व में स्थापित करके दोनों की सार्थकता दिखलाई।...पूर्ण आदर्श और पूर्ण यथार्थ (प्रेमचन्द-उग्र) को एकत्र करके जैनेन्द्र ने दोनों युगों को भी एकत्र कर दिया है। यथार्थवादियों की अपेक्षा इनकी अभिव्यक्ति अधिक आधुनिक है।"[2]

इसके अतिरिक्त "जैनेन्द्र ने शरत् की दिशा में एक नवीन प्रयोग किया। शरत्-साहित्य में नारी शान्त है, यथा, पार्वती और सावित्री। पुरुष उत्क्रान्त हैं, यथा देवदास और सतीश। असल में नारी और पुरुष के दो व्यक्तित्व नहीं, बल्कि एक ही व्यक्तित्व की दो परिणतियाँ हैं, नारी की अशान्ति पुरुष के जीवन में साकार है, पुरुष की शान्ति नारी के जीवन में। इन दोनों परिणतियों को एक में मिलाकर जैनेन्द्र ने नारी को उत्क्रान्त शान्त बना दिया, यथा, 'कल्याणी' और 'त्याग पत्र' में, (जैनेन्द्र की 'पत्नी' शीर्षक कहानी सुनन्दा इसी प्रकार की नारी है।) जीवन की दो भिन्न परिणतियों में शरत् की नारी मानो कहती है—'तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मैं प्रकृति प्रेम जंजीर।' किन्तु जैनेन्द्र की नारी जीवन की अभिन्न परिणति में कह सकती है—'बंदिनी बनकर हुई मैं, बन्धनों की स्वामिनी-सी'।[3] जैनेन्द्र प्रधानतः एक मनोविश्लेषक हैं। प्रेमचन्द ने इनके बारे में ठीक ही कहा है कि 'जैनेन्द्र में अंतःप्रेरणा और दार्शनिक संकोच का संघर्ष है। इतना हृदय को मसोसने वाला, इतना स्वच्छन्द जैसे बन्धनों में जकड़ी हुई आत्मा की पुकार हो।' 'पत्नी' कहानी की 'सुनन्दा' इसी प्रकार की 'आत्मा' है। जैनेन्द्र के बाद हिन्दी मनोवैज्ञानिक-साहित्य के सृजन में श्री अज्ञेय ने ही इस धारा को उन्मुक्त किया तथा विकास-पथ दिया। 'अंतस्तल के उद्वेलित तरंगाकुल प्रदेश का जैसा मार्मिक तथा सजीव चित्रण इस लेखक ने किया है वैसा पहले कभी हुआ ही न था। अतः मनोविज्ञान जैनेन्द्र के साहित्य का मेरुदण्ड है।

१. 'साहित्य संदेश', अक्तूबर १६४४, पृष्ठ १९७.
२. 'सामयिकी', पृष्ठ २६२-२६३
३. 'सामयिकी', पृष्ठ २६३

"जैनेन्द्र का कथा-साहित्य नितान्त नवीन है, उसमें मौलिकता की अतिशयता है। आलोचक गंगाप्रसाद पाण्डे ने इनके साहित्य के सम्बन्ध में एक बड़े ही मार्के की बात बताई है। वह यह कि सामाजिक विश्वास (आदर्श) को व्यावहारिकता (यथार्थ) देने के लिए हिन्दी-कथा-साहित्य में प्रथम बार जैनेन्द्र ने व्यक्ति के माध्यम से उनका अध्ययन करने की चेष्टा की। समाज-सुधारकों द्वारा समाज की जिन कुप्रथाओं को दूर करने की चेष्टा बंगाल से प्रारंभ हुई थी उसे हमारे समाज और साहित्य ने अपना रखा था। प्रेमचन्द के सामाजिक संघर्ष और उसके सुधारों की योजना का भी स्वरूप कुछ वैसा ही है। जैनेन्द्र ने व्यक्ति का संघर्ष समाज के प्रति सचेत किया। शरत् की भाँति प्रेमचन्द ने पारिवारिक जीवन की झाँकी दी उसे और भारतीय संस्कृति, सौन्दर्य से सजाया; किन्तु जैनेन्द्र ने फ्राइड (freud) की भाँति व्यक्ति का मुक्त (निरावरण) रूप समाज के सामने रखा।"[१] हिन्दी-कहानी-साहित्य में यह एक नई बात हुई। जैनेन्द्र के सभी प्रश्नों के मध्य में भारतीय नारी होती है। संघर्षशील पात्र होने के कारण, इनकी कहानियाँ सुखान्त और दुःखान्त न होकर प्रश्नान्त होती हैं। कहने का तात्पर्य यह कि उन्होंने व्यक्ति के माध्यम से वर्तमान समाज की दुरवस्था और उसके दूषणों का विश्लेषण किया है। जहाँ प्रेमचन्द के साहित्य में समाज का संघर्ष व्यक्ति के प्रति दिखलाया गया है वहाँ जैनेन्द्र ने व्यक्ति का संघर्ष समाज के प्रति दिखलाया है।

वर्तमान हिन्दी-लेखकों में जैनेन्द्र ही एक ऐसे लेखक हैं जिनकी भाषा को देखने से पता चलता है कि उनकी कहानियों की भिन्न कथा की तरह उनकी भाषा भी भिन्न तरह की है। उसमें स्वाभाविकता और सजकता है। भाषा भाव की अनुगामिनी है। भाषा की कट्टरता तथा एकरसता जैनेन्द्र में नहीं पाई जाती।

कहानीकार जैनेन्द्र

जैनेन्द्र युग-प्रवर्तक कहानीकार हैं। प्रेमचन्द्र के बाद हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार यही माने जाते हैं। इनकी पहली कहानी 'छाया' १९२७ ई० में प्रकाशित हुई। इसी कहानी के साथ जैनेन्द्र हिन्दी में आये। हिन्दी साहित्य में इनके दो रूप हैं—कहानीकार और उपन्यासकार। इन दोनों रूपों में कौन किससे घटकर है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इन दोनों क्षेत्रों—कहानी और उपन्यास में इनकी कार्य-कुशलता अपने ढंग की निराली और अद्वितीय है। इनके साहित्य-क्षेत्र में आ जाने पर पाठकों तथा आलोचकों को बिलकुल नई कहानियाँ पढ़ने को मिलीं। लोग अश्चर्यचकित हो गए। इनके पूर्व लोग प्रेमचन्द की घटना-प्रधान कहानियाँ पढ़ने में इतने व्यस्त थे कि बहुतों को जैनेन्द्र की कहानियों में 'अनाकांक्षित शृङ्गार की उद्दाम वासना' का दर्शन हुआ। लेकिन ज्यों-ज्यों समय बदलता गया, त्यों-त्यों इनकी कहानियाँ भी विकसित होती गईं और अन्त में उनकी सत्ता-महत्ता पर स्वीकृति की मुहर लगा दी गई। आज जैनेन्द्र, प्रेमचन्द्र के बाद हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार माने जाते हैं।

---

१. 'आधुनिक कथा-साहित्य', पृष्ठ ८९।

जैनेन्द्र को अपने पिछले युग की परम्परा से दर्शन को छोड़कर, शायद कुछ भी न मिला। हाँ, महात्मा गाँधी के दार्शनिक सिद्धान्तों ने उन्हें अवश्य प्रभावित किया। इसलिए उनमें हम इतना गहरा 'दार्शनिक संकोच पाते' हैं। जैनेन्द्र का सब-कुछ अपना है। कहानी-कला की परिभाषा, विषय और उद्देश्य सब-कुछ उनके उर्वर मस्तिष्क की सृष्टि हैं। प्रेमचन्द से उन्हें यदि कुछ मिला तो इतना ही कि अपने साहित्यिक जीवन की संध्या में प्रेमचन्द ने कहानी के सम्बन्ध में जो धारणा बना रखी थी उसीका विकास जैनेन्द्र ने किया। मैं कह आया हूँ कि प्रेमचन्द की कला-संबंधी धारणाएँ सदैव बदलती रही हैं। अपने जीवन के शेष दिनों में उन्होंने 'मानसरोवर' की भूमिका में स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि 'सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।' जैनेन्द्र ने इस 'मनोवैज्ञानिक सत्य' की खोज काफी बड़े पैमाने पर की जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली इस दृष्टि से ये प्रेमचन्द के ऋणी हो सकते हैं। कहानीकार के रूप में प्रेमचन्द और जैनेन्द्र की स्थिति ठीक तीन और छः-जैसे अंकों की है। जिस सूत्र को प्रेमचन्द ने जहाँ छोड़ दिया था वहीं से जैनेन्द्र का साहित्यिक जीवन आरम्भ होता है। दोनों में यही महान् अंतर है।

'सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य ने अपने लिए बहुत-से सामाजिक तथा सैद्धान्तिक बन्धन बना लिये हैं, अपनी सहज स्वाभाविकता पर कृत्रिमता का आवरण डाल दिया है। इसके फलस्वरूप प्राकृतिक मानवीय भावनाएँ कुछ दुर्बल तथा क्षीण पड़ गई हैं और रूढ़ियों ने स्वाभाविकता का स्वरूप धारण कर लिया है। इसीको के प्रतिक्रिया स्वरूप आधुनिक उपन्यास तथा कहानी-साहित्य ने मन को अत्यधिक ममता दी है। मन अनिश्चित और गतिशील है। इसकी गतिविधि का अन्वेषण करना, मनोविज्ञान के आधार पर जैनेन्द्र के कहानीकार का प्रधानोद्देश्य है।...... परिस्थितियों के प्रभाव से मनोभावों के विकास में जो परिवर्तन देखे जाते हैं, उन्हीं को जैनेन्द्र ने वाणी दी है। ये मानव-मन के साथ उसके हृदय की भी परख करना चाहते हैं।......इसके अतिरिक्त उनकी कहानियों में सामाजिक संस्कारों के रूढ़ नीति-बन्धन, रूढ़ विवाहपद्धति, रूढ़ क्रान्तिकारिता और स्त्री की स्वतंत्रता आदि की सच्ची जाँच मिलती है। जैनेन्द्र ने व्यक्ति के माध्यम से रूढ़ समाज और उसके दूषणों का विश्लेषण किया है। उन्होंने व्यक्ति का संघर्ष समाज के प्रति सचेत किया है।'[1] यह है जैनेन्द्र के कहानी-साहित्य का प्रधान विषय जिस पर उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखी हैं। इनमें बुद्धि और हृदय का समाज और व्यक्ति का एक अविराम संघर्ष पाया जाता है।

जैनेन्द्र की कहानियों में समाजवाद की अपेक्षा व्यक्तिवाद को और भौतिकता की अपेक्षा आध्यामिकता को अधिक व्यक्त किया गया है। ये न तो साम्यवादियों की तरह सामाजिक, राजनीतिक मानव को लेकर चलते हैं और न आदर्शवादियों की तरह सांस्कृतिक मानव को। ये न यशपाल-पहाड़ी हैं, और न प्रेमचन्द-सुदर्शन।

१. 'आधुनिक कथा साहित्य,' पृष्ठ ९०-९१

ये बाहर की घटनाओं को मानव-मन के अन्दर देखना चाहते हैं।

जैनेन्द्र के पात्र अपने जीवन की परिस्थितियों तथा उनके वातावरण से असंतुष्ट हैं। इसलिए वे परिस्थितियों पर विजयी होने के लिए सतत तथा अथक परिश्रम करते हैं। वे क्रान्ति करने पर भी उतारू हो जाते हैं। इस दृष्टि से जैनेन्द्र एक क्रान्तिकारी कहानीकारी हैं। रूढ़िगत विवाह-पद्धति उन्हें अमान्य है। भारतीय नारी बन्दिनी है, घर की चहारदीवारी के अन्दर कैद है। यह उन्हें परेशान करता है। उसकी मुक्ति के लिए ये जागरूक हैं। इनके पात्र जीवन की विषम परिस्थितियों और टेढ़ी-मेढ़ी स्थितियों से युद्ध करने के लिए तैयार होते हैं; लेकिन उन पर वे विजयी नहीं होने पाते। उन्हें मुँह की खानी पड़ती है। जीवन की विषम परिस्थितियों से असन्तुष्ट होने पर भी ये प्रेम और अहिंसा के द्वारा उनमें घुलने-मिलने की चेष्टा करते हैं। जैनेन्द्र का रास्ता संघर्ष का न होकर समझौते का है, समर्पण का है। हारकर थक जाने पर इनके पात्र आत्म-त्याग कर देते हैं। आत्म-त्याग इनकी सफलता-असफलता का एक-मात्र साधन बनता है। इसी लिए इनमें बौद्धिकता की अपेक्षा भावुकता अधिक है। लेखक ने पाठक की हार्दिक सहानुभूति और आस्था को प्रेरित किया है। इनकी कहानियों के उद्देश्य की अपेक्षा हृदय के उद्देश्य की अपील मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय के प्रति होती है। भवितव्यता और भगवान् में अटूट श्रद्धा रखने वाले जैनेन्द्र के पात्र जीवन की दौड़ में थके-माँदे पथिक हैं। 'पत्नी' कहानी में सुनन्दा, जो वर्तमान भरतीय नारी-जीवन का प्रतिनिधित्व करती है, उत्क्रान्त होते हुए भी शान्त बनी रहती है। वह इतना तो अवश्य कहती है कि तो मैं भी गुलाम नहीं हूँ कि इनके (अपने पति कालिन्दीचरण के) ही काम में लगी 'रहूँ' लेकिन अन्त में वह भावुकता की पुतली बन जाती है। सुनन्दा को दुःख इस बात का है कि वह रात-दिन घर के काम-काज में मशीन की तरह लगी रहती है, लेकिन उसके पति कालिन्दीचरण ने एक बार भी नहीं पूछा कि तुम क्या खाओगी। फिर भी वह अपना पेट का अपने पति के आये हुए मित्रों को अपना भोजन दे देती है। वह पति के शोषण को शोषण न समझकर वरदान समझकर शान्त हो जाती है। वह अपने मन को समझाते हुए कहती है—'छिः! सुनन्दा तुझे ऐसी जरा-सी बात का अब तक खयाल होता है। तुझे तो खुश होना चाहिए कि उनके लिए एक दिन भूखा रहने का तुझे पुण्य मिला।' यह है जैनेन्द्र का पौराणिक आध्यात्मिक समर्पण, जीवन की विषम परिस्थिति के प्रति। इसलिए यह ठीक ही कहा गया है कि जैनेन्द्र की नारी उत्क्रान्त-शान्त है। उसकी उत्क्रान्ति क्षणिक होती है और समर्पण और समझौते की भावुकता में जाकर शान्ति पा लेती है। इनके व्यक्तित्व की यह बहुत बड़ी कमजोरी है। श्री अज्ञेय की कहानी में इसी बिन्दु को काफी गहरा रंग दिया गया है—जीवन एक अविराम संघर्ष है उसके प्रति समर्पण हमारी सबसे बड़ी कमजोरी है। इसके विपरीत, जैनेंद्र का कहना है कि कहानी के मूल भावों का सम्बन्ध हृदय (Emotion) से होना चाहिए; मस्तिष्क की कूट बुद्धि से नहीं।' इनके लगभग सभी पात्र बुद्ध की करुणा, महावीर की

अहिंसा और महात्मा गांधी की सहानुभूति-संवेदना से अनुप्राणित हैं।

जैनेन्द्र के चरित्र न तो देव हैं, न दानव; वे केवल हाड़-मांस के मानव हैं, अपनी इच्छा-अनिच्छाओं से परिपूर्ण। इनकी कहानी में व्यक्ति-चरित्र की मानसिक दशाओं का बड़ा ही सूक्ष्म और मार्मिक चित्रण हुआ है। इस कला में ये अद्वितीय हैं। हृदय के रागों-विरागों की उथल-पुथल, व्यक्ति की प्रवृत्तियों का दमन, तथा उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया आदि का बड़ा ही विशद वर्णन जैनेन्द्र की कहनियों में हुआ है। इस ऊँचाई पर यदि अब तक कोई पहुँच सका है तो वह श्री अज्ञेय ही हैं। 'पत्नी' में सुनन्दा का चरित्र-चित्रण बड़ा ही मार्मिक हुआ है। इसलिए इनकी कहानियाँ घटना-प्रधान न होकर चरित्र-प्रधान होती हैं। इनमें घटना बड़ी ही सूक्ष्म होती है।

कहानी-कला

कहानी-कला की दृष्टि से जैनेन्द्र जी को आधी सफलता मिली है। उन्होंने कहानी की अपनी परिभाषा दी है। उनकी दृष्टि में 'कहानी मानव-जीवन के चिरंतन प्रश्नों, शंकाओं और चिन्ताओं के उचित समाधान की खोज है।' सत्यानुन्धान करना उनके कहानीकार का प्रधान उद्देश्य है। यह एक दार्शनिक परिभाषा है। सामाजिक समस्याओं ने इस लेखक को बिलकुल परेशान नहीं किया। मानव के चिर नवीन और निरंतन प्रश्नों का समाधान निकालना इनका कर्तव्य है। उन्होंने स्वयं कहा है—"कहानी तो एक भूख है, जो निरंतर समाधान पाने की कोशिश करती है। हमारे अपने सवाल होते हैं, शंकाएँ होती हैं; चिन्ताएँ होती हैं और हमीं उनका उत्तर, उनका समाधान खोजने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे प्रयोग होते रहते हैं। उदाहरणों और मिसालों की खोज के प्रयत्न का एक उदाहरण है। वह एक निश्चित उत्तर ही नहीं दे देती, पर यह अलबत्ता कहती है कि शायद उस रास्ते मिले। वह सूचक होती है, कुछ सुझाव देती है और पाठक अपनी चिन्तन-क्रिया के सहारे उस सूझ को ले लेते हैं।"[१] इस तरह जैनेन्द्र की कहानी का पाठक साधारण कोटि का व्यक्ति न होगा, इसके लिए परिष्कृत मस्तिष्क वाला पाठक चाहिए। विषय की दुरूहता के कारण ही इनकी कहानियाँ सर्वसाधारण में प्रचलित नहीं हो सकी हैं। जैनेन्द्र की तरह पाठक को भी भावुक और चिन्तक होना होगा, तभी वह इनकी कहानियों के मर्म को समझ सकेगा। इनमें मनोरंजन, उपयोगिता आदि के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। उन्होंने अपनी कहानियों में जिन समस्याओं को उठाया है वे चिरंतन हैं। सिद्धान्त की अतिशयता, (फ्रायडवाद और गांधीवाद) श्री प्रभाकर माचवे के शब्दों में, 'उनमें के कलाकार को खा गई है।'

जैनेन्द्र की कहानियों में न तो सस्ते मनोरंजन के लिए कोई जगह है और न जीवन की साधारण उपयोगिता के लिए ही कोई गुन्जाइश है। ये हृदय के रागों (Emotions) को बहुत अधिक प्रश्रय देते हैं। हृदय से उठने वाली सहज भाव-धाराओं के लिए किसी बंधन की आवश्यकता नहीं पड़ती इसीलिए जैनेन्द्र को कहानी

१. 'जैनेन्द्र के विचार', पृष्ठ २७३

के लिए टेकनीक की भी जरूरत नहीं पड़ती। उनका कहना है कि 'कहानीकार कुछ कम वुद्धिमान हो। थोड़ा उसे 'मूर्ख' और कुछ 'दुष्ट' होना चाहिए। दुष्ट इस अर्थ में कि उसे ऐसा न लगे कि वह साधु है। सव गड़वड़ी उससें ही है, ऐसा उसे लगे। वुर्जुआपन उसमें नहीं होना चाहिए। उसमें विद्रोहीपन-सा आना चाहिए। और 'मूर्ख' से—वौद्धिक प्रवृत्ति उसमें पकी हुई नहीं होनी चाहिए। उनकी दृष्टि में अनुभूति (Emotion) कहानी के लिए वहुत आवश्यक तत्त्व है। यह तो कहानी में व्याप्त होना ही चाहिए। कहानी में मनोरंजन अनिवार्य से अधिक न हो। कहानीकार की भवातिशयता कहानी को जन्म देती है। जैनेन्द्र का ऐसा विश्वास है। कहानी लिखते समय वह उसके उद्देश्य से विलकुल अनभिज्ञ होता है। उन्होंने स्वयं कहा है कि 'जहाँ कहानी-लेखक और उद्देश्य उसकी कहानी में अलग-अलग हो जाते हैं, सृजन हो ही नहीं सकता। जव कहानी-लेखक उद्देश्य को ही जान गया तो, जिसके लिए वह कहानी लिखता है, वह वात ही खत्म हो गई।'

अपनी कहानी में जैनेन्द्र टेकनिक से अधिक वस्तु (Matter) को प्रधानता देते हैं। उनका कहना है—कि 'मैं तो कहानी में फार्म (Form) को स्थान नहीं देता—उससे मैं परेशान हूँ। कहानी में फार्म मुख्य चीज नहीं है—क्या कहना है वह मुख्य है। शरीर-विज्ञान (Anatomy) का शास्त्र जाने विना भी लोग पिता वन जाते हैं—टेकनिक जाने विना भी उसी तरह कहानी लिखी जा सकती है। वास्तव में जो टेकनिक जानता है वह कहानी नहीं लिख सकता। कहानीकार के पास यदि टेकनिक है तो वह उसीकी है। उसके पास अपनी ही अंतर्वृत्ति टेकनिक है।' जैनेन्द्र की दृष्टि में कहानी में रचना शैली की अपेक्षा भावना और चिन्तन की प्रधानता होनी चाहिए।

जैनेन्द्र ने सफल कहानी की एक कसौटी वनाई है। साधारणतः लोगों का विश्वास है कि जिस कहानी में जितना अधिक मन लगे वह उतनी ही अच्छी कहानी है। इसकी व्याख्या जैनेन्द्र ने इस प्रकार की है—"मन लगना हीं वड़ी पहचान है ही, पर मन लगा रहे। 'तोता मैना' में मन लगता है, पर मन लगा नहीं रहता। एक वार मन को पकड़कर जो वरावर जीवन में जिन्दा रहता आये, वह अच्छी कहानी या उपन्यास है। जव-जव आप अकुला जायें तव-तव आप उसे पढ़ें और उसे जीवन में शाश्वत मानने लगें। मन लगे और जितने दीर्घ काल तक लगा रहे उतना ही अच्छा है।"[1]

जैनेन्द्र की कहानी-कला में संकलन-त्रय (Three Unities) का सम्यक् निर्वाह किया गया है। कहानी मानव-जीवन के किसी एक ही केन्द्रीय भाव की अभिव्यक्ति है। प्रभाव की एकता (Unities of Impression) का जितना सफल और सुन्दर निर्वाह इनकी कहानियों में हुआ है उतना अन्य लेखकों में नहीं पाया जाता। यह उनकी कहानी-कला की सवसे वड़ी विजय है। इस तथ्य को उन्होंने इस प्रकार पुष्ट किया है—"मैं समझता हूँ कहानी को ऐक्य प्रदान करने

१. 'जैनेन्द्र के विचार', पृष्ठ १०१

वाला संघटित करने वाला जो भाव (Idea) है उस पर उसका ध्यान केन्द्रित रहे। यदि ऐसा हो तो कहानी के सब अवयव दुरुस्त रहेंगे और सारी कहानी में ऐक्य तथा प्रवाह रहेगा। जिसे चरम उत्कर्ष (Climax) कहते हैं उसकी ओर ही सारी कहानी वही जा रही है यह बात स्वयं आ जायगी। जहाँ वह उत्कर्ष पूर्ण होगा वहीं कहानी का अन्त हो जायगा।"

जैनेन्द्र की कला में मनोविज्ञान का बहुत बड़ा स्थान है। कथोपकथन में मनोविज्ञान का प्रयोग उन्होंने ही पहले-पहल किया। इनके पूर्व 'प्रेमचन्द' तथा 'कौशिक' ने कथोपकथन का सुन्दर प्रयोग अवश्य किया है, लेकिन इसका व्यवहार उन्होंने कथा के विकास के लिए किया था। जैनेन्द्र ने मानव-मन के रहस्यों तथा गाँठों को खोलने के लिए ही कथोपकथनों का प्रयोग किया है। श्री माचवे ने कहा है कि 'जैनेन्द्र के पात्रों का मनोविज्ञान-निरूपण कुशल संवादों द्वारा होता है। जैनेन्द्र मनोविश्लेष्क हैं। व्यक्ति की मानसिक स्थितियों तथा उसकी दुर्बलताओं का सुन्दर चित्र उपस्थिति करने में इन्हें पूरी सफलता मिली है। इस क्षेत्र में ये अकेले हैं।

जैनेन्द्र की कहानी-कला में भाषा का अपना स्वरूप है, जो अन्य लेखकों में नहीं पाया जाता। 'हिन्दी के सामाजिक उपन्यास' के लेखक श्री ताराशंकर पाठक का कहना है कि 'जैनेन्द्र की सबसे बड़ी विशेषता इनका रचना-चमत्कार, कहने का ढंग या शैली है।' यद्यपि वे रचना-शैली की उतनी परवाह नहीं करते जितनी इस बात की कि 'उन्हें क्या कहना है, तथापि जैनेन्द्र की भाषा-शैली निज की है। इनकी भिन्न कहानियों की तरह उनकी भाषा भी भिन्न है।' 'उनमें भाषा में भावों की ऊँचाई तक उठाकर उन्हें अभिव्यक्ति करने की गजब की शक्ति है। उनके वाक्य प्रायः छोटे-छोटे, चलते, पर साथ ही मानो फूल बिखेरते हुए-से चलते हैं। वे पारे की तरह ढुल-मुल-से करते रहते हैं मानो हमारे हाथों की अँगुलियों का स्पर्श हुआ नहीं कि वह हिल पड़ा, छितरा पड़ा। उर्दू से घृणा नहीं अंग्रेजी, से परहेज नहीं, संस्कृत से दुःख नहीं। उनके यहाँ भेद-भाव की बू तक नहीं। केवल शर्त है तो स्वाभाविकता की, सहजता की, और बोधगम्यता की।'[1]

जैनेन्द्र पर आक्षेप

हाड़-माँस के मनुष्य में दोष और गुण दोनों होते हैं। चाँद में भी कलंक की कालिमा है। गंगा-जैसी पवित्र नदी में भी गन्दे नालों का पानी गिरता है। फिर यदि जैनेन्द्र में कुछ लोगों को दोष दिखाई पड़ते हैं तो इसमें उनका क्या दोष? प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी ने जैनेन्द्र के साहित्य में दो दोष देखे हैं—

१. कृत्रिम भावात्मकता का लबादा—'इनके सभी पात्र एक ऊँचे उद्देश्य को लेकर उच्च मानसिक भूमि पर व्यवहार करते दीखते हैं, किन्तु सच्ची चारित्रिक उच्चता और उदात्त मनःस्थिति उनमें नहीं।.........पढ़ने पर एक अनाकांक्षित शृङ्गारिकता की अन्तर्धारा हमें दिखाई देती है.........और ऊपर से विशुद्ध-सी

१. डा० देवराज, 'विशाल भारत' के एक लेख में

वस्तु जान पड़ती है; २. अस्पष्ट चरित्र—'जैनेन्द्र जी अपने पात्रों को सुस्पष्ट व्यक्तित्व नहीं देते, न उनके जीवन के सुख-दुःख को सुलझते हुए रूप में हमारे सामने रखते हैं। उनके पात्र एक बड़ी हद तक रहस्यवादी बने रहते हैं। उनके प्रति पाठकों की आकांक्षित सहानुभूति उत्पन्न नहीं होती।'[1] इनके अतिरिक्त कलकत्ता से निकलने वाले 'विश्वमित्र' पत्र के सहायक सम्पादक स्व० श्री रामनारायण 'यादवेन्दु' ने जैनेन्द्र-साहित्य में दो दोष और निकाले हैं—१.जैनेन्द्र की कला में हम मानवता का स्पष्ट, पूर्ण और स्वस्थ चित्र नहीं देखते। उनकी कृतियाँ पाठकों के लिए पहेली बनी रहती हैं, २. 'जैनेन्द्र की भाषा और भाव प्रकाश शैली बड़ी अस्वाभाविक और कृत्रिम-सी होती हैं,' ३. 'वह अपने पात्रों को पूरा दार्शनिक बना देते हैं और एक विचित्र-से वाग्जाल में पड़कर अपनी शक्ति और ओज को नष्ट कर देते हैं।

जैनेन्द्र के साहित्य पर तरह-तरह के आलोचकों ने अपने ढंग से आक्षेप लगाये हैं। मैं यहाँ उनके औचित्यानौचित्य का विवेचन न करके इतना ही कह देना चाहूँगा कि 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना'! इस विषय पर स्वतन्त्र पुस्तक लिखने की आवश्यकता है।

---

१. 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी', पृष्ठ १९२
२. 'माधुरी' १९४० (मार्च)

: ४ :

अज्ञेय

[सन् १९११]

अज्ञेय का व्यक्तित्व (Personality)

श्री अज्ञेय हिन्दी के एक शक्तिशाली लेखक हैं। इनका-सा लायक और प्रभाव-शाली व्यक्तित्व हिन्दी के किसी भी दूसरे लेखक में नहीं पाया जाता। इनके व्यक्तित्व के अनेक पहलू हैं। साधारण प्रतिभा इनकी सबसे बड़ी विशेषता है। इतनी कम उमर में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों पर समान अधिकार रखना साधारण व्यक्ति का काम नहीं। इनकी रुचि सें विविधिता और विभिन्नता व्यक्तित्व को और भी महान् बनाती है। एक साथ अनेक भाषाओं का अध्ययन करना इनकी प्रवृत्तियों की असाधारणता का सूचक है। १४ वर्ष में मैट्रिक पास करना, केवल १० वर्ष म कविताएँ लिखना, सिर्फ १३ वर्ष की उमर में अंग्रेजी में उपन्यास और कविताएँ लिख देना और १८ वर्ष में राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी कार्य करना—ये अज्ञेय के अद्वितीय तथा महान् व्यक्तित्व के परिचायक हैं। व्यक्तित्व की यह महानता हिन्दी के किसी भी दूसरे लेखक में नहीं पाई जाती। अज्ञेय-जैसे व्यक्ति और लेखक इस देश की दूसरी भाषाओं में शायद ही मिलें। ये गुलाम भारत में पैदा न होकर यदि किसी स्वतन्त्र और सम्पन्न देश में पैदा हुए होते तो अब तक ये विश्व-विख्यात लेखक हुए होते और पश्चिम वालों को इन्हें नोबुल पुरस्कार देने में जरा भी हिचक न होती। लेकिन हमारा दुर्भाग्य है कि हम ऐसे लेखक का समुचित सम्मान तक करने में असमर्थ हैं। हिन्दी के प्रति हमारे देश के राजनीतिक नेताओं में सामूहिक तथा साहित्यिक चेतना का अभाव होने के कारण आज स्वतन्त्र भारत में भी इनका सम्मान और स्वागत नहीं हो पा रहा है। व्यक्ति अज्ञेय महान हैं और इससे अधिक महान है उनका साहित्यिक। श्री प्रभाकर माचवे ने श्री अज्ञेय के साहित्यिक जीवन का बड़ा ही सुन्दर रेखाचित्र 'हंस' में खींचा है जिसकी कुछ पंक्तियों को मैं उद्धृत कर रहा हूँ। इस रेखाचित्र से हम अच्छी तरह समझ जायँगे कि अज्ञेय में जो असाधारण गुण छिपा है, उसका स्वरूप क्या है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखक शायद अज्ञानवश इनकी सदैव उपेक्षा करते रहे हैं। यही कारण है कि हमारे साहित्य के इतिहास-लेखकों ने इनके सम्बन्ध में दो शब्द लिखने की आवश्यकता नहीं समझी। सच्ची बात तो यह है कि १९२४ के बाद हिन्दी-साहित्य में जिन प्रतिभा-सम्पन्न

लेखकों—अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा आदि का आगमन हुआ है, उनके सम्बन्ध में हिन्दी के पाठक बिलकुल अन्धकार में पड़े हैं। इनके साहित्य का अभी तक पुस्तक के रूप में मूल्यांकन नहीं हुआ है। आज कवि, कहानीकार या उपन्यासकार की अपेक्षा आलोचक की आवश्यकता है। वर्तमान हिन्दी-साहित्य में उच्चकोटि के आलोचकों का अभाव बेतरह खटकता है। आलोचकों का अकाल होने के कारण प्रतिभा के पुत्र अज्ञेय आज तक पाठकों को अज्ञेय न हो सके। श्री माचवे ने अज्ञेय के रेखाचित्र में उनके व्यक्तित्व की विशालता का परिचय देते हुए उनके कहानी-साहित्य पर भी संक्षेप में विचार किया है। वह इस प्रकार है—"तार (Telegraphic-wire) के नीचे वैसे अक्सर वे अपने को 'वत्स' लिख देते हैं, मगर एक बार अंग्रेजी में अज्ञेय लिखा। 'ज्ञ' के द्विविध उच्चारण के कारण उसके हिज्जे हुए 'Agneya'—जिसे चाहो तो हिन्दी में पढ़ सकते हो 'आग्नेय'। अज्ञेय की कोई भी कहानी जिसने पढ़ी हो वह जान सकता है कि उनमें कितनी आग्निकता है, कितना विरोधपन।" या जैसे उन्होंने स्वयं अपना 'आत्म परिचय' कविता में लिखा था :

'मैं वह धनु हूँ जिसे लगाने में प्रत्यंचा टूट गई,'

'अज्ञेय' को सिर्फ उनकी किताबों से ही नहीं जाँचना होगा वरन् 'विश्वमित्र' और 'हंस'; 'विशाल भारत' और कभी 'माधुरी', 'विश्व बन्धु' आदि अनेक पत्रों में निकली उनकी कहानियाँ, कविताएँ और लेखादि—जैसे शान्तिनिकेतन में महायुद्धोपरान्त हिन्दी-कविता, पर अंग्रेजी में दिया हुआ व्याख्यान, जो मूल 'विश्व-भारती' में छापा और भावानुवाद 'विश्वमित्र' आदि से ले लेना होगा। और साहित्य में ही 'सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन' को और जानना हो तो 'सैनिक' के सन् '३७ के शुरू के मासों के सम्पादकीय, 'विशाल भारत' की उनके सम्पादक के समय की संपादकीय टिप्पणियाँ और कई छोटी-बड़ी आलोचनाएँ और 'नक्काशं : एक बन्दी कवि,' और 'अन्धों की शिक्षा'-जैसे लेख भी ले लेने होंगे। 'एशिया' और दूसरे पत्रों में प्रकाशित आपकी अंग्रेजी कविताएँ भी क्या छोड़ देने की बात है? और इधर का प्रकाशित उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' (दो भाग)।

कहानीकार अज्ञेय

अज्ञेय के विप्लवी तथा विस्फोटक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति इनकी कहानियों और उपन्यासों में हुई है। इधर हाल की प्रकाशित रचना 'शरणार्थी' में उन्होंने भारतीय शरणार्थियों की दयनीय अवस्था का चित्रण किया है। इनकी कहानियों का एक ऐसा वर्ग है जिन्हें हम राजनीतिक कहानियाँ कह सकते हैं। इनमें वि॰ेशी वातावरण (रूस चीन) की और सृष्टि की गई है। वैदेशिक पृष्ठभूमि पर कहा॰ी लिखने की परिपाटी अज्ञेय ने ही शुरू की। 'विपथगा', 'मिलन,' 'हरित', 'अकलंक', और एकाकी तारा ऐसी ही कहानियाँ हैं। इनमें पात्र और घटनाएँ विदेशी चादर ओढ़कर सामने आये हैं। इन कहानियों में लेखक ने नारी की दृढ़ता और कार्य-शक्ति की

निपुणता का परिचय दिया है। इनमें नारी-पुरुष के प्रेम और देश-प्रेम के संघर्ष का द्वन्द्वात्मक चित्रण किया गया है। कर्तव्य बड़ा है या प्रेम इसकी विवेचना की गई है।

अज्ञेय की दृष्टि में कहानी की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—'कहानी जीवन की प्रतिछाया है और जीवन स्वयं एक अधूरी कहानी है, एक शिक्षा है, जो उम्र-भर मिलती है और समाप्त नहीं होती।'[1] कहानीकार अज्ञेय के बारे में श्री प्रभाकर माचवे के निम्नलिखित विचार हैं—"अज्ञेय सिर्फ कहानी नहीं कहता। वह साथ में चोट देता चलता है। कहानी के लिए कहानी लिखना उसने सीखा ही नहीं।......दो ही चीजें तो अज्ञेय की कथा के प्राण हैं—एक तो बंदी-जीवन की झनझनाती हुई जंजीरों और अपरिवर्त और अडिग खड़े सींखचों को तोड़कर भाग खड़े होने वाली मुक्ति लिप्सा......वह दुनिया की स्वीकृत शासन-व्यवस्था और नीति-मूल्यों के विरुद्ध तनकर खड़ा हो जाना चाहता है और कहता है—'खतरों का चुम्बन ही जीवन!' या नीत्से के शब्दों में ज्वालामुखी के पास अपने घर बनाओ, सदा युद्ध-भावना में रँगे रहो। और दूसरी चीज है, भावना के सूक्ष्म तारों को हल्के से छोड़ जाना, मनोविज्ञान के लोक में वह नई-से-नई गुत्थी स्पर्श-मात्र से खोलकर दिखाना, जिसे किसी ने आज तक छूआ नहीं हो और भावुक पाठक को अपनी कविता ममता से मर्माहत कर देना। इस प्रकार की कहानियों में गहरी वेदनानुभूति प्राधान्य है, मानो वे रोजेटी (Rosetti) की सुकुमार पंक्तियों में कहती हैं :

The rose saith in the dewy work
I am not fair;
Yet my loveliness is born
Upon a thorn.

"सिपाही और चित्रकार कवि की दोहरी भूमिका उनकी कथाओं में स्पष्ट विम्बित दीखती है। पर अंग्रेजी का प्रभाव कहो या बन्दी-जीवन की मनोभूमि की ही कुछ विकृति कहो, कई जगह अज्ञेय जी भावुक से ज्यादा चिन्तनशील दीख पड़ते हैं। उनके कथा-लेखन के विकासेतिहास में निश्चय ही दो खंड हैं—एक तो 'अमर वल्लरी,' 'मैना,' 'सिगनेलर,' 'रेल की सीटी' आदि संवेदनात्मक और हल्के गहरे रोमान्स से रँगी भावना-प्रधान चीजें। और अव वन्दीगृह से छूटकर आये हुए अज्ञेय ने कथा द्वारा वर्तमान सभ्यता के वैषम्य पर व्यंगोपहास पूर्ण ध्वनि से जो मार्मिक और कठोर चोट देने की यह नई वात विकसित हुई है, उसके उदाहरण हैं—'सभ्यता का एक दिन', 'नयी कहानी का प्लाट', 'राधा का नाच', 'कोठरी की वात,' 'नम्वर दस' आदि। ये सव नाम 'विपथगा' के वाहर के हैं।" 'विपथगा' में 'रोज' ही एक ऐसी कहानी है जिसमें हमें अज्ञेय की उपर्युक्त दोहरी प्रवृत्तियों का सामूहिक दर्शन होता है—मालती के प्रति लेखक की वेदनानुभूति, उसके वियोग की पीड़ा और भारतीय नारी-जीवन की दयनीय स्थिति का चित्रण। 'अज्ञेय'जी ने 'रोज'

१. 'विपथगा' की 'केड़यां' शीर्षक कहानी में, पृष्ठ २२२

में भारतीय कुटुम्ब की इस बड़ी गहरी त्रुटि का विश्लेषण किया है, जिसे दूर किये बिना वह श्मशान बना जा रहा है—मुर्दों की बस्ती, फिर ऐसे कुटुम्बों की समष्टि, समाज में जीवन कहाँ से आये। 'आहार, निद्रा, भय, मैथुन' के सिवा कुटुम्ब में एक जिन्दादिली, एक चहल-पहल भी होनी चाहिए। हमारे जीवन में तो दिन-रात वही पसीना वही पसीना।···कोई स्वस्थ विनोद या बौद्धिक मनोरंजन जीवन का एक दैनिक अंग हुए बिना अपने यहाँ अनेक कुटुम्बों की आज वही दशा हो रही है जो हम रोज के कुटुम्ब की पाते हैं।'[1] अज्ञेय की ये पंक्तियाँ वर्तमान भारतीय कौटुम्बिक जीवन पर मार्मिक चोट करती हैं---'मैंने देखा कि सचमुच इस कुटुम्ब में गहरी भयंकर छाया घर कर गई है, उसके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गई है उसका इतना अभिन्न अंग हो गई है कि उसे पहचानते ही नहीं; उसकी परिधि में घिरे हुए चले जा रहे हैं।

उस व्यक्ति की मनोदशा का क्या ठौर-ठिकाना जो 'जीवन के उस गति-संसार और गति-संगीत से जबरन वंचित कर दिया गया, जिसे अपनी तंग कोठरी, जंगले और पहरेदारों की अँधेरी दुनिया में डाल दिया गया है। ऐसी दशा में वंदी की एक अपनी खास मनोदशा बन जाती है जो अनन्य साधारण है। मनोविज्ञान के लिए चाहे वह बड़ा दिलचस्प मसाला हो मगर उस वंदी के मसले हुए दिल के लिए दिलचस्पी कहाँ? चिरन्तन स्थितिमयता पर खड़े होकर सदा गतिमय जीवन की ओर देखने वाले ये वंदी दो तरह के हो जाते हैं, जैसी जिसकी जीवन-स्वीकृति सामर्थ्य हो। एक तो वे जो 'प्राप्त के साथ समझौता कर लेते हैं। दार्शनिक बन जाते हैं, पर दूसरे वे होते हैं जिनमें रक्त उबलता है, जिनमें दूषित, शोषक और केन्द्रहीन दुर्व्यवस्था पर क्रोध उपजता है।······वे मानव-मन में मानवता की उपेक्षा और दलित पतनोन्मुखता के प्रति आकुल सहवेदना और कभी-कभी अगाध हार्दिक क्षोभमय तिरस्कार जागृत करते हैं संक्षेप में जो अज्ञेय के समान जेल में भी। 'पगोडा वृक्ष' या 'विपथगा' लिखते हैं।' अज्ञेय ऐसे ही क्रान्तिकारी लेखक हैं। इनका यह रूप दिनों-दिन उग्र होता जा रहा है।

अज्ञेय की कहानी-कला

कहानीकार अज्ञेय की कहानियों के दो रूप हैं—पहली तरह की वे कहानियाँ हैं जिनमें लेखक ने 'भारतीय समाज-जीवन के कारुणिक खण्डचित्र उपस्थित किया है। 'रोज,' 'हर्रसिंगार' 'दुःख और तितलियाँ' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं। दूसरे प्रकार की वे कहानियाँ हैं जिनमें राजनीतिक विद्रोह की चिनगारियाँ प्रज्वलित हैं। इनमें लेखक ने विदेशी वातावरण की सृष्टि की है। अज्ञेय की कहानियों का सामूहिक दृष्टि से अध्ययन करने पर ही उनकी कहानी-कला का मूल्य आँका जा सकता है। यदि हम उनकी कहानियों के दो वर्ग न भी बनायें तो भी उनमें एक बात सामान्य रूप से पाई जाती है। वह यह कि इनकी लगभग समस्त कहानियों में प्रेम और कर्तव्य के तुमुल संघर्ष का अच्छा निदर्शन हुआ है। 'रोज' कहानी की

१ 'इक्कीस कहानियाँ', भूमिका, पृष्ठ ६१-६२

नायिका मालती के अन्तर्द्वन्द्वों का बड़ा ही कारुणिक चित्र खींचा गया है। मालती के पति डा० महेश्वर की अनुपस्थिति में लेखक आता है और वह मालती के मुख से उठते-गिरते भावों को अच्छी तरह पढ़ने की चेष्टा करता है। वह लेखक को एकटक देखती है, लेकिन उसकी दृष्टि उधर उन्मुख होते ही उसने आँखें नीची कर लीं। तत्काल लेखक उसकी आँखों के सागर में बहती हुई भाव-लहरियों को गिनने लगा। वह उसके मन का विश्लेषण करने लगा—'उन आँखों में कुछ विचित्र-सा भाव था, मानो मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायु-मंडल को पुनः जगाकर गतिमान करने की, किसी टूटे हुए व्यवहार-तन्तु को पुनरुज्जीवित करने की, और चेष्टा में सफल न हो रहा हो।'.........लेखक भी स्वयं अन्तर्द्वन्द्व की चक्की में पिस रहा है। उसके आते ही पहले तो मालती प्रसन्न होती है लेकिन शीघ्र ही उसका मुँह मलिन पड़ जाता है। 'मुझे देखकर न पहचानकर उसकी मुरझाई हुई मुख-मुद्रा तनिक से मीठे विस्मय से जागी-सी और फिर पूर्ववत् हो गई।' मालती अपने मन की उलझन में पड़ी है। लेखक भी अपनी भावनाओं के माया-जाल में फँसा है। वह कहता है—"काफी देर मौन रहा... मालती ने कोई बात ही नहीं की—यह भी नहीं पूछा कि मैं कैसे आया हूँ—चुप बैठी है, क्या विवाह के दो वर्ष में ही वे बीते दिन भूल गई? या अब मुझे दूर—उस विशेष अन्तर पर—रखना चाहती है?" यह है अज्ञेय के हृदय की वेदना की गाँठ; जिसको सुलझाने के लिए उन्होंने अनेक बार प्रयत्न किये हैं। लेखक अपने को सँभाल लेता है। वह मालती की मौजूदा स्थिति को जानने की चेष्टा करता है—मालती अब माँ है, किसी की पत्नी है, इस महान् परिवर्तन ने उसके जीवन की निर्बाध स्वच्छन्दता का अपहरण कर लिया है। 'हर्रसिंगार' में भी इसी तरह मानसिक संघर्ष का सफल वर्णन किया गया है। इस कहानी का नायक गोविन्द के शब्दों में जैसे स्वयं अज्ञेय अपने जीवन की वेदना का इतिहास कह रहे हों—'एक ही बार स्त्री ने उसके जीवन में पैर रखा, वही पद-चिन्ह की तरह पड़ी है—वह फूलों की माला।' गोविन्द एक अनाथ है, जो गीत और भजन गा-गाकर भीख माँगता है। उसे एक युवती से प्रेम हो गया है। वह सोचता है—'वह माँ के मरने पर अनाथ नहीं हुआ, बाप के मरने पर नहीं, समाज से निकलकर नहीं, पर अनाथालय में आकर अनाथ हो गया।' प्रेम की चोट अनाथ को भी अनाथ बना देती है।

प्रेम और कर्तव्य के संघर्ष का मार्मिक चित्रण करना अज्ञेय की कहानी कला की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। अन्तर्द्वन्द्व का सजीव वर्णन उन्हीं स्थानों पर हुआ है जहाँ वे—प्रेम और कर्तव्य—आपस में टकराने लगते हैं। मन का विश्लेषण (Psycho-analysis) ऐसे अवसर पर देखते ही बनता है। हृदय की वेदनाकुलता को वाणी दी गई है। ऊपर की पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि अज्ञेय की कहानी-कला में मनोवैज्ञानिक चित्रण के लिए काफी गुञ्जाइश है। चरित्र-चित्रण में इसका सफल निर्वाह हुआ है।

अज्ञेय की कहानियों में व्यक्ति के जीवन के किसी एक पहलू का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। इसलिए ये कहानियाँ घटना-प्रधान न होकर चरित्र-प्रधान हैं। अज्ञेय घटनाओं का वर्णन नहीं करते; जीवन के किसी एक मार्मिक खंड का चित्रण ही सर्वत्र हुआ है। इनकी कहानियों में प्लाट या कथावस्तु बहुत ही सूक्ष्म और संक्षिप्त होती है, एक तरह से होती ही नहीं। प्रत्येक कथानक में लेखक का व्यक्तित्व झलकता हुआ होता है। अपनी कहानियों में अज्ञेय ने अपने को छिपाने या सँवारने-बनाने की चेष्टा कभी नहीं की। वे जैसे हैं, उनकी कहानियाँ भी वैसी ही हैं। व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों, आशा-निराशा (सामाजिक या राजनीतिक) का यथार्थ चित्रण करना इस लेखक का ध्येय है। कहानी लिखने के लिए उसे क्लिष्ट कल्पना नहीं करनी पड़ती। उसका जीवन स्वयं कहानी का न समाप्त होने वाला कथानक है। हम सर्वत्र अज्ञेय को पा लेते हैं। हिन्दी के दूसरे कहानीकारों (प्रेमचन्द को छोड़कर) में यह बात नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त, अज्ञेय भी जैनेन्द्र की तरह कहानी की रूप-रचना या फार्म की परवाह न करके 'क्या कहना है' इसकी परवाह करते हैं। इसलिए इनकी प्रत्येक कहानी की शैली अलग-अलग है। लेखक ने अपने विचारों और भावों को ही व्यक्त करने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को सुलझाने में ही वह अधिक व्यस्त हैं।

अज्ञेय ने कहानी को 'जीवन की अधूरी कहानी' कहा है। इसका सफल निर्वाह उनकी कहानियों में हुआ है। अज्ञेय किसी भी समस्या को खड़ी करके उसका विस्तार पूर्वक वर्णन करके अन्त में उसे ज्यों-की-त्यों छोड़ देते हैं। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र ने उन समस्याओं का समाधान निकाल दिया है, लेकिन इसके विपरीत इनकी कहानियों में जीवन अधूरा है, उसकी समस्याएँ अधूरी हैं, मनुष्य स्वयं अधूरा है। इस लेखक की लगभग समस्त कहानियों में व्यक्ति किसी अज्ञात मनोभावों की भँवर में डूबता-उतराता है। वह किसी निष्कर्ष पर पहुँचता ही नहीं। 'रोज' कहानी का अन्त इन पंक्तियों में हुआ है—"मालती चुपचाप ऊपर आकाश में देख रही थी, किन्तु क्या चन्द्रिका को ? या ताराओं को ? तभी ग्यारह का घंटा बजा।.........
ग्यारह के पहले घंटे की खड़कन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भाँति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी और घंटा-ध्वनि के कम्पन के साथ ही मूक हो जाने वाली आवाज में उसने कहा—ग्यारह बज गए !" 'हरसिंगार' कहानी का अन्त इस प्रकार हुआ है—"तब क्या आगे के इस विराट् अन्धकार में एक भी किरण नहीं है, इस मरुस्थल में, जिसे उसने नहीं बनाया, क्या एक भी कली न खिलेगी। वहाँ बाहर सड़क पर गलियों में, क्या एक भी घर नहीं होगा, एक भी मधुर स्त्री-मुख, एक भी मधुर पुकार, अनाथ जीवन की इस विषैली रिक्तता को भरने के लिए एक भी स्मृति, हरसिंगार का एक भी फूल ?" ये कहानियाँ न तो दुःखान्त हैं, न सुखान्त। इनमें लेखक ने जीवन का एक गम्भीर प्रश्न छोड़ दिया है। इससे ये कहानियाँ प्रश्नान्त हो गई हैं। पाठक की उत्सुकता और उत्कण्ठा

आरम्भ और अन्त में एक समान बनी रहती हैं। इसको शान्ति नहीं मिलती। इसीलिए साधारण पाठक इन कहानियों को पढ़ने में अपनी रुचि नहीं दिखलाता क्योंकि इनमें सस्ते मनोरंजन का पूर्ण अभाव है। ऐसा लगता है कि अज्ञेय ने अंग्रेजी उपन्यासकार हार्डी (Hardy) की तरह यह फैसला कर दिया है कि जीवन में व्यक्ति की इच्छाओं की पूर्ति कभी होती ही नहीं। वह सदैव घुट-घुटकर मरने के लिए ही जीवन से संघर्ष कर रहा है। उसके अरमान अधूरे रह जाते हैं इस जीवन में। लेकिन यह समझ रखना चाहिए कि अज्ञेय, हार्डी की तरह निराशावादी नहीं हैं। वह 'संघर्ष को कला की जननी' कहते हैं। उनका विश्वास है कि 'कलाकार एक प्रकार के मानसिक संघर्ष में जिया करता है। यह संघर्ष संकल्प और परिस्थिति में चला करता है।' इनकी कहानियों में इसी 'मानसिक संघर्ष' को मूर्त रूप दिया गया है। 'खतरों का चुम्बन ही जीवन'—यह इस लेखक के जीवन-दर्शन का सारांश है, जिसका निर्वाह उसने अपनी कहानियों और उपन्यासों में किया है।

अज्ञेय की कहानी-कला में एक और नई बात पाई जाती है। डा० भटनागर के शब्दों में इनकी 'अधिकांश कहानियाँ पात्रों के पिछले दिनों की अस्फुट चित्र-कल्पनाएँ हैं। मनुष्य को जब किसी नवीन समस्या को पुरानी घटनाओं के प्रकाश में सुलझाना होता है तो अतीत के ये चित्र सिनेमा-चित्रों की भाँति इस तेजी से आते हैं कि हमारी धारणा-शक्ति उन्हें जहाँ-तहाँ ही पकड़ पाती है।' 'रोज' कहानी में वर्तमान जीवन की घटनाओं का चित्रण कम-से-कम और पूर्व-स्मृतियों का वर्णन अधिक-से-अधिक हुआ है। लेखक ने 'वे बीते दिन' की स्मृति की है। मालती के विवाह होने के पूर्व जीवन पर भी प्रकाश डाला गया है और वर्तमान की मनोदशा का वर्णन किया गया है। 'मालती मेरी दूर के रिश्ते में बहन है'—ऐसे वाक्यों को लिखकर लेखक ने पूर्व स्मृतियों की पिटारी खोल दी है।

सच तो यह है कि अज्ञेय को अक्सर कहानी लिखने की प्रेरणा भूत की किसी घटना विशेष से ही मिलती है। 'हरसिंगार' कहानी लिखने की प्रेरणा किताब के किसी पन्ने में पड़े सूखे फूल की माला से मिली, 'विपथगा' शीर्षक कहानी की प्रेरणा 'सामने की दीवार पर टँगी हुई टूटी तलवार' को देखने से मिली। 'रोज' में मालती की मुरझाई मुद्रा को देखकर उसके जीवन की पिछली कहानी मूर्त हो उठी है। इस तरह लेखक वर्तमान की भूमि पर खड़ा होकर भूत की स्मृतियों को साकार करने में व्यस्त दीख पड़ता है। अज्ञेय की कहानियों में अवचेतन मन का बड़ा ही सफल और सुन्दर विश्लेषण हुआ है।

अज्ञेय की कहानी-कला की सबसे बड़ी विजय है संकलन-त्रय (Three unities) का सफल निर्वाह। मैं बता आया हूँ कि किसी भी कहानी की सफलता के लिए इसकी कितनी आवश्यकता है। इस लेखक की कहानियों में संकलन-त्रय समय, स्थान और प्रभाव की एकता का जितना सफल निर्वाह किया गया है उतना हिन्दी के अन्य लेखकों की कहानी में नहीं मिलता। जैनेन्द्र और भगवतीचरण वर्मा इसके अपवाद हैं।

मैं कह आया हूँ कि अज्ञेय चित्रकार और शिल्पकार दोनों हैं। अपनी

कहानियों में इन्होंने अपनी चित्रकारिता और शिल्पकारिता का परिचय दिया है। नारी हो या पुरुष, दोनों के वाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्वों की मूर्त तस्वीर खींचने में अज्ञेय की कलम को बहुत ज्यादा सफलता मिली है। रूप-विधान की शक्ति अंग्रेजी उपन्यासकार डिकेन्स (Dickens) में बहुत अधिक थी। हिन्दी-साहित्य में व्यक्तित्व चित्रण करने की कार्य-कुशलता, यदि मैं भूल नहीं कर रहा हूँ तो कह सकता हूँ कि वह, केवल अज्ञेय की कला में ही है। रूप-विधान के लिए शब्द-संयम की आवश्यकता पड़ती है। यह लेखक इस कला में निपुण है। कुछ थोड़े-से शब्दों को जोड़कर जीता-जागता चित्र उपस्थित करने में यह लेखक सबसे आगे है। 'रोज' कहानी में 'युवती माँ' मालती घुटनों पर हाथ टेककर एक थकी हुई 'हुँ ह' करके उठी और भीतर चली गई। ये शब्द नारी के हृदय की वेदना को प्रकट करते हैं। 'मुझे देखकर, पहचानकर उसकी मुरझाई मुख-मुद्रा तनिक-से मीठे विस्मय से जागी-सी और फिर पूर्ववत् हो गई। इस एक वाक्य में अनेक भावों का संचार किया गया है। मालती का चेहरा मुरझाया हुआ है, लेखक को देखकर उसकी मुख-मुद्रा क्षण-भर के लिए विहँस पड़ती है, फिर उसमें विस्मय का भाव जागता है और अन्त में वह पूर्ववत् मुरझाई मुख-मुद्रा हो जाती है।

आधुनिक कहानी में नाट्यात्मकता का पर्याप्त प्रयोग किया जाता है। जो लेखक चित्रकार और शिल्पी होता है वह उस तत्त्व का अवश्य प्रयोग करता है। अज्ञेय ने भी अपनी कहानियों में नाटकीय प्रसंगों की संयोजना की है। इस तरह के प्रसंगों की अवतारणा में लेखक को बहुत अधिक सफलता मिली है, शब्द-संयम यहाँ भी देखा जाता है। 'रोज' में मालती लेखक को एकटक देख रही है (लेकिन वह लिखकर) ज्यों ही उसकी ओर उन्मुख होती है, वह अपनी आँखें नीची कर लेती है। इसमें नाटकीयता है।

अज्ञेय की कहानी कला में मार्मिक व्यंग्य के छींटे डाले गए हैं। इससे लेखक का सामाजिक विद्रोह स्पष्ट होता है। लेखक के इस कथन 'पति ढाई बजे खाना खाते हैं, इसलिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहती हैं,' 'युवती माँ' आदि शब्दों-वाक्यों में उसके विद्रोह की चिनगारियाँ हैं, जो भावना की राख के नीचे दबी पड़ी हैं; लेकिन वे भड़कने के लिए उचित समय की ताक में हैं। अज्ञेय ने व्यंग्योक्तियों द्वारा वर्तमान सभ्यता के वैषम्य पर मार्मिक प्रहार किया है। ऐसे प्रसंगों की अवतारणा में लेखक ने जैनेन्द्र की तरह व्यक्ति के माध्यम से वर्तमान विश्व की गतिविधि का अध्ययन किया है।

कहानी की शैली में ताजगी है, भाषा की सरलता है और है स्वच्छन्दता। अज्ञेय का गद्य हिन्दी-गद्य की भाषा का आधुनिकतम रूप है। भाषा के लिए हिन्दी में लचीलापन (flexibility) की अपेक्षा की जाती रही है। वह अज्ञेय और जैनेन्द्र की भाषा में पाया जाता है।

हिन्दी-साहित्य में अज्ञेय का स्थान

मैं कह आया हूँ कि अज्ञेय, जैनेन्द्र-स्कूल के कहानीकार हैं। हिन्दी-कहानी में

यों तो सन्' ३४ में अज्ञेय की पहली कहानी इलाहाबाद की स्काउट पत्रिका 'सेवा' में छप चुकी थी और जैनेन्द्र की पहली कहानी 'खेल' १९२८ में 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई थी। लेकिन हिन्दी में मनोवैज्ञानिक साहित्य के श्रीगणेश का पथ-प्रदर्शन करने का श्रेय जैनेन्द्र को ही दिया जाना चाहिए। १९३० के पहले अज्ञेय निर्माण की स्थिति में थे। इनका वास्तविक रचना-काल १९३१ से प्रारम्भ होता है। कहानीकार अज्ञेय का जन्म तब तक नहीं हुआ था, जब तक वे १९३० के नवम्बर में, षड्यन्त्र के अभियोग में गिरफ्तार नहीं हुए थे। उनकी साहित्य-साधना जेलों में ही फली-फूली है। इसीलिए हमने अज्ञेय को जैनेन्द्र-स्कूल के कहानीकारों में स्थान दिया है। १९२९ में जैनेन्द्र का प्रसिद्ध उपन्यास 'परख' प्रकाशित हो चुका था। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि हिन्दी में उपर्युक्त दो कहानीकारों का आगमन यद्यपि एक ही काल में हुआ तथापि कहानी-सृजन की परिपक्वता की दृष्टि से अज्ञेय के पहले जैनेन्द्र ही अधिक पुष्ट लेखक, हिन्दी-कहानी में नई सजधज के साथ आये।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि सिर्फ २० साल की अवस्था ही अज्ञेय 'विपथगा' और 'रोज' जैसी उच्चकोटि की कहानियाँ लिख चुके थे। हिन्दी कहानी साहित्य में अज्ञेय का आगमन एक आकस्मिक घटना है। जैनेन्द्र ने हिन्दी में जिस प्रकार की मनोवैज्ञानिक रचनाओं की नींव डाली उसका समुचित विकास अज्ञेय ने किया। वस्तुतः जैनेन्द्र के बाद अज्ञेय ही ऐसे कहानी-लेखक हैं जिन्होंने मनोविज्ञान को इतनी दूर तक खींचकर अनेक उच्चकोटि की कहानियाँ लिखीं। श्री इलाचन्द्र जोशी का भी कहना है कि 'जैनेन्द्र जी के बाद हिन्दी-मनोवैज्ञानिक साहित्य (उपन्यास, कहानी) के क्षेत्र में अज्ञेय जी का नाम लिया जा सकता है।' इस दृष्टि से वर्तमान हिन्दी-साहित्य में इन्होंने एक अच्छा ऊँचा स्थान बना लिया है।

: ५ :

यशपाल

हिन्दी-कथा-साहित्य में यशपाल ऐसे युग-प्रवर्तक प्रगतिवादी कलाकार हैं, जिन्होंने अपनी जिन्दादिल रचनाओं द्वारा हिन्दी-साहित्य में राजनीति और साहित्य के बीच टूटे हुए संबंध को सदा के लिए जोड़ दिया है। हिन्दी के प्रसिद्ध प्रगतिवादी उपन्यास-लेखक श्रीकृष्णदास ने यशपाल को 'प्रगति की परम्परा का चौकस चौकीदार' कहा है। 'सरगम' में उन्होंने (कृष्णदास) उनकी जीवनी, स्वभाव और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए कुछ आश्चर्यजनक बातें बतलाई हैं। मैं यहाँ उनके लेख से उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण पंक्तियों को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सका। "हिन्दी के भारत-प्रसिद्ध प्रगतिशील कथाकार यशपाल की प्रतिभा और देन का मूल्यांकन करने में हमें आसानी हो सकती है यदि हम यह जान लें कि यशपाल छः रुपये पाने वाले हरकारे पिता और तपस्विनी माता का लाडला बेटा है, बालपन से ही गरीबी और मुसीबतों से लड़ा है, जवानी के शुरू से ही पतलून की दोनों जेबों में पिस्तौल और कोट की जेबों में देशी पटाखे लेकर लाहौर की गलियों और डी० ए० वी० कालिज के मैदानों में घूमा है, क्रान्तिकारी-पार्टी की सदस्यता और चन्द्रशेखर आजाद की अनुशासन की कड़ाइयों में खतरा उठाने के बाद 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिक' पार्टी का सेनानायक होकर, पिस्तौल की बौछारों और दोनों ओर की गोलियों के बीच इलाहाबाद में प्रसिद्ध आयरिश क्रांतिकारिणी महिला श्रीमती सावित्री देवी के साथ गिरफ्तार हुआ। यूरोपियन जेल में हवालाती की तरह कुछ दिन रहा और आठ वर्ष की लंबी सजा पाकर नैनीताल जेल में बन्द कर दिया गया, जहाँ मार्क्सवाद का चस्का लगा और जहाँ उसने इस साहित्य में दक्षता भी प्राप्त की। नैनी जेल यशपाल की जिन्दगी में खास अहमियत रखती है, क्योंकि आतंकवादी से हटकर साम्यवादी विचार-धारा में यशपाल की आस्था और विश्वास की नींव यहीं पड़ी। यहीं, इसी जेल में, यशपाल की शादी 'रानी' (श्रीमती प्रकाशवती या 'प्रकाशो') से हुई और यहीं 'पिंजड़े की उड़ान' वाली कहानियाँ लिखी गईं। यशपाल का स्वास्थ्य जेल में बराबर खराब रहा। यहाँ तक कि डाक्टरों ने और स्वयं कर्नल भण्डारी ने भी टी० बी० का एलान कर दिया। प्रकाशवती ने, जो स्वयं क्रान्तिकारी की पार्टी की कार्यकर्त्री थीं, यशपाल की इस बीमारी को अपने सुहाग के लिए चुनौती समझा और आजीवन वैधव्य का खतरा

उठाकर भी प्रेम की वेदी पर अपनी जवानी को निछावर करने की परम्परा की रक्षा करते हुए उन्होंने नैनी केन्द्रीय कारागार के दफ्तर में जेल-अधिकारियों के सामने यशपाल ही से शादी की। प्रेम ने विजय पाई। मौत सकपका गई। इस तेजस्वी नारी की चमकती आँखों के आगे वह ठहर न सकी। अपना सिर पीटकर वापस हो गई। यशपाल भी कुशल पूर्वक हैं। यद्यपि बीमारियाँ घेरे रहती हैं, मगर 'रानी' के स्नेहांचल की छाया में यशपाल मृत्यु के झोंकों से बराबर बचते चले जा रहे हैं और कला व साहित्य की सेवा भी करते जा रहे हैं।

"रानी के अलावा दुर्गा भाभी (श्रीमती दुर्गा बोहरा) के व्यक्तित्व का भी पूरा-पूरा असर यशपाल पर है।······इन्हीं दुर्गा भाभी के लिए बचपन में हम सुना करते थे कि यह चाँदी की छोटी चवन्नी को उछालकर बन्दूक का निशाना बना लिया करती थीं। (प्रकाशो और दुर्गा भाभी में गहरा सम्बन्ध बना था)···यशपाल अपने भावुक तारुण्य की उन घड़ियों में जब कि वह मौत से खेल खेला करते थे, इन दोनों नारियों का स्नेह और प्यार पाते रहे हैं। और आज भी जब कि रानी, भाभी और यशपाल प्रौढ़ ही नहीं, ढलाव की ओर भी बढ़ रहे हैं यह त्रिगुट ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। क्रान्तिकारी यशपाल जिस प्रकार रानी और भाभी की आलोचनाओं और सम्मतियों के सहारे अपना कर्तव्य निश्चित किया करते हैं। कथाकार यशपाल भी इन नारियों को पहले अपनी रचनाओं को सुनाकर उनकी सम्मतियाँ सुनने के बाद ही अपना रचनाएँ जनता के सामने रखते हैं।

"सन् '३८ में जेल से छूटने के बाद यशपाल ने २०) की पूँजी से अपनी रचनाओं के प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया। इन्होंने कभी भी किसी प्रकाशक के हाथों से अपना शोषण नहीं होने दिया। इसीलिए अन्य हिन्दी-लेखकों की भाँति यशपाल को न लुटना पड़ा और न अपमानित ही होना पड़ा। यशपाल को इसके लिए भी सदा की कर्मठ और कर्तव्यशील 'रानी' का कृतज्ञ होना पड़ेगा। आज २१ नम्बर ह्विवेट रोड, लखनऊ का 'विप्लव कार्यालय' और 'साथी-प्रेस' ही यशपाल का निवास-स्थान भी है। यहीं बैठकर बीच वाले कमरे में रानी-प्रेस और प्रकाशन की व्यवस्था करती हैं और बगल वाले कमरे में यशपाल कलम घिसते हैं। दोनों के सहयोग से नित नूतन सृष्टि होती रहती है—सुन्दर रोचक और मंगलकारी!" इस मशीन के युग में 'रानी' और यशपाल का यह अद्भुत जोड़ा, अनुकरणीय और दर्शनीय है और भविष्य में एक रोमांचकारी कहानी। सावित्री और सत्यवान् की यह अमर सृष्टि इस युग में भी संभव हो सकती है।

यशपाल मार्क्सवादी विचार-धारा के प्रगतिशील और सजग कलाकार हैं। हिन्दी के इस वर्ग के लेखकों ने साहित्य और राजनीति का पारस्परिक सम्बन्ध बैठाने में पूरी सफलता प्राप्त की है। हिन्दी-साहित्य की परम्परा में राजनैतिक साहित्य का पूरा अभाव बना रहा है। 'कोउ नृप होउ हमें का हानी', 'अजगर करे न चाकरी,' 'सबके दाता राम'-जैसी सूक्तियों को हमारे परम्परावादी लेखकों ने सदैव स्मरण किया है, जिसका परिणाम यह हुआ कि हमारे साहित्य में राजनैतिक

साहित्य का सदा अभाव बना रहा, साहित्य और राजनीति के बीच एक गहरी खाई खुदी रही। सन् '३५ से हमारे साहित्यकार इस कमी को दूर करने को आगे आये। इनके पहले भी भारतेन्दु और प्रेमचन्द-जैसे महाप्राण कलाकारों ने अपने नाटकों और उपन्यासों में तत्कालीन राजनैतिक आन्दोलनों के यथार्थ चित्र अंकित किये थे। देश के स्वाधीनता-संग्राम का जैसा उत्साहवर्द्धक और सक्रिय रूप हमें 'कर्मभूमि' और 'समर यात्रा' में देखने को मिलता है वैसा पहले कभी नहीं मिला था।

आज की स्थिति कुछ दूसरी ही है। विश्व-जीवन की विपन्नता और राष्ट्रीय जीवन की दरिद्रता के फलस्वरूप आज भारत संसार के शोषित वर्ग के साथ-साथ अपनी रक्षा का उपाय, समाजवाद की सामूहिक और समतामयी भाव-धारा में टटोल रहा है। आज भारत को अमरकान्त और सलीम को ही एकता के अटूट सूत्र में बाँधने की आवश्यकता नहीं है, वरन् वह संसार के उन सभी असंख्य शोषित और उपेक्षित मानव-कंकालों को एक में समेटना चाहता है जिसका अगुआ सोवियत रूस है। आज सोवियत रूस की जन-संगठन-शक्ति ने संसार को आश्चर्य-चकित कर दिया है। सभी उसकी आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था की ओर आकर्षित हैं और संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक समाजवाद की लहर लहरा रही है। साहित्य में इस विचार-धारा का आग्रह बढ़ता जा रहा है। यशपाल का कथा-साहित्य इसी ओर प्रयत्नशील है।"[१] श्री प्रभाकर माचवे के शब्दों में "यशपाल ने जितना अच्छा लिखा है उतना ही उस पर बहुत कम समीक्षा रूप में कहा गया है। यशपाल की शैली बहुत आकर्षक है। प्रेमचन्द के बाद उतने ही यथार्थवादी, आकर्षक, सजीव वर्णन इनमें मिलते हैं। यशपाल के सभी नायक ('तर्क का तूफान' कहानी संग्रह में) दुर्बल होते हैं। नारी सबल बन जाती है।......यशपाल की कथा में सबसे खराब अंश वह है जहाँ वह एक सतर्क प्रचारक की भाँति पात्रों के मुँह से वही बुलवाते हैं जो कि उन्हें ईप्सित है।"[२] श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने प्रेमचन्द और यशपाल की तुलना करते हुए लिखा है कि "प्रेमचन्द के बाद यशपाल सही मानों में जन-साधारण के लिए भी हिन्दी-कथा-साहित्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी रचनाएँ एक ओर साहित्यिकों के लिए हैं, दूसरी ओर जनता के लिए भी आकर्षक हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से ऐसा जान पड़ता है मानो प्रेमचन्द ही नये युग में नया शरीर धारण करके पुनः सजीव हो गए हैं।......यशपाल की कहानियाँ प्रेमचन्द की कहानियों से बहुत छोटी हैं। छोटी कहानी की दृष्टि से इतनी छोटी सारगर्भित कहानियाँ हिन्दी में दुर्लभ हैं। उनकी कहानियों का गठन बहुत साफ, सुडौल और संक्षिप्त है, एक पौधे की तरह। 'पिंजरे की उड़ान', 'ज्ञान-दान' और 'वो दुनियां' में उनकी कथावस्तु का क्रमिक विकास हुआ है। 'उड़ान' की कहानियाँ भावमूलक हैं, 'ज्ञान-दान' की कहानियाँ यथार्थमूलक, 'वो दुनियां' की कहानियाँ समस्या-मूलक......कथानक, चित्रण, चरित्रांकन और शैली की दृष्टि से यशपाल,

१. 'आधुनिक कथा साहित्य', पृ० १८२
२. 'साहित्य सन्देश', नवम्बर, १९४५

एक शब्द में, प्रेमचन्द की तिरोहित प्रतिभा की तरुण शक्ति हैं।"[1]

हिन्दी-साहित्य में यशपाल का स्थान निर्धारित करते तथा उनके साहित्यिक व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए श्रीकृष्णदास ने लिखा है कि "यशपाल ने अपनी रचनाओं के द्वारा प्रगति की उन परम्पराओं की चौकस चौकीदारी की है जिसे प्रेमचन्द छोड़ गए थे और जिसे जैनेन्द्र अपने व्यक्तिवाद और पं० इलाचन्द्र जोशी अपने अन्तर्द्वंद्ववाद और मनोविज्ञान के प्याजी छिलकों से छिपा देना या मिटा देना चाहते थे। 'पिंजरे की उड़ान' से लेकर 'मनुष्य के रूप' तक यशपाल की प्रगति स्वयं इस बात की साक्षी है कि यशपाल अपनी चौकसी में कभी ढीले नहीं पड़े। यशपाल की कहानियाँ इसीलिए लोकप्रिय हुईं और उन्हें जनता ने इसीलिए कंठहार बनाया, क्योंकि उनमें अनाचार, अत्याचार, असमता, शोषण और पूँजीवादी हिंसा और दुःशासन का व्यंग्य विरोध रहता था। उनकी सभी रचनाओं का समन्वित सन्देश केवल एक है—वह यह कि वर्ग-संघर्ष के आधार पर ही आगे बढ़कर मानव-समाज अपनी विकृतियों से मुक्ति पा सकता है और अन्यतम विकास के सभी द्वारों को उन्मुक्त करा सकता है। वर्ग-संघर्ष का यह आधार ही वह आधार है जो मजदूर वर्ग के हाथों में सारे समाज का नेतृत्व थमा देता है और उसे इस योग्य बना देता है कि वह मानव-मुक्ति के अपने ऐतिहासिक कर्तव्य को मर्यादा के साथ पूरा करे। अगर अपनी रचनाओं में, अपनी कहानियों और उपन्यासों में, यशपाल ने इस आधार को माना है और इस आधार के सहारे ही उन्होंने निम्न मध्यम श्रेणी और मध्यम श्रेणी के अस्वस्थ शरीर की चीर-फाड़ की है और इसी आधार के सहारे ही उन्होंने विकृतियों को दूर करने की कोशिश की है तो फिर उनके प्रगतिशील कथा-कार होने में क्या सन्देह है? मेरा विश्वास है कि यशपाल अपने मार्क्सवादी विचारों और धारणाओं के प्रति हमेशा सजग और सचेत रहे हैं। उन्होंने ईमानदारी का दामन एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ा है। प्रेमचन्द मार्क्सवादी नहीं थे। वह पूर्णतया क्रांतिकारी भी न थे। जो युग-परिवर्तनकारी सन्देश प्रेमचन्द के साहित्य में हमें मिलते हैं, वे केवल इसलिए कि प्रेमचन्द मनुष्य-जाति से प्रेम करते थे। वे अनाचार और शोषण की ओर से आँखें नहीं बन्द कर सकते थे, वे समाज की निवृत्तियों और विषमताओं पर दर्शन और शास्त्र की लीपा-पोती नहीं करते थे। वे एक डाक्टर की भाँति घाव को देखते, उसके कारणों को देखते और तब चीर-फाड़ और मरहम-पट्टी करते थे। वैज्ञानिकता की यह परम्परा, जिसे प्रेमचन्द छोड़ गए थे, यशपाल की रचनाओं में पूर्णता को प्राप्त हुई। यशपाल ने उसमें मार्क्सवाद का 'टानिक' जोड़कर शरीर के घाव को अच्छा करने के सभी साधन जुटा दिये। इस प्रकार प्रेमचन्द की प्रगतिशील परम्परा का उन्होंने पोषण ही नहीं किया बल्कि उसे अधिक वैज्ञानिक और अधिक सबल भी बनाया।

"यशपाल की रचनाओं की मांसल सचाइयाँ समाज की सचाइयाँ हैं, जिसके दिन ढल चले, जो अपने अन्तर्विरोधों की रगड़ से टूट और घिस गया है

---

१. 'सामयिकी,' पृ० २८३-८४।

और जो अपनी जिन्दगी की आखिरी घड़ियाँ गिन रहा है। साथ ही उस समाज की भी सचाइयाँ हैं जो अपने रक्त और स्वेद के बल पर अपनी हड्डियों की सीढ़ियों के सहारे ऊपर उभरता आ रहा है। यशपाल के साहित्य का यही सन्देश है। आशावादी यशपाल की प्रगति शीलता की यही पीठिका है। ······यशपाल के चेहरे पर ग़रीबी, दृढ़ता, अस्वस्थता और संघर्ष के कारण जो गहरी रेखाएँ पड़ गई हैं वह संभवत: अमिट हैं और उनकी आज की सम्पन्नता के बावजूद भी हमें उनके रक्त-स्वेद-अश्रु से सने उस विद्रोही, असमझौतावादी, क्रांतिकारी अतीत की याद दिलाती हैं जिसके कटु अनुभवों ने उनकी सारी रचनाओं में व्यंग, तीखापन, वेलौसपन और कड़वाहट भर दी हैं। अगर यशपाल पंजाबी न होकर बंगाली रहे होते तो उनकी रचनाएँ काजी नजरुल इस्लाम के 'विद्रोही' की तरह चीखकर कहतीं :

बलवीर।
उन्नत तव शीर॥

मगर यशपाल बंगाली नहीं है। उनके व्यक्तित्व की तरह उनकी रचनाओं में पंजाबी अक्खड़पन, शुष्कता, नीरसता और दंभ का जो बाहरी खोल है वह उनके पंजावी होने के कारण है। बाहर से अत्यन्त शुष्क और दंभी दिखाई पड़ने और साहवी ठाट से रहने वाले यशपाल का दिल मक्खन से भी अधिक मुलायम है।"

हिन्दी के 'पहलवान आलोचक' (श्रीकृष्णदास के शब्दों में) श्री शिवदानसिंह चौहान का कहना है कि यशपाल के साहित्य में 'सैक्स आवसेशन' (Sex obsession) ही नहीं वरन् यशपाल बुनियादी तौर से रोमानी तवियत के कथाकार हैं। लेकिन सच तो यह है कि यशपाल की साहित्यिक रचनाओं को केवल एक ही कसौटी से जाँचा जा सकता है। वह यह कि उनसे समाज की विकृतियों और विषमताओं को काट-छाँटकर दूर करने में सहायता मिलती है, उनसे समाज तथा देश के नव-निर्माण में सहयोग मिलता है। यशपाल का साहित्य, इस देश के लिए, युग-धर्म की पुकार और गुहार है। लेकिन उनके साहित्य से वर्ग-संघर्ष का जो सन्देश मिलता है, उससे सभी लोग सहमत नहीं हो सकते। यशपाल के साहित्य का यह भाग हमारे लिए सिर-दर्द बन गया है। क्या संघर्ष से संघर्ष का अन्त किया जाना सम्भव है ? आज विश्व के सामने यह समस्या एक विराट् प्रश्नसूचक चिन्ह बनकर खड़ी हुई है। इसीलिए यह एक स्वाभाविक प्रश्न होता है कि क्या यशपाल वर्तमान मानव-जीवन के इस जर्जर सवाल का हल निकाल सके हैं ? उत्तर होगा—नहीं। साहित्य के सिर पर जब किसी स्थिर राजनीतिक विचार-धारा का भूत चढ़कर बैठ जाता है तब ऐसी स्थिति में यह सम्भव नहीं कि साहित्य की अन्तरात्मा अपनी ओर से कुछ कह-सुन ले। यही कारण है कि यशपाल का साहित्य हमारे मस्तिष्क को खुजलाने को अवश्य बाध्य करता है, लेकिन हमारे हृदय को स्पर्श नहीं करता। इसमें कोई संदेह नहीं कि यशपाल प्रेमचन्द की परम्परा के ही कथाकार हैं लेकिन प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में हृदय और बुद्धि के बीच जो सुन्दर सामंजस्य उपस्थित किया था वह यशपाल के पास नहीं है। इसीलिए यशपाल का

साहित्य एकांगी बन गया है। वह एक सीमा तक हमारे युग की समस्या का एक विद्रोही हल अवश्य निकालता है, जिससे हर आदमी सहमत नहीं होगा, लेकिन उससे मानव-जीवन के चिरन्तन सत्य पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। मार्क्स की विचार-धारा से अत्यधिक प्रभावित होकर यशपाल ने साहित्य की परिभाषा बदल दी है। इसीलिए अभी उनसे समझौता नहीं हो सकता। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब-जब मनुष्य के सामने वर्ग-भेद की समस्या उठ खड़ी होगी तब-तब यशपाल के साहित्य की आवश्यकता पड़ती रहेगी। आज हमारे देश को संघर्ष के नहीं, प्रगति और सामंजस्य के सन्देशों की आवश्यकता है। संसार के प्रत्येक महान् कलाकार ने प्रगति और सामंजस्य का ही सन्देश दिया है। फूट और संघर्ष तो राजनीति के विवादी स्वर हैं। मेरा ख्याल है कि साहित्यकार को उनसे बचना चाहिए। यदि साहित्यकार भी मानसिक संतुलन खो बैठेगा तो फिर संघर्षों का शमन करके शांति, प्रगति और सामंजस्य का पाठ कौन पढ़ायगा। हमारे युग के सामने यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ है—इसका समाधान निकालना हमारा कर्तव्य होना चाहिए।

चौथा खण्ड

आधुनिक अमर कृतियाँ

: १ :

सत्य हरिश्चन्द्र

'सत्य हरिश्चन्द्र' भारतेन्दु के मित्र श्री बालेश्वरप्रसाद बी० ए० के इस आग्रह पर, कि "आप कोई ऐसा नाटक भी लिखें जो लड़कों के पढ़ने-पढ़ाने के योग्य हो, क्योंकि शृङ्गार रस के जो नाटक लिखे गए हैं वे बड़े लोगों के पढ़ने के योग्य हैं, लड़कों को उनसे कोई लाभ नहीं' लिखा गया था। इस कथन से यह सिद्ध होता है कि यह नाटक मूलतः बालकों को शिक्षा देने के उद्देश्य से ही लिखा गया था। अतः इसका विषय बालकों के लिए बड़ा उपयोगी है। बालक स्वभाव से ही, बुरों की संगति में पड़कर छोटी-छोटी बातों पर झूठ बोलते हैं। यदि उन पर अनुशासन रखा जाय और सच बोलने का पाठ पढ़ाया जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि भविष्य में वे देश के नेता, समाज के सेवक और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ हो सकते हैं। ऐसा कहा जाता है कि 'बच्चों का पहला स्कूल माँ की गोद होता है।' यदि बच्चों का लालन-पालन अच्छी तरह न हो, वे उचित और अच्छे वातावरण में न रखे जायँ तो उनके बिगड़ जाने की अधिक सम्भावना रहती है। इन दृष्टियों को ध्यान में रखकर ही इस नाटक की रचना हुई है। अतएव इसका प्रधान विषय सत्य की रक्षा है। राजा हरिश्चन्द्र की यह स्पष्ट घोषणा है :

चंद्र टरै सूरज टरै, टरै जगत् ब्यौहार।
पै दृढ़ श्री हरिचंद्र को, टरै न सत्य विचार॥

हरिश्चन्द्र की सत्य की यह दृढ़ता हर भारतीय परिवार के लिए कहावत के रूप में प्रचलित हो गई है। इस विषय का—सत्य-धर्म-पालन का—विकास बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है। पहले अङ्क में लड़कों के लिए शिक्षा का अपूर्व भण्डार, खजाना उपस्थित किया गया है। दूसरे में, राजा की दृढ़ प्रतिज्ञा को प्रकाश में लाया गया है; तीसरे अंक में, राजा हरिश्चन्द्र इस सत्य-प्रतिज्ञा का पालन पहले अपनी पत्नी और पुत्र को, फिर अपने को बेचकर करते हैं। चौथे अङ्क में विषय का परिपाक और फल की प्राप्ति हुई है। सत्य का मार्ग काँटों से भरा अवश्य होता है लेकिन उसका अन्त शुभ होता है। हमारे बुरे कर्मों का फल बुरा होता है और अच्छों का अच्छा। यही भारतीय नीति-शास्त्र का एक साधारण नियम है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में इसी सत्य का बहुत ऊँचा आदर्श रखा गया है। अतः 'सत्य हरिश्चन्द्र' एक बालोपयोगी नाटक है। यों तो इस

नाटक के अन्य उपदेश भी हैं जिनमें दो बातें उल्लेखनीय हैं। पुरुषों के लिए सत्य का पालन-पोषण करना और स्त्रियों के लिए पतिव्रत-धर्म की रक्षा करना—ये दो बातें आर्य-सभ्यता की असाधारण देन हैं। इन बातों को ध्यान में रखकर नाटक की रचना हुई है। भारतेन्दु का यही जीवन-संदेश पाठकों को दिया गया है। इनके अतिरिक्त, यदि हम जीवन के साधारण स्तर पर खड़े होकर अपने आस-पास के जीवन की परख करें तो हम देखेंगे कि कि इस नाटक में 'बैर अकारण सब काहू से' और 'देखि न सकहिं पराइ, विभूति' के अच्छे जीते-जागते चित्र देखने को मिलते हैं। विश्वामित्र का राजा हरिश्चन्द्र के प्रति क्रोध अकारण तथा निराधार था; राजा की सत्य-प्रतिज्ञा के प्रति देवराज इन्द्र का ईर्ष्या करना मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता का परिचायक है। वास्तव में, ये दो बातें, जो मानव-मन की दुर्बलताएँ हैं, मानव-जीवन से सीधा सम्बन्ध रखती हैं। मनुष्य मनुष्य है और देवता देवता है। मनुष्य से बड़ी-बड़ी भूलें हो सकती हैं, होती हैं; यह एक साधारण-सी बात है, लेकिन देवता मनुष्य के क्रिया-कलापों को ईर्ष्या की दृष्टि से देख सकता है, यह विश्वास नहीं होता। राजा हरिश्चन्द्र के जीवन की कठिनाइयों और विघ्न-बाधाओं के केन्द्र में इन्द्र की अस्वाभाविक ईर्ष्या और विश्वामित्र का अकारण क्रोध काम कर रहे थे। कुछ भी हो, नाटक के उद्देश्य महान् हैं—सत्य-पालन और नारी-धर्म की रक्षा। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत चरित्र को उठाता जाय, यही इस नाटक की अन्तिम सीख है। यह नाटक बालकों के लिए लिखा गया हो या स्त्रियों के लिए, यह तो मानना ही पड़ता है कि इसमें नाटककार भारतेन्दु ने आर्य-सभ्यता के विशेष गुणों को ही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है और इस प्रयास में उसे सफलता भी मिली है।

महाराज हरिश्चन्द्र के त्याग और बलिदान की कथा सभी जानते हैं, पर उनकी काया के साथ छाया की तरह डोलने वाली महारानी शैव्या की सम्पूर्ण कहानी कम ही लोग जानते हे। 'मार्कण्डेय-पुराण' में इसकी कथा काफी विस्तार के साथ दी गई है। भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' में शैव्या की कथा गौण है। नाटककार ने शैव्या को केवल दो रूपों में देखा—माँ और पत्नी। वस्तुतः युग-युग से भारतीय नारी के ये ही दो सीमित क्षेत्र रहे हैं। नारी के इन दो रूपों के चित्रण में भारतेन्दु ने संकेत और संक्षिप्तता से काम लिया है। शैव्या के मातृत्व का जितना चित्रण चौथे अङ्क में हुआ है उतना उसके पत्नी-रूप का नहीं हुआ। उपर्युक्त पुराण में इन दो रूपों की सजीव तस्वीरें खींची गई हैं। फिर भी, भारतेन्दु को नारी के मातृत्व और पत्नीत्व के चित्रण में सफलता अवश्य मिली है।

भारतेन्दु के नाट्य-साहित्य की रीढ़ उनका देश-प्रेम है। 'सत्य हरिश्चंद्र' एक पौराणिक नाटक है। इसलिए इसमें उनके देश-प्रेम की भावनाएँ विस्तार न पा सकीं। फिर भी, नाटक के अन्त में उनके साहित्य की प्रधान विशेषता-देश-प्रेम—'भरत वाक्य' के रूप में व्यक्त होकर ही रही है। प्रो० सूर्यकांत शास्त्र

ने इस नाटक के 'भरत वाक्य' की व्याख्या इस प्रकार की है—"सन् १८५७ के के राज-विद्रोह के पश्चात् जनता पर सरकार की कड़ी दृष्टि रहने लगी, परन्तु हृदय के सच्चे भावों को कब तक रोका जा सकता है ? इस पद्य में हरिश्चंद्र अपने ध्येय का वर्णन इस प्रकार करते हैं :

> खल गगन सों सज्जन दुखी मति होंहि हरिपद मति रहै ।
> उपधर्म छूटै, स्वत्व निज भारत गहै, कर दुख बहै ॥
> बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होंहि, जग आनँद लहै ।
> तजि ग्राम कविता सुकविजन की अमृत वाणी सब कहै ॥

"यद्यपि इस युग में इन बातों का कहना साहस का कार्य नहीं प्रतीत होता तथापि उस अन्ध परम्परा के समय में इनका प्रकाश-रूप से इस प्रकार कहना सहज न था। जिस प्रकार समाज को 'हरिपद मति रहै'—भगवान् में विश्वास बना रहे—कटु प्रतीत होता था, उसी प्रकार प्राचीनता के पुजारियों को 'उपधर्म छूटै'—दूसरे धर्म से लोगों का पिंड छूटे—कटु क्वणित प्रतीत होता था । जिस प्रकार ब्रिटिश सरकार के लिए 'स्वत्व निज भारत गहै'—भारत अपना अधिकार प्राप्त करे—और 'कर दुख बहै'—देश से टैक्स का दुःख मिटे—ये शब्द क्रोधोत्पादक थे, उसी प्रकार 'नारि नर सम होंहि'—नारी-पुरुष समान हों—से उसके समाज को चिढ़ आती थी । परन्तु वीर भारतेन्दु ने जो जी में आया, कह डाला । उसने बड़ी खूबी के साथ सब धर्म-कर्मों का समन्वय करके उन्हें यथार्थ देश-भक्ति का प्रमुख अंग बना दिया । यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी।"[1] 'सत्य हरिश्चंद्र' का 'भरत वाक्य' भारतेन्दुकालीन भारतवर्ष की सामाजिक और राजनीतिक अवस्थाओं का जीता-जागता चित्र उपस्थित करता है । इसमें जिन सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक समस्याओं का उल्लेख किया गया हे, वे राजा हरिश्चंद्र के समय की नहीं हैं । उपरिलिखित समस्याएँ उसी युग की हैं, या आधुनिक भारत की; जिनसे मुक्ति पाने के लिए वह आज भी प्रयत्नशील है । 'सत्य हरिश्चंद्र'-जैसे शुद्ध पौराणिक नाटक में सामयिक जीवन की झाँकी देना नाटककार भारतेन्दु की प्रतिभा, कुशाग्र बुद्धि और देश-प्रेम की अनन्यता का परिचायक है । वर्तमान जीवन का प्रत्यक्ष संकेत पौराणिक नाटक में बहुत कम होता है । लेकिन नाटककार ने अपने युग के इतिहास को—भारत की दुरवस्था और सामाजिक पतन को—अभिव्यक्ति देने के लिए जगह निकाल ही ली है । भारतेन्दु का देश-प्रेम किसी-न-किसी बहाने अभिव्यक्ति के लिए मार्ग बना ही लेता है ।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र को अपने तीन नाटक बहुत प्रिय थे—'सत्य हरिश्चंद्र', 'चंद्रावली' और 'भारत दुर्दशा' । इन नाटकों को वे प्रायः रंगमंच पर खेला करते थे । इनमें भी 'सत्य हरिश्चंद्र' उन्हें बेहद पसन्द था । इससे यह जान पड़ता है कि वे अपने नाटकों के गुण-दोष से भली-भाँति परिचित थे । इन नाटकों में शृङ्गार-रस का वियोग-पक्ष ही प्रधान है, लेकिन हैं ये सुखान्त—अन्त में मिलन होता है ।

१. 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास', पृष्ठ ४१०

इन मौलिक श्रेष्ठ नाटकों के अतिरिक्त 'नील देवी' भी काफी सफल और अच्छा नाटक है। हिन्दी के एक विद्वान् डा० श्रीकृष्णलाल ने ठीक ही कहा है कि "भारतेंदु के नाटकों में 'नीलदेवी' में कथानक का सौंदर्य मिलता है, 'चंद्रावली' में इसका अबाध प्रवाह है और 'सत्य हरिश्चंद्र' में सुन्दर चरित्र है।" इससे यह ध्वनि निकलती है कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' एक चरित्र-प्रधान नाटक है, कथानक-प्रधान नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि इस नाटक में सुन्दर और प्रभावशाली पात्रों की सृष्टि हुई है। कथानक की दृष्टि से यह नाटक सफल नहीं है। इसके कथानक में अनेक त्रुटियाँ पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ, चौथे अङ्क में शैव्या का विलाप जरूरत से ज्यादा लम्बा हो जाने के कारण वहाँ की कथा-धारा रुक गई है। डा० रामरतन भटनागर का भी यही मत है कि "चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'सत्य-हरिश्चंद्र' विशेष सफल नाटक है।" उस नाटक के प्रधान नायक राजा हरिश्चंद्र हैं जिससे भारतेंदु ने अपना प्रतिबिम्ब देखा है। राजा का चरित्र 'विशेष' (Type) है, इसमें वैयक्तिकता का उतना समावेश नहीं हो सका जितना हम आधुनिक नाटकों में पाते हैं। इस नाटक का खलनायक विश्वामित्र है, जो एक क्रोधी ब्राह्मण हैं। जितना सबल खलनायक है उतना ही प्रबल नायक है। दोनों के उच्च व्यक्तित्व का सफल चित्रण हुआ है। उधर विश्वामित्र राजा हरिश्चन्द्र को राज्य-भ्रष्ट करने पर तुले हैं, दूसरी ओर हरिश्चंद्र अपनी प्रतिज्ञा पर अड़े हैं। उनके चरित्र की भित्ति का यह आदर्श वाक्य है :

चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत् व्यवहार।
पै दृढ़ श्री हरिश्चन्द को, टरै न सत्य विचार॥

इस नाटक में नारद का कलह-प्रिय चरित्र नहीं है। भारतेन्दु ने उनका चित्रण परोपकारी ऋषि के समान किया है। ये राजा हरिश्चन्द्र के सत्य की रक्षा करने में तत्पर दीख पड़ते हैं। रानी शैव्या के चित्रण में भारतेन्दु ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। यहाँ वह माँ है और पत्नी। आदर्श माँ और पत्नी के चरित्र की चरम सीमा शैव्या के चरित्र की असाधारण विशेषता है। अतः एक आलोचक के शब्दों में कहना उचित होगा कि "सूर्य मंडल के ग्रहों की भाँति 'सत्य हरिश्चन्द्र' के पात्र एक-दूसरे से इस प्रकार गुँथे हुए हैं कि उनमें से एक को निकाल देने से नाटक में ग्रह-कक्षा के समान गड़बड़ी पैदा हो जायगी।"

'सत्य हरिश्चन्द्र' की कथा पौराणिक है। अतः यह एक पौराणिक नाटक है। इसकी कथा न केवल वाल्मीकि रामायण और पुराणों में वर्णित है, वरन् संस्कृत में भी ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें हरिश्चन्द्र की कथा का वर्णन किया गया है। यह उस युग की कथा है जिस काल को हम लोग 'त्रेता युग' कहते हैं। महाराज हरिश्चन्द्र उस समय भारतवर्ष के सम्राट् थे। इनकी राजधानी अयोध्या थी। ये सूर्यवंशीय सम्राट् थे। ये परम धार्मिक, अटल सत्यवादी और महान् यशस्वी थे। इन गुणों के कारण पुराणों में इन्हें बारंबार 'राजर्षि' कहा गया है। इन्होंने अपने जीवन में एक ऐसा आदर्श स्थापित किया था जो आज—हजारों वर्ष

बीत जाने पर भी—वे प्रत्येक भारतीय के लिए 'सत्य के प्रतीक' हो गए हैं।

राजा हरिश्चन्द्र की कथा का सविस्तर वर्णन 'मार्कण्डेय पुराण' में हुआ है। इसी पुराण के आधार पर 'सत्य हरिश्चन्द्र' की कथा लिखी गई है। इस नाटक की मौलिकता के सम्बन्ध में लोगों के डगमगाते विश्वास हैं। विद्वान् आलोचक श्रीयुत व्रजरत्नदास ने इस नाटक को 'मौलिक रचना' कहा है, लेकिन डॉ० रामरतन भटनागर ने इसे 'चंड कौशिक का अनुवाद' कहा है। व्रजरत्नदासजी का कहना है कि 'चंडकौशिक से अवश्य कुछ श्लोक इसमें उद्धृत हैं पर और सब-कुछ भारतेन्दुजी की निज की कल्पना है।' स्वप्न में राज्य-दान की कथा भारतेन्दु की अपनी मौलिक कल्पना है। संस्कृत-नाटककार क्षेमेन्द्र के 'चंडकौशिक' में इन्द्र और नारद—इन दो पात्रों को कोई स्थान नहीं दिया गया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में इन पात्रों की सृष्टि भारतेन्दु की कल्पना की देन है। इसी तरह और भी बातें बतलाई जा सकती हैं। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस नाटक के लिखने से पहले उन्होंने (भारतेन्दु ने) 'मार्कण्डेय पुराण', 'वाल्मीकि रामायण' और क्षेमेंद्र कृत 'चण्डकौशिक' का अध्ययन अवश्य किया होगा। राजा हरिश्चन्द्र की कथा से संबंध रखने वाली सारी घटनाओं का केन्द्र-विन्दु पुराण ही है। सबों ने अपनी कथा को पुराण का आधार मानकर लिखा है। भारतेन्दु ने अपने नाटक में उन्हीं स्थलों पर अपनी उर्वर कल्पना का प्रयोग किया है, जहाँ राजा हरिश्चन्द्र का आदर्श सत्य ऊपर उठना चाहता है। नाटककार ने कहीं भी पौराणिक कथा की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को विकृत नहीं किया।

'सत्य हरिश्चन्द्र' एक पौराणिक नाटक है, यह कहा जा चुका है। इसकी तीन विशेषताएँ होती हैं:—१ कथानक धार्मिक होता है, २. इसमें अतिप्राकृत (Supernatural) प्रसंगों का वर्णन होता है, ३. प्राचीन काल के सामाजिक जीवन का चित्रण होता है। ये सारी बातें इस नाटक में पाई जाती हैं। अन्तिम दो अङ्कों को छोड़कर लगभग सभी जगह अतिप्राकृत प्रसंगों की सृष्टि नाटककार ने नहीं के बराबर की है। भारतेन्दु ने इस ओर इंशारा करते हुए लिखा है कि "पूर्वकाल में लोकातीत असंभव कार्य की अवतारणा, सभ्यगण को जैसी हृदयहारिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती। स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है।"

'सत्य हरिश्चन्द्र' में वीर, करुण, भयानक, वीभत्स और अद्भुत रसों का वर्णन काफी सफलता के साथ हुआ है। इनमें भी वीर और करुण रसों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन हुआ है। इस नाटक का प्रधान रस 'वीर' है। इसका आरम्भ और अन्त इसी रस से हुआ है। राजा हरिश्चन्द्र धर्मवीर, सत्यवीर और दानवीर हैं। वीर रस का चौथा भेद युद्धवीर है। राजा के इस स्वरूप का वर्णन इस नाटक में नहीं हुआ है। 'पुराण' में उनके इस रूप का भी वर्णन किया गया है।

हम कह चुके हैं कि भारतेन्दु के नाटकों में कविता ने काफी जगह ली है। "नाटकों में मानव-जीवन के सूक्ष्म अन्तर्जीवन का चित्रण हुआ करता है। ऐसी

अवस्था में, किसी-न-किसी रूप में कविता की शरण लेनी ही पड़ती है। बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार और आलोचक द्विजेन्द्रलाल राय की राय में कवित्व नाटक का एक आवश्यक अंग है, लेकिन नाटकों में संभाषण के बीच छंदों के प्रयोग से कवित्व का आरोप नहीं होता, क्योंकि ये छंद-छंद ही हैं, कविता नहीं।······संलाप के बीच में पद्य अस्वाभाविक और अयथार्थवादी प्रतीत होते हैं। संस्कृत-नाटकों में वार्तालाप के बीच में पद्यों का प्रयोग कवित्वमय वातावरण उपस्थित करने के लिए हुआ करता था। हिंदी-नाटकों में पद्यों का प्रयोग अवश्य हुआ है, परन्तु कवित्व वातावरण की सृष्टि नहीं हो सकी है; क्योंकि ये पद्य केवल 'भाषा-शैली के अलंकार'-मात्र थे। उनमें वास्तविक कवित्व का लेश भी न था। भारतेन्दु के 'हरिश्चन्द्र' में कविता का उतना दुरुपयोग नहीं हुआ है जितना उनके समकालीन नाटककारों ने किया। फिर भी, चौथे अङ्क में, श्मशान के वर्णन में, नाटककार ने एक ही बात को गद्य और पद्य दोनों में कहा है। यह 'पुनरुक्ति-दोष' है। लेकिन इतना अवश्य है कि उन्होंने जिन-जिन स्थलों पर कविता में अपने भावों को व्यक्त किया है वहाँ कथानक की शृङ्खला के अनुरूप उपयुक्त नाटकीय वातावरण की अवतारणा हुई है। श्मशान-घाट के वर्णन में भारतेन्दु ने अपनी कवि-प्रतिभा का परिचय दिया है। यह ठीक है कि इन वर्णनों पर रीतिकालीन कविता की अलंकार-प्रियता का प्रभाव पड़ा है, फिर भी, ये वर्णन प्रसंगानुकूल और सामयिक हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। काशी और गंगा के वर्णन में भारतेन्दु ने अपनी नागरिकता और प्रकृति-प्रेम का परिचय दिया है। इन दृश्यों के वर्णन में हम उनके हृदय की कोमल वृत्तियों की अभिव्यक्ति पाते हैं। इससे यह पता चलता है कि ये न केवल नाटककार हैं, वरन् एक प्रतिभाशाली कवि भी हैं। हाँ, यह सच है कि इस नाटक में गीतों का सर्वथा अभाव पाया जाता है।

रंगमंच की दृष्टि से 'सत्य हरिश्चन्द्र' का अभिनय इधर-उधर कुछ हेर-फेर कर लेने पर, आसानी से, सफलता के साथ, किया जा सकता है। भारतेन्दु के मतानुसार हिन्दी-भाषा में सबसे पहला नाटक पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का 'जानकी मंगल', बनारस थियेटर में, सन् १८६८ में बड़ी धूम-धाम से खेला गया था। इसके बाद, प्रयाग और कानपुर में 'सत्य हरिश्चन्द्र' खेला गया। स्वयं भारतेन्दु ने इस नाटक के अभिनय में राजा हरिश्चन्द्र का पार्ट किया था। यह नाटक उन्हें अत्यन्त प्रिय था। उनके जीवन-काल में इसकी काफी धूम थी। उन्हीं दिनों इसने काफी प्रसिद्धि पा ली थी। रंगमंच पर तीसरे अङ्क के दृश्यों का प्रदर्शन करने में बहुत-कुछ कठिनाई हो सकती है, क्योंकि इस अङ्क का बहुत बड़ा हिस्सा स्वगत-कथनों से भरा है। सच तो यह है कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक रंगमंच के लिए लिखा ही नहीं गया। भारतेन्दु ने स्वयं कहा है कि मैंने यह नाटक लड़कों के पढ़ने-पढ़ाने के लिए लिखा है। इस दृष्टि से यह नाटक दृश्यकाव्य की अपेक्षा श्रव्य-काव्य अधिक है और इसीलिए काशी की शोभा का वर्णन लंबे-लंबे स्वगत-कथनों द्वारा किया गया है। नाटक में दृश्य का संकेत अवश्य रहता है, उसका वर्णन नहीं।

होता। वर्णन तो उपन्यास की अचल सम्पत्ति है। इस नाटक का साहित्यिक महत्त्व रंगमंच के महत्त्व के सामने बहुत अधिक है। कोई भी व्यक्ति इसको पढ़कर जितना हृदयगत वास्तविक आनन्द ले सकता है उतना इसका खेल देखकर नहीं ले सकता। इसके कई कारण हैं—१. कथा-धारा में कार्यों (actions) का अभाव, २. समय असमय कविता का प्रयोग, ३. प्रकृति के दृश्यों का जरूरत से ज्यादा वर्णन, ४. लंबे-लंबे स्वगत-कथनों की अधिकता। रंगमंच-संबंधी ये दोष इस नाटक को अभिनय के योग्य नहीं बनाते। फिर भी, हेर-फेर करके इसका अभिनय किया जा सकता है।

नाटकों की रचना में भारतेन्दु ने मध्यम मार्ग का अवलम्बन लिया है। उन्होंने न तो बंगला के नाटककारों की तरह प्राचीन नाट्य-कला को एकबारगी छोड़ दिया है, न अंग्रेजी नाटकों की नकल की है और न प्राचीन नाट्य-शास्त्र की तंग गलियों में अपने को फँसाया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' अपनी रूप-रचना में, एक विशुद्ध भारतीय नाटक है। इसकी रचना का आधार भारतीय नाट्य-शास्त्र है। इसमें इस देश के नाट्य-शास्त्र के नियमों का यथोचित पालन किया गया है। इसकी रचना सन् १८७५ में हुई थी। इसके पहले भारतेन्दु संस्कृत-नाटकों का अनुवाद करने में लगे थे। संस्कृत-नाटकों का अनुवाद करते-करते उनके मन पर उसके नाट्य-शास्त्र के संस्कार की छाप पड़ चुकी थी। इसीलिए 'सत्य हरिश्चन्द्र' की नाट्य-कला पर इसी नाट्य-शास्त्र के संस्कार की अमिट छाप पड़ी है।

संस्कृत-नाट्य-शास्त्र के अनुसार पहले नाटकों मे पहले नान्दी-पाठ और प्रस्तावना की व्यवस्था होती भी है और तब नाटक का वास्तविक प्रारंभ होता था। यद्यपि आजकल इसकी प्रथा बंद हो गई है तथापि 'सत्य हरिश्चन्द्र' के आरंभ में नान्दी और प्रस्तावना का समावेश हो गया है। प्राचीन नाट्य-शास्त्र के अनुसार पहले नाटक बहुत लंबे-लंबे अंकों में बाँट दिया जाता था जिनमें दृश्यों का वर्गीकरण नहीं किया जाता था। इस नाटक का कथानक चार अंकों में विभाजित है। कथानक के विकास के लिए, तीसरे अंक के पहले, अंकावतार की योजना हुई है। आजकल यह प्रथा भी उठ गई है। अब तो एक अंक में कितने ही छोटे-छोटे दृश्य वर्णित होते हैं।

प्राचीन नाटकों में नाटककार का प्रधान उद्देश्य रसोद्रेक करना था, लेकिन आजकल उसका ध्येय कथा-वैचित्र्य है। भारतेन्दु ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' में प्रधान रस—वीर—की उद्भावना की है और अन्य रस गौण हैं। इसमें कथानक का वैचित्र्य नहीं है, है मुख्य विषय—प्रधान रस की मार्मिक व्याख्या। प्राचीन नाट्य-शास्त्र के मतानुसार नाटक के अन्त में भरत-वाक्य का होना अनिवार्य था। इस नाटक में इस नियम की भी रक्षा की गई है। यहाँ का 'भारत-वाक्य' धार्मिक न होकर सामाजिक है। यह भारतेन्दु की मौलिकता है। प्राचीन नाटकों में कथा के विकास के लिए स्वगत-कथनों का प्रयोग होता था। इस नाटक में 'स्वगत' का प्रयोग अवश्य हुआ है, पर जरूरत से ज्यादा। इससे कथा की धारा शिथिल हो गई है। आकाश-

भाषित' का भी जहाँ-तहाँ प्रयोग किया गया है।

अन्त में, मुझे इस नाटक की भाषा के सबंध में दो शब्द कहने हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' का गद्य भारतेन्दु के प्रौढ़ गद्य का उदाहरण है। चौथे अंक में शैव्या का विलाप हिन्दी-गद्य का प्रौढ़ रूप है। वाक्य छोटे-छोटे हैं, भाषा बोल-चाल की अन्यन्त स्वाभाविक है। भारतेन्दु की गद्य-भाषा का वास्तविक स्वरूप यही है।

उपर्युक्त बातें इस नाटक में तो हैं ही, इनके अतिरिक्त इस "नाटक में स्पष्टतया, भारतेन्दु बाबू अपने जीवन के आदर्श को रख सके हैं। अपने जीवन की परीक्षा में वे भी राजा हरिश्चन्द्र की तरह सफल हुए थे। राजा हरिश्चन्द्र ने केवल एक स्वप्न की ही घटना के कारण अपना सर्वस्व त्यागकर कष्टों को झेला था। भारतेन्दु ने भी स्वप्नों में ही अपनी सम्पत्ति खोई थी। वे भावुक थे। भावुकता स्वप्नों की सहचरी होती है। वह इस जगत् की वास्तविकता से कोसों दूर रहती है। इसीलिए भारतेन्दु को भी, अन्त समय तक, काफी कष्ट उठाने पड़े थे। इस नाटक के चौथे अंक में वर्णित दुर्दिन के समान ही उनका जीवन, भी कष्टप्रद था। राजा हरिश्चन्द्र की तरह उन्होंने भी अपने सर्वप्रिय चित्र अपने एक मित्र को दे दिया था किन्तु उफ तक न की। वह मित्र भी विश्वामित्र से अधिक कठोर था। उसने वह चित्र, जो भारतेन्दु को अपने प्राणों से अधिक प्यारा था, कभी नहीं लौटाया, यद्यपि वे उसे सैकड़ों रुपये उसका मूल्य देने को तैयार थे। विश्वामित्र ने तो केवल राजा की परीक्षा ली थी और उनका राज्य, अन्त में, लौटा दिया था लेकिन भारतेन्दु के जीवन का अन्तिम काल दुःखों और विपदाओं से ही घिरा रहा।"[1] यद्यपि उनके जीवन में उलझी हुई परिस्थितियाँ हमेशा आती रहीं, फिर भी उन्होंने आशा की कली को मुरझाने नहीं दिया। इस नाटक में उन्होंने मनुष्य के चरित्र की महानता को स्वीकार किया। यह भारतेन्दु के हृदय की विशालता का परिचायक हैं।

---

१. 'हिन्दी-नाट्य-चिन्तन', पृष्ठ १०५-१०६

: २ :

पथिक

त्रिपाठी जी की काव्य-कृतियों में 'पथिक' उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। अनेक विद्वानों का भी ऐसा ही मत है। उन्होंने अब तक केवल तीन ही खंडकाव्य लिखे हैं—पथिक' 'स्वप्न' और 'मिलन'। इनमें से 'पथिक' सबसे अधिक लोकप्रिय हो सका है। इसकी प्रसिद्धि का यह एक ज्वलन्त प्रमाण है कि यह बर्लिन-यूनिवर्सिटी में कई वर्षों तक हिन्दी-पाठ्य-क्रम में सम्मिलित रहा। इसका महत्त्व कई दृष्टियों से आँका जा सकता है। पहली बात तो यह है कि हिन्दी-कविता के इतिहास में 'पथिक' एक ऐसी काव्य-रचना है जिसमें महात्मा गाँधी के नेतृत्व में होने वाले भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम तथा असहयोग-आन्दोलन का बिलकुल यथार्थ चित्र खींचा गया है। इस दृष्टि से इस पुस्तक का ऐतिहासिक महत्त्व सिद्ध होता है। दूसरी बात यह है कि इसमें गाँधी जी के राजनैतिक, सामाजिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्य-रूप में मुखरित होने का पूरा अवसर मिला है। इस दृष्टि से 'पथिक' गाँधीवाद की एक सफल व्याख्या है। इस दृष्टि से भी इस पुस्तक का साहित्यिक मूल्य बढ़ जाता है, क्योंकि इसमें उस महामानव की वाणियों एवं मान्यताओं को काव्य-भाषा का रूप दिया गया है जो युग-युग के लिए अमर हो गया है। यदि गाँधीवाद आदर्श तथा सुखी जीवन की कुञ्जी है तो 'पथिक' उसकी सफल व्याख्या। तीसरी बात यह है कि इस पुस्तक के द्वारा त्रिपाठी जी ने भारत के राजनीतिक भाग्योदय के भविष्य का संकेत कर दिया है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन्' २० में हुआ था। उन दिनों हमारे देश में असहयोग-आन्दोलन छिड़ा हुआ था। इसका नेतृत्व महात्मा गाँधी कर रहे थे। त्रिपाठी जी देश की इस महत्त्वपूर्ण राजनैतिक घटना से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। महात्मा गाँधी का प्रभाव और प्रेरणा ग्रहण करके ही उन्होंने इस पुस्तक की रचना की थी। जिस स्वतंत्र भारत का स्वप्न 'पथिक' के अन्तिम सर्ग में कवि ने देखा है, उसकी वास्तविकता, आज तीस-इकतिस वर्षों के बाद साकार हो सकी है। आज से बहुत पहले ही त्रिपाठी ने वर्तमान भारत के सत्य का भविष्य-संकेत इस पंक्ति में कर दिया था :

शासन का सब भार लिया जनता ने अपने कर में।[1]

कवि की इस पंक्ति को पढ़कर यह कहना पड़ता है कि त्रिपाठी जी न केवल

---

१. सर्ग ५। ३०

युग-सृष्टा थे। बल्कि भविष्य-द्रष्टा भी थे। 'पथिक' के अन्त में भारत के जिस गणतंत्र शासन (Republican govt.) की कल्पना और शुभकामना उन्होंने की थी, वह आज सत्य हो गई है। आज हमारा देश पूर्णतः स्वतंत्र है और नये संविधान (New constitution) में गणतंत्र-शासन की महत्ता मुक्त-कण्ठ से स्वीकार कर ली गई है। महात्मा जी और त्रिपाठी जी का सुनहरा सपना आज पूरा हो गया है। 'पथिक' में उसी धूमिल स्वप्न को साकार रूप दिया गया है। यह कवि की बहुत बड़ी मानसिक विजय है। आज यह पुस्तक एक ऐतिहासिक काव्य-पुस्तक बन गई है; क्योंकि जिस अमर संदेश का समावेश इसमें हुआ है वह किसी भी परतंत्र देश के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। इस दृष्टि से इस पुस्तक की अन्तःराष्ट्रीय उपयोगिता भी बढ़ जाती है। यह पुस्तक आज भी गुलाम देशों को प्रेरणा और प्रोत्साहन देने की शक्ति रखती है; जिन पर अन्य देशों का आधिपत्य अभी तक बना हुआ है। वास्तव में 'पथिक' अपने अन्तर में भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम की कहानी छिपाये बैठा है, जो आने वाले युग को यह बतलायगा कि लगभग १२-१३ सौ वर्षों के बाद गुलाम भारतीयों ने कितनी कुर्बानी देकर, किस प्रकार अपने प्यारे देश को स्वतंत्र किया था। इस दृष्टि से इस काव्य-पुस्तक की साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्ता का मूल्य आसानी से समझा व लगाया जा सकता है।

अंग्रेजी कवि और आलोचक श्री मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है—'Poetry is the criticism of life'। (कविता जीवन की आलोचना है।) इस काव्य-परिभाषा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'पथिक' की रचना पर उपर्युक्त परिभाषा अच्छी तरह लागू होती है। जिन दिनों हमारा देश गुलाम था, उसकी दयनीय अवस्था का जितना यथार्थ चित्र त्रिपाठी जी 'पथिक' में प्रस्तुत कर सके हैं उतना हिन्दी का दूसरा कवि नहीं कर सका इस कवि के लिए कविता वास्तव में जीवन की आलोचना है। साथ ही त्रिपाठी जी अपने युग के व्याख्याता भी हैं और भविष्टा-द्रष्टा भी। सन्' २० में ही सन्' ४७ में होने वाले स्वतंत्र भारत की कल्पना कर लेना कवि की तीव्र प्रतिभा का सूचक है। यह उसके भविष्य-द्रष्टा होने का ज्वलन्त प्रमाण है। त्रिपाठी जी के 'पथिक' में जीवन के भावार्थ और आदर्श का समन्वित रूप उपस्थित किया गया है। उनके लिए साहित्य का उद्देश्य सामंजस्य और एकता लाना है। इसलिए इस काव्य में यथार्थ और आदर्श जीवन की एकता दिखलाई गई है। जहाँ एक ओर कवि अपने देश की दुरवस्थाओं का यथार्थ चित्र देता है वहाँ दूसरी ओर वह गाँधी जी की अहिंसा-नीति से काम लेता है। इस आदर्श और यथार्थ का समन्वय उपस्थित करने की प्रेरणा कवि को महात्मा जी के कार्य-कलापों से मिली थी। इसलिए 'पथिक' को यदि हम गाँधीवाद की व्याख्या कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। गाँधी जी के दार्शनिक तथा राजनैतिक सिद्धान्तों को इस काव्य में उपस्थित किया गया है। अतः यह एक गांधीवादी काव्य-रचना है। त्रिपाठी जी को आज से बहुत पहले

ही इस बात का विश्वास हो गया था कि गाँधी जी के नेतृत्व में ही देश की गुलामी दूर हो सकेगी। अहिंसात्मक आन्दोलन ही देश के लिए कल्याणकर होगा। चरित्र-गठन, पुरुष और नारी का पारस्परिक प्रेम देश के विभिन्न सम्प्रदायों के बीच एकता और प्रजातंत्र राज्य की स्थापना—ये गाँधीजी के सपने थे। त्रिपाठी जी का 'पथिक' महात्मा जी के निराकार सपनों को साकार बनाता है। सच तो यह है कि इस काव्य-पुस्तक की रचना करने की प्रेरणा कवि को महात्मा गाँधी के असहयोग-आन्दोलन से ही मिली थी। अपने समसामयिक युग में राजनीति की धारा का प्रवाह जिस ओर हो रहा था, उन्हीं प्रवृत्तियों का समावेश 'पथिक' में हुआ है। इसने हिन्दी-भाषा-भाषी जनता पर जितना अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव डाला है उतना हिन्दी की किसी भी पुस्तक ने नहीं डाला। 'भारत-भारती' इसका अपवाद अवश्य है। वास्तव में त्रिपाठी जी का 'पथिक' और गुप्त जी की 'भारत-भारती' तथा 'जयद्रथ वध' ने जन-साधारण को जितना अधिक प्रभावित किया उतना हिन्दी की अन्य काव्य-कृतियाँ नहीं कर सकीं। इन दो पुस्तकों ने न जाने कितने देश-भक्तों को जन्म दिया, कितने राष्ट्रीय कवियों की सृष्टि की। क्रांति के कवि दिनकर ने 'पथिक' की प्रेरणा और महत्ता स्वीकार करते हुए लिखा है कि "मेरी आज की भावनाओं का मूल 'पथिक', 'भारत-भारती' की राष्ट्रीय कविताओं और असहयोग-आंदोलन में है।" जिन दिनों राष्ट्रीय कविता लिखना अक्षम्य अपराध समझा जाता था, उन शोषण और अनाचार के दिनों में 'पथिक'-जैसे काव्य की रचना करना जहाँ एक ओर त्रिपाठी जी के देश-प्रेम की तल्लीनता और वैयक्तिक साहस का परिचायक है, वहाँ दूसरी ओर उससे हिंदी में राष्ट्रीय काव्य के स्वस्थ विकास की सूचना भी मिलती है। द्विवेदी-युग में राष्ट्रीय काव्य का सृजन करने में जितना सक्रिय सहयोग गुप्त जी और त्रिपाठी जी ने दिया उतना हिन्दी का कोई भी दूसरा कवि मैदान में नहीं आया। वस्तुतः उस युग के यही दो ऐसे कवि थे जो 'राष्ट्र-कवि' कहलाने का दावा कर सकते थे। स्वतंत्रता-संग्राम की आग में कफन बाँधकर उसकी लपटों से खेलने वाले भारतीय नौजवानों को इन दो कवियों ने काफी प्रोत्साहन दिया था। 'पथिक' की महत्ता इस दृष्टि से भी बतलाई जा सकती है। यह अपने पाठकों को देश का शुभचिन्तक और उसकी आजादी के लिए अपने सर्वस्व का त्याग करने का अमर सन्देश देता है। साथ ही, इसकी राष्ट्रीयता इतनी सीमित नहीं है कि वह अपने में ही सिमटकर रह जाय। 'पथिक' की राष्ट्रीयता विश्व-प्रेम में बाधक नहीं है। इसका कवि विश्व के प्रत्येक राष्ट्र को फलता-फूलता देखना चाहता है। 'हम जीयें और दूसरों को भी जीने दें'—यही इसकी पवित्र नीति है। हम दूसरों की लाशों पर अपने राष्ट्र की इमारत खड़ी करना नहीं चाहते। 'पथिक' की राष्ट्रीयता महात्मा गाँधी के विश्व-प्रेम में बाधा उपस्थित नहीं करती। इसका आधार सच्चरित्रता, त्याग और अहिंसा की नीति है। 'पथिक' के चौखटे में जिस राजनैतिक दर्शन को फिट किया गया है वह विश्व के प्रत्येक गुलाम देश के लिए हितकर और कल्याणकर है। इस दृष्टि से यह काव्य-पुस्तक एक अमर कृति है।

'पथिक' हिन्दी-खंडकाव्य का आधुनिक संस्करण है। त्रिपाठी जी की सहज प्रवृत्ति आख्यानात्मक काव्य (Narrative Poem) लिखने में अच्छी रमती है। इस क्षेत्र में उन्हें अच्छी सफलता मिली है। 'पथिक' भी एक आख्यानात्मक काव्य है। इसके दो प्रकार होते हैं—१. महाकाव्य, २. खंडकाव्य। 'पथिक' एक आधुनिक खंडकाव्य है। खंडकाव्य में महाकाव्य का-सा तारतम्य तो रहता है लेकिन महाकाव्य की अपेक्षा उसका कार्य-क्षेत्र (Scope) सीमित रहता है। उसमें मानव-जीवन की वह अनेकरूपता नहीं रहती, जो महाकाव्य की एक खास विशेषता होती है। खंडकाव्य में कहानी अथवा एकांकी नाटक की तरह एक ही प्रधान घटना के लिए सामग्रियाँ जुटाई जाती हैं। 'साहित्य दर्पण' में खंडकाव्य की परिभाषा इस तरह दी गई है :

'खंड काव्यं भवेत्काव्यस्यैक देशानुसारि च।'

खंडकाव्य एक देश या अंश या घटना का अनुसरण करता है। साधारण शब्दों में यह कहा जायगा कि खंडकाव्य जीवन के किसी एक पहलू की झाँकी है। इस दृष्टि से कालिदास का 'मेघदूत' एक खंडकाव्य है। हिन्दी के प्राचीन और आधुनिक साहित्य में बहुत-से खंडकाव्य लिखे गए हैं। तुलसीदास के 'जानकी मंगल" 'पार्वती मंगल', 'नहछू'; जटमल की 'गोरा-बादल की कथा,' नरोत्तमदास का 'सुदामा-चरित' प्राचीन हिन्दी-खंडकाव्य के उदाहरण हैं। आधुनिक हिन्दी-काव्य में गुप्त जी का 'अनघ', 'जयद्रथ वध', 'नहुष'; त्रिपाठी जी के तीन खंडकाव्य 'पथिक', 'मिलन', 'स्वप्न' और सियारामशरण गुप्त के 'मौर्य-विजय' तथा 'उन्मुक्त' इत्यादि खंडकाव्य विशेष उल्लेखनीय हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में खंडकाव्य की अच्छी प्रगति हुई है।

आधुनिक खंडकाव्याकारों में श्री मैथिलीशरण गुप्त और त्रिपाठी जी को सबसे अधिक ख्याति मिली है। 'पथिक' रामनरेश त्रिपाठी जी का एक सफल खंडकाव्य है। लेकिन उसकी रूप-रचना और शैली प्राचीन खंडकाव्य की अपेक्षा अधिक मौलिक और नूतन है। मैं कह चुका हूँ कि प्राचीन खंडकाव्य और त्रिपाठी जी के खंडकाव्य में समय के अनुसार बहुत बड़ा अन्तर पड़ गया है। प्राचीन साहित्य-शास्त्र में खंडकाव्य के जिन नियमों का उल्लेख किया गया है, वे उसके कायल नहीं हैं। उन्होंनें अपनी ओर से कुछ मौलिक उद्‌भावनाएँ भी की हैं। उदाहरण के लिए, 'पथिक' का कथानक लिया जा सकता है। प्राचीन साहित्य-शास्त्र में बताया गया है कि खंडकाव्य की कथा या तो ऐतिहासिक हो सकती है या पौराणिक। जनश्रुति के आधार पर भी कथा की रचना की जा सकती है। त्रिपाठी जी ने इस नियम की उपेक्षा कर दी है। 'पथिक' का कथानक न तो प्राचीन इतिहास के पृष्ठों से लिया गया है और न वह किसी पौराणिक कथा से संबन्धित है। इसकी कथा जनश्रुति पर भी आधारित नहीं है। वस्तुतः इस काव्य-पुस्तक का कथानक कवि के युग की एक राजनैतिक यथार्थ घटना है, जिसका वह स्वयं एक अभिन्न अंग है। समसामयिक युग की लहर अथवा हलचल

को सामने रखकर किसी भी प्राचीन कवि ने खंडकाव्य की रचना नहीं की थी। आधुनिक युग के सभी खंडकाव्यकार—गुप्त जी, सियारामशरण आदि—भी अतीत के खंडहरों में ही आहें भरते रहे। इस क्षेत्र में त्रिपाठी जी अद्वितीय हैं। दूसरी बात यह है कि प्राचीन खंडकाव्यों के चरित्र या तो ऐतिहासिक होते थे, राजा, राजकुमार, मंत्री आदि होते थे या किसी पुराण के धार्मिक पुरुष। त्रिपाठी जी के पात्र या चरित्र आधुनिक देश-काल तथा समाज के हैं, देश की आजादी की लड़ाई में भाग लेने वाले हाड़-मांस के साधारण मनुष्य हैं, जो हमारे ही देश-काल के घेरे में रहते आए हैं। अस्वाभाविक अथवा अति-मानवीय कल्पित चरित्रों की कल्पना नहीं की गई है। सामूहिक रूप से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी के प्राचीन और आधुनिक साहित्य में 'पथिक' ही एक ऐसी काव्य-पुस्तक है जिसमें समस्त देश की आजादी के लिए सामूहिक प्रयत्न किया गया। प्राचीन साहित्य में एक भी ऐसा खंड-काव्य नहीं मिलता जिसका विषय अथवा लक्ष्य देश को स्वतंत्र करना रहा हो। प्राचीन साहित्य-शास्त्र में खंडकाव्य के कथानक के लिए यह भी दृढ़ नियम बना दिया गया था कि उसमें केवल तीन ही रसों—शृङ्गार, वीर और शान्त—का समावेश किया जाना चाहिए। वस्तुतः प्राचीन खंडकाव्य इन्हीं तीन रसों से बँधे हुए हैं। लेकिन स्वच्छन्दतावादी त्रिपाठी जी ने अपने खंडकाव्य के लिए नई कथाओं, नई रचना-शैली तथा नये विधान की उद्भावना की है, जो सर्वथा अद्वितीय और मौलिक है। प्राचीन खंडकाव्य में कथा का आरंभ करने के पहले किसी देवी-देवता की स्तुति की जाती थी लेकिन त्रिपाठी जी के खंड-काव्यों में इनकी कोई भी आवश्यकता नहीं समझी गई है। 'पथिक' आधुनिक खंडकाव्य की सर्वथा की मौलिक रचना है, जिसके एक-मात्र उद्भावक और प्रेरक त्रिपाठी जी हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त के व्यक्तित्व पर वैष्णव-धर्म के संस्कार का अधिक बोझ होने के कारण वे अपने खंडकाव्यों को प्राचीनता के बंधन से मुक्त न कर सके; लेकिन आरम्भ से ही स्वच्छन्द प्रकृति के होने के कारण त्रिपाठी जी के साहित्य में उनकी स्वच्छन्दवादिता स्थान-स्थान पर देखने को मिल जाती है। उनके कथानक में नाटकीय तत्त्वों का समावेश आधुनिक खंडकाव्य की ऐसी विशेषता है जो प्राचीन खंडकाव्य में बिलकुल नहीं पाई जाती। हिन्दी-साहित्य में त्रिपाठी जी नूतन कला के उद्भावक भी हैं। यह सब-कुछ होते हुए भी उन्होंने प्राचीन खंडकाव्य में प्रकृति-वर्णन करने की पुरानी प्राणाली को स्वीकार किया है। प्राचीन खंडकाव्य या महाकाव्य में प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में प्रकृति का वर्णन करना आवश्यक समझा जाता था। त्रिपाठी जी ने इस पुरातन नियम की रक्षा की है। इसीलिए 'पथिक' के प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में प्रकृति-वर्णन किया गया है। वास्तव में यदि यह कहा जाय कि इस पुस्तक की रचना-शैली महा-काव्य की रचना-शैली के बहुत निकट है तो कोई अत्युक्ति न होगी। अतः मैथ्यू आर्नल्ड के प्रसिद्ध खंडकाव्य (Sohrab and Rustam) की

तरह ही यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि 'पथिक' वस्तुतः खंडकाव्य या महाकाव्य है। इसकी कथा चुस्त, संक्षिप्त और संगठित है। यही एक ऐसी बात है, जो इसे खंडकाव्य की श्रेणी में डाल देता है। यह चाहे खंडकाव्य हो या महाकाव्य इससे हमारा कोई विवाद नहीं है लेकिन इतना तो स्वीकार करना पड़ता है कि 'पथिक' में एक संगठित तथा चुस्त कथानक की सफल नियोजना हुई है। दूसरे सर्ग को छोड़कर, जिसमें कथा का प्रवाह—मुनि के अत्यधिक उपदेश के कारण—बहुत अधिक शिथिल पड़ गया है, इसकी कथा-धारा में कहीं भी अवरोध—उपस्थित नहीं हुआ है। इसकी कथा संक्षिप्त, संगठित, आकर्षक, चुस्त और प्रवाहपूर्ण है।

त्रिपाठी जी प्रकृति देवी के अनन्य पुजारी हैं। 'पथिक'-मंदिर में उन्होंने इस देवी की घोर उपासना की है। जिस तरह त्रिपाठी जी जहाँ कहीं भी हों अपने सारे देश को भूल नहीं पाते, उसी तरह ये अपनी आराध्य देवी 'प्रकृति' को एक क्षण के लिए भी भूलते नहीं। कवि का प्रकृति-प्रेम इन पंक्तियों में हिलोरें मार रहा है :

> रेणु स्वर्ण-कण-सदृश देखकर तट पर ललचाती हैं।
> बड़ी दूर से चलकर लहरें मौज-भरी आती हैं।।
> चूम-चूम निज देश चरण वह नाच-नाच गाती हैं।
> यह शोभा ! यह हर्ष ! कहाँ आँखें जग में पाती हैं।।[1]

पथिक की तरह कवि भी प्रकृति की असाधारण सुषमा पर आसक्त है। उसके रूप-सौन्दर्य में तन्मय है। प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति त्रिपाठी जी की तन्मयता महाकवि पन्त से घटकर नहीं है। दोनों ने प्रकृति-देवी की अर्चना में अपनी अनुभूति के फूल चढ़ाये हैं। त्रिपाठीजी के समस्त खण्ड-काव्यों में प्राकृतिक सुषमा-सौन्दर्य का यथार्थ और उन्मुक्त रूप, अपनी स्वाभाविकता में, प्रकट हुआ है। 'पथिक' काव्य की प्रमुख विशेषताओं में कवि का प्रकृति-प्रेम इतना व्यापक हो उठा है कि वह उसकी पंक्ति-पंक्ति में व्यक्त हुआ है। प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में प्रकृति का व्यक्त सौन्दर्य देखने को मिलता है। प्रकृति की मधुरिमा पथिक के प्रत्येक सर्ग की पंक्तियों में, पारे की तरह ढुलमुल करती हुई, विकीर्ण हुई है। यदि इस पुस्तक से इसे निकाल दें तो संभवतः इसकी चेतना छिन्न-भिन्न हो जायगी।

जिस तरह 'पथिक' का कथानक सरल, संक्षिप्त और संगठित है, उसी तरह इसके पात्रों की संख्या भी कम और सन्तोषजनक है। इसके तीन-चार ही चरित्र मुख्य हैं—पथिक, पथिक-पत्नी, राजा और मुनि। लेकिन इन चरित्रों के साथ विचित्रता यह है कि इनके निश्चित नामों का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। ये सभी एक-एक वर्ग के प्रतिनिधि हैं। राजा का एक वर्ग है, मुनि का भी एक वर्ग है। इस तरह की विचित्रता कम ही पुस्तकों में देखने को मिलती है। 'पथिक' काव्य में न तो नायक पथिक का नामोल्लेख हुआ है और नायिका 'पथिक-पत्नी'

---
१. 'पथिक', सर्ग १।५४

का ही। इसी तरह राजा और मुनि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। अतः 'पथिक' एक ऐसी काव्य-पुस्तक है जिसके पात्रों का नामोल्लेख नहीं हुआ है। यह एक अद्भुत बात है, जो विचारणीय है। बात यह है कि 'पथिक' में भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम की कहानी कही गई है। यह संग्राम किसी एक व्यक्ति-विशेष की देन नहीं था। यह जन-आन्दोलन था, जिसमें भारत के लाखों स्त्री-पुरुषों ने एक होकर भाग लिया था। ऐसी हालत में त्रिपाठी जी पात्रों का नामोल्लेख कैसे कर सकते थे। सच तो यह है कि इस पुस्तक में जितने पात्र आये हैं वे वर्ग-चरित्र हैं, जिनका प्रयोग प्रतीकात्मक दृष्टि से किया गया है। पथिक देश के उन नौजवानों का प्रतीक है जो कभी देश के प्रति उदासीन रहते थे और बाद में चलकर देश की आजादी की लड़ाई में खेत रहे, मुनि महात्मा गांधी का प्रतीक हैं, जिन्होंने देश के लाखों नर-नारियों को आजादी का महामंत्र दिया, राजा ब्रिटिश सरकार का प्रतीक है, जो हमारे देश की छाती पर चढ़कर राज-शासन करती रही और पथिक-पत्नी भारत की उन नारियों की प्रतीक है जो वैवाहिक जीवन का कौटुम्बिक सुख भोगने के लिए सदैव तत्पर रहती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि त्रिपाठीजी की नारी कुटुम्ब की चहारदीवारों को तोड़कर लड़ाई के मैदान में पुरुषों के साथ मिलकर, संघर्ष में, जूझने वाली भी है और देश की खातिर अपने पति-पुत्र का बलिदान करने वाली भी। त्रिपाठी जी की नारी-भावना महात्मा गांधी की प्रेरणा की देन है।

'पथिक' की रचना द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के संक्रान्ति-काल में हुई थी। इसलिए इसकी भाषा-शैली और काव्य-कला पर दो युगों की कला का प्रभाव पड़ा है। मैं कह आया हूँ कि त्रिपाठीजी द्विवेदी-मंडल से बाहर के कवि थे और आरम्भ से ही ये स्वच्छन्दतावादी थे। इसलिए इनकी काव्य-कला तथा भाषा-शैली पर भी इनकी स्वच्छन्द प्रकृति की छाप पड़ी है। द्विवेदीजी की उपदेशात्मकता और कवि की स्वतन्त्र भावाभिव्यंजना का समन्वित रूप 'पथिक' में पाया जाता है। दूसरे सर्ग में मुनि के उपदेशों की भरमार होने के कारण उसकी पंक्तियाँ नीरस, निर्जीव और माधुर्यहीन हो गई हैं। इस पुस्तक में बहुत-से ऐसे स्थल हैं जिनमें कवि ने अपनी स्वतन्त्र अभिव्यंजना-शक्ति को मुखरित होने दिया है। निम्नलिखित पंक्तियों में नूतन भावों की व्यंजना देखी जा सकती है :

मिलन अन्त है मधुर प्रेम का, और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जाग्रत गति है, और सुषुप्ति मिलन है॥

इन पंक्तियों में छायावादी कविता-शैली का आभास मिलता है जिसमें लाक्षणिकता की बहार, भाव की तीव्रता तथा भाषा की सरलता और तरलता है। हिन्दी-कविता के उस युग में जब कि उपदेशात्मक कविता का ढेर लगने लगा था, इस तरह (उपयुक्त पंक्तियाँ) की कविता लिखा जाना एक आकस्मिक घटना है। जिस वर्ष (सन् २०) 'पथिक' की रचना हुई थी उस समय द्विवेदी-युग अपनी मृत्यु-शैया पर लेटा अपने अंतिम दिन गिन रहा था और छायावाद का शिशु जन्म लेकर

कविता के पालने में झूलने लगा था। त्रिपाठीजी ने उसको बड़े प्रेम और स्नेह से दुलराया और हलराया था। इसीलिए उनकी कविता में, छायावाद की तुतलाहट और उसके छींटे, जहाँ-तहाँ पड़ गए हैं। सामूहिक रूप से त्रिपाठी जी भी द्विवेदी-युग की काव्य-कला के प्रहार-प्रभाव से बच नहीं सके हैं। इसीलिए उनको साहित्य में, विशेषकर कविता में उसका स्पष्ट स्वर सुनाई पड़ता है। चौथे सर्ग में पथिक-प्रिया का विरह-निवेदन जिस रूप में हुआ है उस पर प्राचीन काव्य-कला का ही अधिक प्रभाव पड़ा है। विरह की इन अन्तर्दशाओं को ध्यान में रखकर उसमें विरह-वर्णन की नियोजना की गई है। उक्ति-चमत्कार का आश्रय लेकर कवि कहता है :

काग ! साध अब पूरी कर लो चुन-चुन इस तन को।
देना छोड़ दया करके प्रिय-दर्शन-तीव्र नयन को॥

इन पंक्तियों पर भारतेन्दुजी तथा रीतिकालीन कविता का सीधा प्रभाव पड़ा है। विरह-वर्णन के लिए कवि ने प्राचीन कवियों की रचनाओं की शरण ली है।

प्राचीन काव्य-शास्त्र के अनुसार यदि 'पथिक' में आये हुए रसों की विवेचना की जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि इसका प्रधान रस 'वीर' है। 'वीर रस' का स्थायी भाव 'उत्साह' होता है। यहाँ वीर पुरुष पथिक है जो कर्मवीर है और देश-प्रेम की भावना से उत्साहित होकर देश के अग्नि-कुण्ड में कूदकर अपने आदर्श की रक्षा करता है। पुस्तक का आरम्भ 'शान्त-रस' में हुआ है। पथिक की वैराग्य-भावना-धारा प्रथम सर्ग में प्रवाहित हुई है। फिर आगे चलकर उसका वीर-भाव जाग पड़ता है लेकिन अन्त में उसकी हत्या हो जाने पर 'करुण रस' का संचार हो जाता है। इसलिए यह पुस्तक दुःखान्त है। अतः प्राचीन काव्य-शास्त्र की रस-पद्धति के आधार पर 'पथिक' का रस-विवेचन नहीं किया जा सकता। आधुनिक साहित्य में रस की निष्पत्ति कराना कवियों का उद्देश्य नहीं होता बल्कि उनका ध्येय विषय का उद्घाटन और निर्वाह करना होता है। फिर भी, 'पथिक' को दुःखान्त काव्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पथिक की मृत्यु के बाद देश की जनता अत्याचारी राजा को देश से निकाल देने में सफल होती है। इस तरह पथिक का पवित्र उद्देश्य—देश को आजाद करना—सिद्ध होता है। इसमें वियोग शृङ्गार का वर्णन उतना अच्छा नहीं हुआ है जितना वात्सल्य-रस का। पथिक के पुत्र को सामने लाकर करुणाजनक परिस्थिति उत्पन्न करने में कवि को आशातीत सफलता मिली है। चौथे सर्ग में पथिक-प्रिया के शव के पास पहुँचकर उसके प्रिय पुत्र द्वारा यह कहना कि 'माँ, उठो भूख लगी है, एक मार्मिक और करुण परिस्थिति पैदा करता है।'

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'पथिक' भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से एक असाधारण कृति है; जो त्रिपाठीजी की समस्त रचनाओं में, निस्संदेह, एक उत्कृष्ट रचना है। इसकी भाषा में स्वच्छता, प्रवाह और सरलता है लेकिन

कहीं-कहीं लम्बे-लम्बे सामयिक पदों का प्रयोग भाषा को क्लिष्ट बना देता है। उदाहरण के लिए इन पदों को लिया जा सकता है—'प्रियतम-मन-मोहन-कला-प्रवीणा', 'पारिजात-शाखा च्युत-पथिक-सुमन' आदि। साधारणतः 'पथिक' की भाषा साफ, सुथरी, सरल और प्रवाहपूर्ण है जो जन-भाषा के बहुत निकट है। भाषा के प्रयोग में भी त्रिपाटी जी ने गाँधीजी की भाषा-नीति को यथासंभव स्वीकार किया है। अतः 'पथिक' गांधीवाद की एक असाधारण काव्य-कृति है, जिसमें गांधी जी के सभी सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है।

: ३ :

प्रिय-प्रवास

आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी-कविता का प्रथम महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' कृष्ण-काव्य-परम्परा का आधुनिक संस्करण है। इसमें कवि ने कृष्ण-चरित को सर्वथा नये रूपों में उपस्थित किया है। कृष्ण और राधा के नाम पर मध्य-युग में जितनी वासना-जनित प्रेम-लीलाएँ दिखलाई गईं उनका यहाँ परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया गया है। 'प्रिय-प्रवास' की रचना के पहले बंगला में माइकेल मधुसूदन दत्त का प्रसिद्ध महाकाव्य 'मेघनाद वध' लिखा जा चुका था। यह संस्कृत-गर्भित बंगला के छन्दों में लिखा गया है। संभवतः इसी ग्रन्थ को आदर्श मानकर 'हरिऔध' जी ने 'प्रिय-प्रवास' की रचना की हो। जो कुछ भी हो, लेकिन यह एक सर्वथा मौलिक ग्रन्थ है, जिसमें महाकवि हरिऔधजी ने बहुत तरह की मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। 'प्रिय-प्रवास' की लम्बी भूमिका ग्रंथ-रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करती हुई यह बताती है कि कवि ने इसके द्वारा हिन्दी-कविता में चले आते हुए अभावों को भरसक दूर करने की चेष्टा की है।

किसी भी ग्रन्थ की मौलिकता नई-नई उद्भावनाओं में नहीं, वरन् विषय की पैठ और गहराई में होती है। साहित्य में मौलिकता का अर्थ नवीनता नहीं, विकास है। 'प्रिय-प्रवास' ने राधा-कृष्ण के अध्ययन में एक नया अध्याय जोड़ा है, जो पिछली पीढ़ियों के कवियों से निस्संदेह कई कदम आगे है। यहाँ कवि ने राधा-कृष्ण-सम्बन्धी अपने पुराने दृष्टिकोण बदल दिये हैं और उन्हें युग के अनुकूल नारी और पुरुष के आदर्श-रूप दिये हैं। इस प्रकार हरिऔधजी ने कृष्ण-चरित के महान् व्यापक और उच्च व्यक्तित्व को उपस्थित करके एक ओर युग को आदर्श महा-पुरुष दिया है और दूसरी ओर मध्य-युग के राधा-कृष्ण को अन्धकार से निकालकर उनका 'परिष्कृत रूप' उपस्थित किया है। हिन्दी-कवियों में हरिऔधजी ही प्रथम कवि हैं जिनका ध्यान पहली बार इस ओर गया है। अतः हिन्दी-कविता में 'प्रिय-प्रवास' का ऐतिहासिक महत्त्व भी कम नहीं।

रीति-काल में राधा-कृष्ण साधारण कोटि के नायक-नायिका के प्रतीक बन गए थे। हरिऔध के ब्रजभाषा में लिखे पदों में उनका परम्परागत स्वरूप ही देखने में आता है। लेकिन 'प्रिय-प्रवास' की भूमिका में कवि ने स्वयं लिखा "मैंने श्रीकृष्ण-चन्द्र को इस ग्रन्थ में एक महापुरुष की भाँति अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं···

जो महापुरुष है, उसका अवतरित होना निश्चित है। आधुनिक विचारों के लोगों को यह प्रिय नहीं कि आप पंक्ति-पंक्ति में तो भगवान् श्रीकृष्ण को ब्रह्म लिखते चलें और चरित्र लिखते समय उन्हें ऐसे कार्यों का कर्त्ता बनावें कि जिनके करने में एक साधारण विचार के मनुष्य को भी घृणा होवे।" इस दृष्टि से 'प्रिय प्रवास' में कृष्ण के जीवन को इस प्रकार अंकित किया गया है कि आधुनिक बुद्धिजीवी भी सहमत हो सकें। अतः 'प्रिय-प्रवास' के कृष्ण मानवता के प्रतीक हैं, जैसे गाँधीजी थे। इस ग्रन्थ की कृष्ण-भावना के पृष्ठाधार में महात्मा गांधी के दर्शन किये जा सकते हैं। इस ओर निश्चय ही कवि के सामने 'गीता' के योगिराज कृष्ण और महात्मा गाँधी के आदर्श चरित्र रहे होंगे। मानव-धर्म के स्वच्छन्द विकास के लिए यहाँ के कृष्ण शत्रुओं को न 'विदारते' हैं, न 'निपातते' हैं, वरन् क्षमा प्रदान करते हैं। इस भावना पर निःसंदेह गाँधीजी की छाप है। अब तक के कृष्ण आकाशवासी थे, जो धरती पर उतरते थे; किन्तु 'प्रिय-प्रवास' के कृष्ण धरती के वासी हैं और अपने बल और बुद्धि के कारण आकाश की ऊँचाई को स्पर्श करते हैं। यहां के कृष्ण कोई अलौकिक देवता नहीं। इनमें देवत्व के सभी गुण वर्तमान हैं; लेकिन वे वैसे नहीं जो मानवोचित न हों, असंभव हों। वे महान् आत्मा, देश-भक्त, जन-हितैषी और मानवता के पुजारी हैं। उनका व्यक्तित्व इतना आकर्षक है कि कोई भी अछूता नहीं रह सकता। अतएव, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि हरिऔधजी के कृष्ण आधुनिक बुद्धिवादी प्रवृत्तियों के अनुकूल हैं। यह युग-धर्म का सीधा प्रभाव है, 'प्रिय-प्रवास' पर। गांधीवाद की अहिंसा, देश-सेवा, जन-सेवा, समाज-सेवा और मानवता के शुभ-चिन्तन आदि का प्रत्यक्ष प्रभाव इस ग्रन्थ पर स्पष्टतः देखा जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण के इस व्यापक स्वरूप की ओर अब तक किसी भी प्राचीन या आधुनिक कवि का ध्यान नहीं गया था। इस दिशा में हरिऔधजी ने जो काम किया है इसे भुलाया नहीं जा सकता।

'प्रिय प्रवास' की सबसे मौलिक सृष्टि 'राधा' है। प्राचीन हिन्दी कविता की रानी राधा मांसल-विलास, विषय-वासना और कोमलता की प्रतिमा थी, जिसका अपना कोई व्यक्तित्व न था, बल्कि कवियों की अनियंत्रित कल्पना और भावना द्वारा परिचालित थी। अतः हरिऔधजी की राधा न तो काव्य की उपेक्षिता है और न पुराने कवियों की कठपुतली, वरन् युग की 'उपेक्षिता नारी' है। उसका अपना व्यक्तित्व, अपना दृष्टिकोण और अपना आदर्श है। प्राचीन काव्य की राधा अन्ततः विरहिणी ही बनी रही, किसी ने उसके आँसुओं को पोंछने की चेष्टा तक नहीं की और फलतः वह जीवन-भर रोती रही। किन्तु 'प्रिय-प्रवास' ने श्रीकृष्ण के महिम व्यक्तित्व के अनुकूल राधा के चरित्र की भी नई सृष्टि की, जो जीवन की नीति और आदर्श-मार्ग पर चलने वाली समाज और देश की सेविका है, जिसने अपने 'व्यष्टि' को 'समष्टि' में अन्तर्हित कर दिया है। यह राधा भारतीय नारी की समस्त विभूतियों और अनुभूतियों को आत्मसात् करके 'प्रवास' के रंगमंच पर उपस्थित हुई है। निस्संदेह, यह गांधीजी की आदर्श नारी की कल्पना

से भी बहुत मिलती-जुलती है। इसमें नैतिक चेतना, तार्किक विश्वास और जागरूक बौद्धिकता का अभाव नहीं। वह सही अर्थ में यहाँ श्रीकृष्ण की 'चिरसंगिनि' होने का अधिकार पा सकी है।

जिन दुष्प्रवृत्तियों और मानसिक दुर्बलताओं को लेकर प्राचीन कवियों ने राधा को अपनी कल्पना का 'विलास' बनाया उसे हरिऔध ने अपने आदर्श की फूँक देकर, शुद्ध और पवित्र करके एक ऐसी आदर्श नारी-भेंट की है जिससे बाद में चलकर 'उर्मिला' और 'यशोधरा'-जैसी काव्य की आदर्श रमणियों का सृजन हुआ। कवि ने यहाँ राधा पर सीता की तरह सामाजिक उत्तरदायित्व का बोझ लादा है और उसे सीता की गौरव-गरिमा के अनुकूल बनाने की पूरी कोशिश की है। वह केवल नवनीत-सी कोमल, प्रेम की प्रतिभा नहीं, शील, संयम और आदर्श की देवी है। यहाँ राधा न तो जयदेव की राधा की तरह प्रगल्भा है, न चंडीदास की राधा की तरह परकीया; और न सूरदास की राधा की तरह परिणीता। हरिऔध जी ने राधा को 'चिर कुमारी' और 'रमणि-वृन्द शिरोमणि' कहा है। वह क्रीड़ा-कला की पुतली नहीं, हाव-भाव में निपुण नहीं, कटाक्ष की कटारी नहीं चलाती, वरन् हृदय में उदार और पवित्र भाव रखकर समाज और देश की सेवा में जुटी है। राधा का यह व्यापक रूप भारतीय साहित्य के लिए सर्वथा नवीन और अभिनन्दनीय है। प्राचीन राधा अपूर्ण थी, लेकिन यहाँ उसे 'पूर्ण नारीत्व' का गौरव दिया गया है। वह कृष्ण-प्रवास के बाद न तो साधारण स्त्रियों की तरह 'हाय-हाय' करती है और न सबके सामने अपने हृदय के काँटे खोलकर रखती है और न कभी विचार-विवेक-शून्य या क्रियाहीन होती है। वह सुसंस्कृत नारी है। वह विवेकिनी अधिक है। श्रृङ्गार को उसने शांत, शील और संयम में बदल दिया है। वियोगावस्था में यह पूर्व-कवियों की राधा की तरह रोती-धोती नहीं, उलाहने नहीं देती, वरन् शांत और 'प्रफुल्लवदना' बनी रहती है। विवेक और संयम पर उसकी आस्था है, और है 'सकल शास्त्र-निष्णात विदुषी रमणी।' वह आधुनिक विचारों की पोषिका और रुढ़ि-मुक्त समाज की सेविका है। विरह की घड़ियों में वह न तो पंछी या पवन बनकर अपने प्रिय तक पहुँचने की कामना करती है और न कृष्ण के मांसल प्रेम में समष्टि को भुला देना चाहती है। भारतीय साहित्य में राधा का यह 'महिम रूप' पहली बार हमारे सामने आया है। अतएव, 'प्रिय-प्रवास' की मौलिकता न केवल श्रीकृष्ण की नवीन सृष्टि में है, वरन् राधा के आदर्श-रूप की सुयोजना में भी।

'प्रिय-प्रवास' की रचना में कवि के कई उद्देश्य रहे हैं, किन्तु प्रेम की जो यहाँ नवीन मीमांसा की गई है वह प्राचीन कृष्ण-कवियों को चुनौती देती है। प्रेम की व्यापक व्याख्या करते हुए कवि ने प्रणय और मोह का जो भेद बतलाया है वह हमारी आज की सामाजिक माँग की पूर्ति में सहायक है। 'रूपासक्ति' से प्रेरित प्रेम चंचल, क्षणभंगुर और अप्राकृतिक है। पर गुणों पर आश्रित प्रेम अधिक स्थायी होता है। हरिऔध जी ने यहाँ यही बतलाया है। व्यक्तिगत प्रेम पर मिटने

वाले दीवानों का समय अब नहीं रहा, अब तो समाज के व्यक्तित्व में अपने सर्वस्व का होम करने में हीं हमारा कल्याण है। इसी धारणा को ध्यान में रखकर 'प्रिय-प्रवास' में प्रेम का 'समाजीकरण' हुआ है। यह भी हमारे युग के अनुकूल है। 'प्रिय-प्रवास' का भाव-पक्ष जितना स्पष्ट और स्वस्थ है, उसका कला-पक्ष उतना ही विवाद-ग्रस्त है। इस ग्रन्थ की दो समस्याएँ आज भी विवाद और तर्क का विषय बनी हुई हैं। प्रथम इसका महाकाव्यत्व, और द्वितीय भाव-शैली।

'प्रिय-प्रवास' की रचना के पीछे कवि का उद्देश्य हिन्दी-साहित्य को खड़ी बोली में महाकाव्य भेंट करना था, क्योंकि इसके पहले खड़ी बोली में एक भी महाकाव्य नहीं लिखा गया था। हाँ, 'जयद्रथ वध' खंडकाव्य का प्रकाशन अवश्य हो चुका था। हरिऔध जी को एक ऐसे काव्य-ग्रन्थ की आवश्यकता जान पड़ी जो महाकाव्य की शैली में लिखा हो और भिन्न तुकान्त कविता में रचा गया हो। अतः उन्होंने 'प्रिय-प्रवास' की रचना सत्रह सर्गों में की। संभवतः कवि को यह प्रेरणा माइकेल मधुसूदन के महाकाव्य 'मेघनाद वध' से मिली हो। हिन्दी के आलोचकों ने अपने-अपने ढंग से 'प्रिय-प्रवास' के महाकाव्यत्व पर विचार किया है। कोई इसे महाकाव्य का पद देता है, कोई नहीं देता। यहाँ यह याद रखने की बात है कि केवल महाकाव्य के सभी लक्षणों को घटा देने से ही कोई ग्रन्थ महाकाव्य नहीं हो जाता। कविता कोई गणित का फामूला नहीं जो बँधे हुए नियमों पर चले। उसकी अपनी दृष्टि और गति होती है। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में महाकाव्य के जो लक्षण दिये गए हैं, वे काव्य-कलेवर के बाह्य परिधान हैं, उसकी अन्तरात्मा से उनका सम्बन्ध क्षीण है। महाकाव्य के लिए यह आवश्यक है कि वह राष्ट्रीय चेतना, धर्म, विश्वास और इतिहास को अपने में समेटकर चले और उनका प्रतिनिधित्व करे। हर देश का महाकाव्य उस देश का सांस्कृतिक इतिहास होता है। इस दृष्टि से 'प्रिय-प्रवास' भी एक सफल महाकाव्य है; क्योंकि कवि ने यहाँ भारतीय संस्कृति के स्वरूपों को स्पष्ट किया है। राधा और कृष्ण हमारे जन-जीवन में इस तरह घुल-मिल गए हैं कि उन्हें भुलाना आसान नहीं। इसके अतिरिक्त उनका आदर्श ही भारतीय आदर्श बनता आया है। अतः 'प्रिय-प्रवास' को 'महाकाव्य' की परिधि में रखना ही उचित जान पड़ता है। दूसरी बात यह है कि महाकाव्य के लिए सार्वभौम विचार-राशि का होना भी आवश्यक है। यह किसी भी देश का सांस्कृतिक इतिहास तो है ही, साथ ही उसके संदेशों पर विश्व का समान अधिकार होता है। दाँते, वर्जिल, वाल्मीकि आदि जिन महाकवियों ने महाकाव्य लिखे उसकी उच्चतम भाव-भूमि पर मानवत्व की विजय दिखलाई गई है। 'प्रिय-प्रवास' में भी विश्वजनीन संदेशों का अभाव नहीं। यहाँ के कृष्ण केवल आर्य-संस्कृति के ही रक्षक नहीं, समस्त मानवता के प्रहरी हैं। महाकाव्य सीमा में बँधकर भी निस्सीम है। इसमें जीवन को बड़ी व्यापक भाव-भूमि पर रखकर देखा जाता है। 'प्रिय-प्रवास' में केवल समाज-सुधार का ही प्रयत्न नहीं, विश्व-शांति की स्थापना में भी उसका योग है। उस दृष्टि से विचार करने पर इस ग्रन्थ को निश्चय ही महाकाव्य कहा जायगा।

रह गई 'प्रिय-प्रवास' की भाषा-शैली की समस्या। कहा जाता है कि इसकी भाषा संस्कृत के प्रशस्त राज-मार्ग से होकर चली है, खड़ी बोली में ग्रन्थ न लिखा जाकर संस्कृत की क्लिष्ट भाषा में लिखा गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह आक्षेप उचित और सत्य है। लेकिन आक्षेप लगाने के पूर्व यह स्मरण रखना चाहिए कि 'प्रिय-प्रवास' की रचना उस समय हुई थी जबकि स्वयं हिन्दी की खड़ी बोली-कविता खड़ा होना सीख रही है। यह खड़ी बोली का प्रयोग-काल था। 'प्रवास' के रचना-काल में हिन्दी के कवि कवित्त और सवैया लिखने में ही अधिक रस लेते थे, यद्यपि कविता को दूसरी ओर बदलने की आवाज भी किसी कोने से कभी-कभी आ जाती थी। इसी आवाज को हरिऔध जी ने 'प्रिय-प्रवास' में मुखर किया है। वे क्षमताशील कवि थे। उर्दू, संस्कृत और ब्रजभाषा पर उनका जबर्दस्त अधिकार था। भाषा के साथ उलझना और देशी-विदेशी शब्दों को कविता की उँगलियों पर नचाना वे अच्छी तरह जानते थे। उनका शब्द-भंडार अद्भुत था। 'प्रिय-प्रवास' की भाषा और 'चुभते-चौपदे' की भाषा इस बात की साक्षी है कि हरिऔध जी शब्द-योजना और भाषा-योजना के बहुत बड़े जादूगर थे। वे जीवन-भर अपनी कविता के साथ भाषा का प्रयोग ही करते रहे। मैं तो उन्हें हिन्दी का प्रथम प्रयोगशील कवि मानता हूँ, लेकिन उस अर्थ में नहीं, जैसे आज के प्रयोगवादी माने जाते हैं। उनका 'प्रयोग' प्रयोग के लिए नहीं, परिवर्तन के लिए था। वे हिन्दी-कविता को नई दिशा की ओर मोड़ ले जाना चाहते थे। इसी प्रयत्न उन्होंने 'प्रिय-प्रवास' लिखा और 'चुभते-चौपदे' लिखे; लेकिन कहीं भी वे अपनी भाषा-शैली को स्थायित्व न दे सके, क्योंकि वे अन्तिम निश्चय पर नहीं पहुँच सके थे। इसलिए 'प्रिय-प्रवास' की संस्कृत-बोझिल और क्लिष्ट भाषा-शैली पर आक्षेप करने के पहले इस तथ्य को समझ लेना ठीक होगा कि कवि का उद्देश्य कविता को नई भाषा के चौखटे में फिट करना था। अतः 'प्रिय-प्रवास' की भाषा-शैली को मैं 'एक विराट् प्रयोग' कहता हूँ। सच तो यह है कि हरिऔध जी की कोई निश्चित शैली बन नहीं पाई थी, क्योंकि उनके सारे प्रयत्न 'प्रयोगों' में ही लगे रहे। खड़ी बोली-कविता की भाषा का आगामी या राष्ट्रीय रूप क्या होगा, इस विषय पर वे अन्तिम निर्णय नहीं दे पाए। भाव या कला, दोनों दृष्टियों से हरिऔध जी प्रयोगशील कवि थे। उनकी समस्त काव्य-रचनाओं म नये भावों का प्रयोग, शैली का प्रयोग, आदर्शों का प्रयोग और भाषा का प्रयोग हुआ है। इस प्रयोग के लिए हरिऔध जी नहीं, समय जिम्मेवार है। स्वयं द्विवेदी-युग आधुनिक हिन्दी-कविता का बहुत बड़ा प्रयोग-काल था। यहाँ प्रयोग को परिवर्तन का पर्याय मानना चाहिए, किसी वाद विशेष के अर्थ में नहीं। अतएव, 'प्रिय-प्रवास' की भाषा-शैली अगर क्लिष्ट है तो इसके लिए हरिऔध को दोष देना उचित नहीं। निस्सन्देह 'प्रिय-प्रवास' अपने युग की एक अद्भुत सृष्टि है।

: ४ :

साकेत

'साकेत' राम-काव्य की परंपरा का एक मूल्यवान् ग्रंथ है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में " 'साकेत' का राम-काव्य में स्थान निर्धारित करने के लिए उसको पहले तुलसी-काव्य के साथ देखना चाहिए। तुलसी भक्त थे, साधक थे, अतः उनका मानस धार्मिक भक्ति-काव्य है। पर 'साकेत' जीवन-काव्य है। इसमें जीवन में धर्म को ढूँढ निकालने की चेष्टा है। साकेतकार के धार्मिक सिद्धान्तों के निर्माण में इस युग की बौद्धिकता का पूर्ण समावेश है। हमारी सबसे बड़ी समस्या जीवन है और उससे परे अध्यात्म या धर्म, इस युग में कोई अर्थ नहीं रखता। इसमें भुक्ति और मुक्ति का सामंजस्य है, भावुकता और बुद्धि का। भक्ति आकर 'साकेत' में भावुक बन गई है। यह समय का तकाजा है।" युग की विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करते हुए गुप्तजी ने यहाँ गांधीवाद के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विचारों का निरूपण किया है। मैथिलीशरणजी की रचनाओं में युग-धर्म अपनी प्रत्यक्षता नहीं खोता क्योंकि उनमें जीवन की व्याख्या युगानुकूल हुई है।

'साकेत' की रचना के पीछे गुप्तजी के कई उद्देश्य हैं। वे इस प्रकार हैं— १. युगाभिव्यक्ति—गाँधीवाद की व्याख्या, २. राम-भावना की पुष्टि, ३. राम-कथा में आधुनिक मनोविज्ञान का पुट ४. उर्मिला, लक्ष्मण, कैकेयी-जैसे कुछ नए चरित्रों की सृष्टि, ५ कवि के साहित्य-जीवन को पूर्णता या उत्कर्ष की ओर ले जाना। 'साकेत' उस युग की सृष्टि है जो अभी-अभी समाप्त हुआ है, जिसे, इतिहासकार अब गाँधी-युग की संज्ञा देने लगा है, जिसकी अनुभूतियाँ और प्रवृत्तियाँ आज लोगों की निगाह में पुरानी होती जा रही हैं, जिनकी व्यावहारिक उपयोगिता पर लोग संदेह-वाचक और प्रश्न-वाचक चिन्ह लगाते हैं। अतः 'साकेत' की संस्कृति पर गांधी-युग का प्रभाव प्रत्यक्ष है। तात्विक दृष्टि से ईश्वर और जीव के संबंध में साकेतकार गांधी जी के बहुत निकट हैं। गुप्त जी राम-सेवा-भावना से इतने प्रभावित हैं कि उन्हें जनता की सेवा में ही सुख और शांति का अनुभव होता है। उनकी स्पष्ट घोषणा है :

संदेश स्वर्ग का नहीं यहाँ मैं लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

गाँधी-युग की अभिव्यक्ति और उसका प्रतिनिधित्व करते हुए भी गुप्त जी ने

राम को ब्रह्म का अवतार मान लिया है, इससे 'साकेत' की स्वाभाविकता और सजीवता को धक्का पहुँचा है। ब्रह्म के अवतारी पुरुष राम के सामने सभी चरित्र गौण पड़ गए हैं; फलतः आलोचकों के बीच 'साकेत' के नायकत्व का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। जिस मनोयोग से मनोविज्ञान के प्रकाश में गुप्तजी ने कैकेयी, उर्मिला और लक्ष्मण का नवीन मूल्यांकन किया है, उतनी सावधानी राम के मनुष्यत्व-रूप को चित्रित करने में नहीं रखी। कहीं-कहीं तो तुलसी और गुप्त के राम एक-दूसरे के बिलकुल करीब आ गए हैं।

'मानस' के राम के स्वर में 'साकेत' के राम कहते हैं :

'हमको ही लेकर अखिल विश्व की क्रीड़ा।
आनन्दमयी नित नई प्रसव की पीड़ा।'

ऐसी पंक्तियाँ लिखकर गुप्तजी ने अपनी राम-भक्ति की अनन्यता प्रकट की है। लेकिन कवि का उद्देश्य यहाँ भक्ति-काव्य न लिखकर मानव-काव्य लिखना है। वह राम को मानवोचित गुणों से विभूषित करना चाहता है। और राम के प्रति भक्ति की तीव्रता प्रकट करना कथानक की स्वाभाविकता को नष्ट करना है 'साकेत' में राम का रूप स्पष्ट नहीं मालूम होता। वे कहीं पूर्ण मनुष्य हैं और कहीं ब्रह्म के अवतार। यहाँ वे सूर्य का प्रकाश बनकर आए हैं और अन्य सभी चरित्र टिमटिमाते हुए तारे हैं।

'साकेत' की कथा रामायण की प्रसिद्ध राम-कथा है, लेकिन कथानक के गठन में गुप्तजी ने अनेक मौलिक प्रसंगों की उद्भावनाएँ की हैं। इनका उल्लेख इस प्रकार है—

१. उर्मिला-लक्ष्मण-प्रेम-संवाद —प्रथम सर्ग
२. उर्मिला का चिन्तन —षष्ठ सर्ग
३. उर्मिला की विरह-भावना —नवम सर्ग
४. भरत-मांडवी-संवाद —एकादश सर्ग
५. कैकेयी-मंथरा-संवाद —द्वितीय सर्ग
६. राम-वन-गमन-प्रसंग की नई योजना —पंचम और चतुर्थ सर्ग
७. अयोध्या में भरत का आगमन-वर्णन —सप्तम सर्ग
८. चित्रकूट की सभा —अष्टम सर्ग
९. युद्ध वर्णन और उर्मिला द्वारा युद्ध में जाने के लिए उद्यत होना —द्वादश सर्ग
१०. नये चरित्रों की सृष्टि—उर्मिला, मांडवी, श्रुतिकीर्ति, सुलक्षणा।

गुप्तजी ने अपनी मौलिक सृजनात्मक कल्पनाओं के द्वारा राम-कथा को एक नया जीवन और नया मोड़ दिया है। जहाँ तक हो सका, कवि ने कथा को स्वाभाविक और सामयिक रूप देने की भरसक कोशिश की है। 'रामायण' की

चमत्कारिक घटनाओं को गुप्तजी ने युग के अनुकूल बनाने की चेष्टा की है। 'बाल काण्ड' की कथा उर्मिला, अरण्य कांड की शत्रुघ्न और लंका कांड की कथा हनुमान कहते हैं। लेकिन वशिष्टजी द्वारा जादू की छड़ी घुमाकर अयोध्यावासियों को लंका में होने वाले युद्ध के दृश्य दिखाना, अस्वाभाविक है। 'साकेत' के कथानक में वे अंश बड़े मनोयोग पूर्वक लिखे गए हैं जहाँ मनोवैज्ञानिक वातावरण की सृष्टि हुई है। वे कथा-प्रसंग इस प्रकार हैं—

(क) मंथरा-कैकेयी-संवाद
(ख) भरत की अनुपस्थिति के कारण पर विचार
 १. उर्मिला-लक्ष्मण-वर्तालाप द्वारा
 २. दशरथ के विषाद द्वारा
(ग) कैकेयी के प्रतिहिंसक रूप का वर्णन
(घ) लक्ष्मण की उग्रोक्तियाँ
(ङ) चित्रकूट की सभा में कैकेयी द्वारा दी गई सफाई
(च) लक्ष्मण को शक्ति-बाण लगने पर युद्ध में भाग लेने के लिए उर्मिला की उत्कटता।

ये प्रसंग बड़े सजीव, स्वाभाविक और यथार्थ हैं। जहाँ-तहाँ कवि ने राम-कथा का मेल आधुनिक आंदोलनों से भी बैठाया है। इस तरह युग की झाँकी दी गई है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

१. किसानों और श्रमजीवियों के प्रति सहानुभूति
२. युद्ध-को सदा के लिए दूर करने की कामना
४. राष्ट्रीयता और विश्व-बंधुत्व पर विचार
५. वन-गमन के अवसर पर अयोध्या की जनता द्वारा सत्याग्रह-प्रदर्शन।

'साकेत' की अन्यतम विजय नवम सर्ग की सृष्टि है, जिसमें उर्मिला के विरह और विषाद का बड़ा ही मार्मिक वर्णन हुआ है। सम्पूर्ण नवम् सर्ग भाव-पूर्ण प्रसंगों, कल्पनाओं और विरहोद्‌गारों की निधि है, उसे आधुनिक "भ्रमर गीत' की संज्ञा दी जा सकती है। मैथिलीशरण ने हिन्दी की विरहिणियों के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा है। उनकी विरहिणी उर्मिला रीति-काल के भोगवाद पर आश्रित न होकर नैतिक आदर्शों और नारी-पुरुष के समानाधिकार की पक्षपातिनी है। फिर भी, उर्मिला के विषाद के औचित्यानौचित्य पर विद्वानों ने अपने-अपने पक्ष का समर्थन किया है। इस दिशा में आलोचकों और विचारकों के स्पष्ट वर्ग हैं।

(क) उर्मिला के विषाद के विरोधी—

१. गिरीश—"बेचारी उर्मिला के हाथ में टूटी ढोल दे दी गई है जिससे बेसुरी आवाज निकलती है।"

२. 'मानव'—"मैथिलीशरण को 'साकेत' में यदि कहीं सफलता नहीं मिली तो विरह-वर्णन में।"

३. जानकीवल्लभ शास्त्री—'साकेत की उर्मिला का विरह-वर्णन निरर्थक है।"

४. महात्मा गांधी—"उर्मिला का विषाद अगरचे भाषा की दृष्टि से सुन्दर है, परन्तु 'साकेत' में उसको शायद ही स्थान हो सकता।"

(ख) उर्मिला के विषाद के पक्षपाती—

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा—"इसे (नवम सर्ग) एक नन्हा-सा 'सूर सागर' समझना चाहिए ! एक नया गोपिका-विरह सामने आ जाता है।"

२. डॉ० रामकुमार वर्मा—"नवम सर्ग के कुछ पद, जो उर्मिला ने अपने विरह मे कहे हैं, वे सचमुच ही हिन्दी-साहित्य के अमर रत्न हैं।"

३. डॉ० ब्रह्मचारी—"काव्य-जगत् की उपेक्षिता उर्मिला के प्रति इस काव्य में न्याय किया गया है।...उत्तर रामचरित, में सीता रोती है, 'साकेत' में उर्मिला।"

४. प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—"उर्मिला की वियोग-दशा की व्यंजना में तो मार्मिकता का कोष ही खोल दिया गया है।"

५. डॉ० नगेन्द्र—"उर्मिला का विरह 'साकेत' की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है।"

आलोचकों के उपर्युक्त उद्धरण उनकी 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' की कहावत चरितार्थ करते हैं। इनमें विरोध के दो आधार स्पष्ट हैं—

१. उर्मिला का विषाद आदर्शोन्मुख नहीं है, देश को उन्नतिगामी बनाने के गुण इसमें नहीं। यही कारण है कि महात्मा गाँधी को उर्मिला का क्रन्दन अधिक खटका है।

२ प्रबन्ध शैली की दृष्टि से भी उर्मिला का विषाद कथा-प्रवाह में बाधक है।

आइये, इन आक्षेपों पर संक्षेप में विचार करें। पहला विरोध गांधी जी की ओर से हुआ है। पर गनीमत है कि गांधी जी ने इतना मान लिया है कि भाषा की दृष्टि से उर्मिला का विषाद सुन्दर है। गुप्तजी ने महात्मा जी के पत्र के उत्तर में लिखा है—"यदि स्वर्ग में भगवान् की करुणा के लिए स्थान है तो 'साकेत' में उर्मिला के विषाद के लिए निश्चय ही स्थान है। 'साकेत' में रहने का उसे जन्म-सिद्ध अधिकार है।" कवि नें अपने लम्बे पत्र में जिन तर्कों और युक्तियों के द्वारा 'साकेत' में उर्मिला के स्थान का निरूपण किया है वे वस्तुतः प्रशंसनीय और विश्वसनीय हैं। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उर्मिला के मौलिक चरित्र की सृष्टि में कवि की कौन-सी अन्तर्वृत्ति काम कर रही थी। डा० नगेन्द्र के शब्दों में उर्मिला की विरह-वेदना जीवनगत है।···वस्तुतः उर्मिला का विरह जीवन के बाहर की वस्तु नहीं है।' सच तो यह है कि उर्मिला के चरित्र की सृष्टि गांधीजी के नारी-आदर्शो को ध्यान में रखकर हुई है,उसके आदर्श-रूप की झाँकी इन पंक्तियों में मिलती है :

आँसू नयनों में, हँसी वदन पर बांकी
कांटे समेटती, फूल छींटती झांकी।

वास्तव में उर्मिला वेदना और मंगल-कामना की जीती-जागती तस्वीर है। उसे जीवन से बाहर, प्राचीन विरहिणियों की कोटि में रखकर देखना उचित नहीं। उसका तप और त्याग अनुकरणीय है। उसके चरित्र-निर्माण में नैतिकता, धर्म, समाज-आदर्श और राष्ट्रीय चेतना का समावेश है।

दूसरे आक्षेप के उत्तर में यही कहा जायगा कि यद्यपि नवम सर्ग से कथा-प्रवाह शिथिल पड़ गया है, तथापि काव्य की रमणीयता, विषाद की मार्मिकता और कल्पना की तीव्रता और शैली की विविधता में मन इस तरह रम जाता है कि काव्य की इस कुञ्ज-वीथी से बाहर निकलने को जी नहीं चाहता। याद रखना चाहिए कि 'साकेत' का महाकाव्यत्व मुख्यतः गीति-शैली पर आधारित है। यह हिन्दी का एक अनूठा ग्रंथ है।

: ५ :

यशोधरा

"यशोधरा गुप्तजी के प्रौढ़, कवि-जीवन की उपज है।"[१]

एक समय था जब गुप्तजी की रचनाओं की काफी धूम थी। उनकी समस्त रचनाओं में 'यशोधरा' और 'साकेत' निस्संदेह अद्वितीय और अमर काव्य-कृतियाँ हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में इन दो महान् पुस्तकों का स्थान महत्त्वपूर्ण तो है ही, आने वाले युगों में भी इनकी आवश्यकता पड़ेगी, हिन्दी की प्रगति और उसके चिह्नों को समझने के लिए और भारतीय साहित्य की आत्मा का दर्शन करने के लिए। सच तो यह है कि 'जयद्रथ वध' और 'भारत-भारती' के बाद कवि के ये ग्रंथ ही ऐसे हैं जो हिन्दी के सामान्य पाठकों और विद्वानों द्वारा बहुत अधिक समादृत हुए हैं। 'द्वापर' और 'सिद्धराज' भी काम अच्छे ग्रन्थ नहीं हैं, लेकिन गुप्तजी की विशेष प्रशस्ति उपर्युक्त चार काव्य-कृतियों को लेकर ही हुई है। 'कावा और और कर्बला' तो आज एक विवाद और संदेह का विषय बन गया है। खैर 'जयद्रथ वध' और 'भारत-भारती'—ये दो ग्रंथ ऐसे हैं जिनका प्रचार साधारण जनता के बीच अधिक हुआ है, हिन्दी-संसार ने इनका सम्मान और स्वागत दिल खोलकर किया है। लेकिन द्विवेदीजी का प्रभुत्व ज्योंही क्षीण पड़ने लगा त्यों ही कला के पारखी इन दो पुस्तकों से ऊबने लगे; क्योंकि इनमें उन्हें सूखे उपदेशों को छोड़कर कलात्मक तत्त्वों का बेतरह अभाव खटका। गुप्तजी अपने आलोचकों से सदैव सजग रहे हैं। सम्भवतः उन्होंने भी यह अनुभव किया कि वे कला की साधना में पीछे पड़ते जा रहे हैं। आज उन्होंने भी समय और युग की पुकार के साथ चलने की ठानी। कला-समीक्षकों की भूख-प्यास मिटाने के लिए उन्होंने 'यशोधरा' और 'साकेत'-जैसी काव्य-पुस्तकें लिखीं। सारांश यह है कि यदि 'जयद्रथ वध' और 'भारत-भारती' जनता का कंठ-हार बनीं तो 'साकेत' और 'यशोधरा' कलाकारों और उच्च स्तर वाले साहित्यिकों का। दुर्भाग्य से इन दो ग्रंथों का उतना प्रचार साधारण जनता के बीच न हो सका जितना 'भारत-भारती' और 'जयद्रथ वध' का हुआ। भूखी, नंगी और कंगाल जनता के बीच इनकी खपत हो भी नहीं सकती, क्योंकि अभी तो उसे अर्थ-शास्त्र के करिश्मे दिखाने वाले कवियों की आवश्यकता है, कला की कारीगरी की नहीं। लेकिन आने वाली पीढ़ियाँ 'यशोधरा' और 'साकेत' की प्रतीक्षा अवश्य करेंगी

---

१. गिरीश

जब जनता की निरक्षरता, अर्थ की विषमता, जीवन की जर्जरता नष्ट हो जायगी, जब मनुष्य की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, और साहित्यिक चेतना काफी समुन्नत हो जायगी तभी वह महादेवी की 'यामा', निराला का 'तुलसीदास', पंत का 'गुञ्जन', प्रसाद की 'कामायनी' और गुप्त की 'यशोधरा' और 'साकेत' को हृदयंगम कर सकेगी। भूखी आत्मा और नंगा शरीर कला के सौन्दर्य को क्या जाने ? उसके लिए कला तो अभी एक वला वनी हुई है। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'यशोधरा', 'साकेत'-जैसी काव्य-पुस्तकें जहाँ एक ओर हिन्दी-कविता के विकास और प्रगति के मील-स्तंभ स्थिर करती हैं, वहाँ 'परिष्कृत वुद्धि' वाले चेतनशील और सजग व्यक्तियों को प्रेरणा का प्राण भी प्रदान करती हैं। इन्हीं दो कारणों से इनका सम्मान और स्वागत आने वाले प्रत्येक युग में होता रहेगा। इस आशावादिता का दूसरा आधार है, गुप्तजी की सीधी-सादी भाषा। सामान्य साधारण जनता के बीच भी उसका आदर कम न होगा; क्योंकि वह अपने राष्ट्रीय कवियों से सीधी-सादी भाषा की आशा रखती है।

भविष्य में गुप्तजी इसलिए भी याद किये जायँगे कि उन्होंने अपनी रचनाओं में, विशेषकर 'यशोधरा' और 'साकेत' में, भारतीय आत्मा, उसकी सभ्यता और संस्कृति की सुरक्षा की है। उन्होंने परंपरागत काव्य-विषयों को ही अपने काव्य का उपादान बनाया है। कवि ने अपनी प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता को सहानुभूति और श्रद्धा के साथ अपने काव्य में स्थान दिया है। उसमें रामायण-महाभारत की अनेक कथाओं को मनोवैज्ञानिक आधार देकर नवीन रूप देने की चेष्टा की गई है। 'यशोधरा' की कथा भी प्रचलित वौद्ध-कथा है जिससे भारत का बच्चा-बच्चा परिचित है। 'यशोधरा' की कथा का बहिरंग इतिहास-सम्मत है। कवि ने इसे वर्तमान युग के अनुकूल बनाने की चेष्टा भी की है। यहाँ मैं इसीकी कुछ सामान्य विशेषताओं का उल्लेख करूँगा।

आधुनिक काव्य-साहित्य के इतिहास में 'यशोधरा' का एक विशिष्ट स्थान है। इसमें कवि की काव्य-कला का चरम विकास देखने को मिलता है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से यह काव्य-पुस्तक हिन्दी-कविता-साहित्य की एक अनूठी रचना है। विश्व के श्रेष्ठ कवियों—सूर, तुलसी, शेक्सपीयर, मिल्टन आदि की तरह गुप्तजी ने भी 'यशोधरा' के कथानक में अनेक मौलिक प्रयोग किये हैं। यद्यपि इसकी कथा का बहिरंग इतिहास-सम्मत है तथापि इसका अंतरंग कवि की मौलिक सृष्टि है। सत्येन्द्र के शब्दों में "रामायण, महाभारत, पुराणादि की प्रसिद्ध घटनाएँ उनके (गुप्तजी) द्वारा नवीन साँचे में ढलकर मौलिक रूप में हमारे सामने आती हैं।"[1] दूसरे शब्दों में, यद्यपि 'यशोधरा' की कथा का निर्माण इतिहास की नींव पर हुआ है, तथापि, जैसा कि कवि ने अपनी अन्य रचनाओं—'साकेत', 'पंचवटी' आदि में किया है, गुप्तजी ने इसमें भी कुछ मौलिक प्रयोग किये हैं; जैसे—यशोधरा का विलाप, राहुल-संवाद आदि। ये प्रसंग सम्पूर्ण 'यशोधरा' में

१. 'गुप्तजी की कला', पृष्ठ ८९

सरस, सुन्दर और सुललित हैं, पर न जाने क्यों किन्हीं आलोचकों को वे प्रसंग 'अनियंत्रित कवि-कल्पना के विलास' जँचे हैं।

'यशोधरा' नामक काव्य के सृजन में गुप्तजी को 'साकेत' से प्रेरणा मिली है। इस प्रेरणा की चर्चा करते हुए कवि ने स्वयं 'यशोधरा' के प्रारंभ में—'शुल्क' में लिखा है कि "भगवान् बुद्ध और उनके अमृत-तत्त्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल-जननी के दो-चार आँसू ही इसमें मिल जायँ तो बहुत समझना। और, उनका श्रेय भी 'साकेत' की उर्मिला देवी को ही है, जिन्होंने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के राज-भवन की ओर मुझे संकेत किया है।" संक्षेप में, इस काव्य-पुस्तक में यशोधरा की वही कथा कही गई है जिसको प्रायः स्कूल के विद्यार्थी इतिहास में पढ़ते हैं। 'शुल्क' में दिये गए विचारों का निकट से अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इसकी रचना में कवि के दो उद्देश्य काम करते रहे हैं—(१) गोपा की स्वतंत्र सत्ता और महत्ता का वर्णन करना, (२) वैष्णव-भावना का नैवेद्य बुद्धदेव के सम्मुख समर्पण। इन दो उद्देश्यों में युग-धर्म की प्रमुख प्रवृत्तियों की झाँकी मिलती है। प्रथम में आज की नारी की स्वतंत्र सत्ता तथा अधिकार का आभास मिलता है जो वर्तमान नारी-आंदोलनों और जागरण का प्रभाव लिये हुए है।

गुप्त-साहित्य में नारी को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। कवि ने सभी जगह नारी की करुण कहानी कही है। 'जयद्रथ-वध' में उत्तरा के विलाप में, 'साकेत' में उर्मिला के विरह-अभिशाप में, 'शकुन्तला' में शकुन्तला के अनुताप में—सर्वत्र नारी की समस्याएँ ही मुखरित हुई हैं। लेकिन 'यशोधरा' की नारी गुप्तजी की अन्य नारियों से सर्वथा भिन्न है। यहाँ की नारी पुरुष के अत्याचार सहने वाली नहीं, वरन् समान अधिकार और पारस्परिक प्रेम जताने वाली है। समाज में तथा परिवार में उसका भी एक स्थान है, वह गुप्तजी को स्वीकार है। 'पंचवटी' से ही नारी के अन्दर विद्रोहात्मक भावनाएँ जगने लगी हैं। कवि ने शूर्पणखा के रोषभरे शब्दों में पहली बार घोषित किया :

> तो क्या अबलायें सदैव ही।
> अबलायें हैं बेचारी ?

'सैरंध्री' में पुरुषों पर कलंक के छींटे उछालती हुई द्रोपदी कहती है :

> हम अबलायें एक ही को,
> होकर रहती हैं सदा।
> तुम पुरुषों को सौ भी नहीं,
> होती हैं तृप्ति-प्रदा।

'यशोधरा' में पहली बार संभवतः हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी नारी ने पुरुष के अधिकार-प्रयत्नों की कटु आलोचना की। इससे इस पुस्तक का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। यदि हम इसके रचना-काल की पृष्ठभूमि पर दृष्टि-निक्षेप करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि 'यशोधरा' की रचना के पीछे युग की नारी-चेतना

काम कर रही है। इसके प्रकाशन के पहले कविता में शुक्ल जी का 'बुद्ध चरित' हरिऔध जी का 'प्रिय प्रवास', रामचरित उपाध्याय का 'रामचरित चिन्तामणि' आदि-जैसे कुछ महाकाव्य प्रकाश में आ चुके थे। इनके अतिरिक्त, सियारामशरण गुप्त की 'मौर्य विजय', रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' 'मिलन', डा० रामकुमार वर्मा का 'वीर हम्मीर'; प्रसाद-कृत 'प्रेम-पथिक'-जैसे खण्डकाव्य लिखे जा चुके थे। 'यशो-धरा' के रचना-काल तक हिन्दी खड़ी बोली भी काफी पुष्ट हो चुकी थी। 'यशोधरा' का प्रकाशन सन् १९३२ ई० में हुआ था। यह काल छायावाद का काल था, जब कि प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी—छायावादी कविता के स्तंभ—हिंदी-काव्य-संसार में आ चुके थे। इन कवियों ने भी नारी के परम्परागत रूप में परिवर्तन लाना आरंभ कर दिया था। इसका प्रगतिशील रूप प्रसाद, पंत और त्रिपाठी जी के काव्य में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'यशोधरा' की प्रथम विशेषता एक ऐसी नारी के चित्रण में है जो युग-युग से उपेक्षिता बनी रही, जिस पर अतीत के किसी भी कवि-मानीषी की दृष्टि नहीं पड़ी। प्राचीन संस्कृत-काव्य में यशोधरा का नाम अवश्य आया है लेकिन किसी ने भी उसके हृदय की अनुभूतियों और वेदनाओं की थाह लेने की चेष्टा नहीं की। इसके दो कारण बताए जाते हैं—"प्रथम उसने (यशोधरा) लोक, कुटुम्ब या समाज के कल्याण के लिए कोई ऐसा संस्मरणीय काम नहीं किया जो जाति के साहित्य में स्थायी स्थान ग्रहण कर सके। द्वितीयतः, यशोधरा में ऐसे गुण होंगे जो गौतम के उत्कृष्ट गुणों के सामने उल्लेखनीय प्रमाणित नहीं हुए। सुतरां, वे किसी कवि या लेखक का ध्यान आकर्षित न कर सके।"[१] हमारी समझ में ये कारण पर्याप्त नहीं हैं। भारत आरंभ से ही एक धर्म-परायण देश रहा है। इस बात को सभी जानते हैं कि प्राचीन काल में बौद्धों और हिन्दुओं में खींच-तान सदा से चला करती थी। हिन्दुओं ने बौद्धों को सदैव नास्तिक कहा। ऐसी हालत में कोई हिन्दू-कवि नास्तिक साहित्य की रचना करके अपने धर्म और जाति को क्यों कलंकित करता ? यही कारण है कि प्राचीन काल में बौद्ध-साहित्य के अधिकांश रचयिता बौद्ध ही होते थे। हिन्दू-धर्म के समर्थक कालिदास और भवभूति-जैसे उदार कवियों ने जब बौद्ध-धर्म और उसके साहित्य के प्रति अपनी अनुदार दृष्टि रखी तो फिर छोटे-छोटे कवियों की बात ही क्या ? प्राचीन हिन्दी-साहित्य में भी कवियों में बौद्ध-धर्म के प्रति इसी प्रकार की अनास्था के भाव ज्यों-के-त्यों बने रहे। १९वीं शताब्दी तक बौद्ध-धर्म में अनास्था रखने वालों की बहुत बड़ी संख्या रही। २०वीं शताब्दी का उदय होते ही बौद्ध-धर्म और उसके साहित्य का पठन-पाठन तथा अन्वेषण काफी गति के साथ होने लगा। इसके साथ ही हिन्दी में और भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं में बुद्ध-विषयक साहित्य की रचना होने लगी। हिन्दी-साहित्य में गुप्त जी, अनूप शर्मा, शुक्ल जी तथा प्रसाद जी-जैसे कवियों ने बुद्ध-साहित्य की रचना करने में सक्रिय रूप से हाथ बँटाया। भारत के एक युगान्तरकारी धर्म-प्रवर्तक महात्मा बुद्धदेव की धर्मपत्नी यशोधरा को प्रकाश

१. 'काव्य की उपेक्षिता,' प्रो० रामदीन पांडेय, पृष्ठ ३

में लाकर गुप्त जी ने अपने हृदय की उदारता और विशालता का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने उपेक्षिता यशोधरा का उद्धार करके उसके साथ समुचित न्याय भी किया।

'यशोधरा' की तीसरी विशेषता कौटुम्बिक चित्रों की अवतारणा में है। 'साकेत' और 'यशोधरा' में कौटुम्बिक जीवन के अनेक सुन्दर चित्र देखने को मिलते हैं। पारिवारिक जीवन का यथार्थ चित्र उतारने में गुप्त जी को आशातीत सफलता मिली है। डा० नगेन्द्र ने ठीक ही कहा है कि गुप्त जी को 'गृहस्थ-जीवन के चित्र खींचने में अद्वितीय सफलता मिली है।' उनके काव्य में सास-ननद, श्वसुर-जेठ, देवर-भाभी, पुत्र-पुत्री से भरे परिवार के अनेक चित्र मिलते हैं। 'यशोधरा' में भी इस तरह के चित्रों का अभाव नहीं है। कौटुम्बिक जीवन का काव्यमय चित्रण करने में, आधुनिक कवियों में गुप्त जी सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। गद्य में प्रेमचन्द और कविता में गुप्त जी ने ही हिन्दी-साहित्य की पारिवारिक जीवन की विभिन्न स्थितियों का सजीव और सफल वर्णन किया है।

'यशोधरा' की चौथी विशेषता वैष्णव-भावना की ओट में गांधीवाद के मूल जीवन-सिद्धान्तों की व्याख्या है। हिन्दी-साहित्य पर गांधी जी के व्यक्तित्व का बहुत बड़ा ऋण है और विशेषकर गुप्त जी पर बहुत अधिक है। वस्तुतः यदि गुप्त जी के काव्य-गुरु आचार्य द्विवेदी हैं तो सिद्धान्त-गुरु गांधी जी। गांधी जी भी वैष्णव थे और गुप्त जी भी वैष्णव हैं। दोनों राम-राज्य की स्थापना का स्वप्न देखते रहे हैं। यही कारण है कि गुप्त जी की समस्त रचनाएँ गांधीवादी विचार-धारा से ओत-प्रोत हैं। 'यशोधरा' में गांधी जी के जीवन-सिद्धान्तों को बहुत अधिक खुलने का अवसर मिला है। इसमें मूल सिद्धान्तों का संघर्ष है, दो मानवीय वृत्तियों का द्वन्द्व है: एक है पलायनवादी प्रवृत्ति (tendency of escape) और दूसरी है, जीवन-संघर्ष से जूझने की लालसा। बुद्धदेव यदि प्रथम प्रवृत्ति के प्रतीक हैं और यशोधरा दूसरी प्रवृत्ति की समर्थिका। बुद्ध संसार के भीषण झंझावात से ऊबकर जंगल में पलायन करते हैं और यशोधरा संसार, समाज और परिवार में रहकर दुःखों का सामना करके जीवन के शेष दिन काट देना चाहती है। वह अपने पति को स्पष्ट कह देती है:

यदि हममें अपना नियम और शम दम है,
तो लाख व्याधियाँ रहें स्वस्थता सम है।

+ +

भव भावे मुझे और उसे मैं भाऊँ,
कह मुक्ति भला किसलिए तुझे मैं पाऊँ।

कहने का मतलब यह है कि यशोधरा जहाँ 'भव' में रहकर संयमपूर्ण जीवन बिताना चाहती है, वहाँ दूसरी ओर बुद्धदेव विश्व के कोलाहलमय जीवन से दूर किसी निर्जन वन की राह पकड़ते हैं। इन्हीं दो विरोधी प्रवृत्तियों का द्वन्द्व-प्रदर्शन ही इस काव्य-पुस्तक का एक-मात्र उद्देश्य है। यशोधरा के सिद्धान्त गांधीवाद पर

आश्रित हैं। लेकिन यह एक विचित्र बात है कि जिस यशोधरा ने गौतम की पलायन-वृत्ति की इतनी कठोर आलोचना की, वही अन्त में बौद्ध-धर्म में दीक्षित हो जाती है। नारी के महान् व्यक्तित्व की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए भी गौतम आरंभ से अन्त तक विरागी ही बने रहे। उन्होंने व्यावहारिक और पारिवारिक जीवन का कोई ठोस उपदेश नहीं दिया जिससे यशोधरा का कौटुम्बिक जीवन सुखी होता—वह सदैव माता और पत्नी बनी रहती। वह बुद्ध की शरण में, पत्नी बनकर नहीं, शिष्या की हैसियत से, चली जाती है। इस प्रकार संन्यासी गौतम की पत्नी भी संन्यासिनी हो जाती है। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न होता है कि राम, कृष्ण और गांधी के पवित्र देश भारतवर्ष को कौन-सा अमर-सन्देश मिला ? इसका उत्तर देने में मैं अपने को असमर्थ पाता हूँ, क्योंकि 'यशोधरा' का जीवन-संदेश इतना अपूर्ण और अस्पष्ट है कि उसका निष्कर्ष निकालना संभव नहीं मालूम होता। बुद्ध की शरण में यशोधरा का चला जाना गुप्त जी के 'यशोधरा' काव्य के मूल उद्देश्य को चुनौती देता है।

'यशोधरा' की अन्य विशेषताओं में से उसका प्रकृति-चित्रण और विरह-वर्णन की नवीनता भी एक विशेष गुण है। गुप्त जी को इनमें भी पर्याप्त सफलता मिली है। कवि ने प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों का बड़ा ही मोहक और मार्मिक वर्णन किया है। हिन्दी-कविता को रीति-कवियों के हाथों से मुक्त कराने में श्रीधर पाठक और हरिऔध जी का प्रमुख हाथ रहा है। गुप्त जी ने भी प्रकृति-चित्रण में कुछ नई शैलियों का प्रयोग किया है। संवेदनशील प्रकृति का वर्णन इस पुस्तक में, खूब हुआ है, जिससे इस काव्य का मूल्य बढ़ गया है। लेकिन इस क्षेत्र में उन्होंने प्राचीन और नवीन शैलियों और पद्धतियों का अद्भुत समन्वय किया है।

आधुनिक हिन्दी-कविता में गुप्त जी का विरह-वर्णन उनकी अद्वितीय प्रतिभा, कल्पना और मौलिकता की अद्भुत देन है। इसके वर्णन में उन्होंने नवीन शैलियों का प्रयोग किया है—रीतिकालीन पद्धति को छोड़ दिया है। रीति-कवियों की विरहिणियों को चाँद की चाँदनी, बरसात की रात, पपीहे की पी-पी तथा कोयल की कूक काटने दौड़ती थी। पर गुप्त जी की विरहिणी प्रकृति के इन उपादानों का सहर्ष स्वागत करके अपने को धन्य मानती है। यशोधरा को गर्मी के ताप में गौतम के तप का अनुमान होता है। उसका कहना है कि गौतम के अभाव और अनुपस्थिति में न केवल यशोधरा दुखी है वरन् सारी चेतन प्रकृति आँसू बहा रही है। इस तरह के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

'यशोधरा' की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता है। रचना-शैली की दृष्टि से यह काव्य-पुस्तक अनेक काव्य-शैलियों का सामंजस्य भी है, और संग्रह भी। गुप्त जी एक बहुत बड़े शैलीकार हैं। इस पुस्तक में कवि ने जिस रचना-शैली का प्रयोग किया वह एकान्ततः नवीन और कलात्मक है। समालोचकों में इस बात का गहरा मतभेद है कि वस्तुतः 'यशोधरा' को साहित्य की किस शैली के अन्तर्गत रखा जाय। 'गिरीश' जी के विचार से 'यशोधरा' एक गीति-काव्य है। डा० ब्रह्मचारी ने इसे

प्रबंध-काव्य के अन्तर्गत रखा है। शैली की दृष्टि से 'यशोधरा' एक ऐसी पुस्तक है जिसके संबंध में मतभेद होना स्वाभाविक बात है। यह प्रबन्ध-काव्य हो या खंड-काव्य या गीति-काव्य सभी जगह कवि ने अपनी मौलिकता और नवीनता का प्रदर्शन किया है। प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र इसे 'चम्पू काव्य' के अधीन रखते हैं। इस तरह की मिश्रित शैली लिखने में बहुत ही कम कवि सफल हुए हैं। जो भी हो, 'यशोधरा' का साहित्यकारों के बीच इसलिए भी अधिक सम्मान है कि इसमें शैली की विविध क्यारियों में तरह-तरह के रंग-बिरंगे फूल खिलाये गए हैं। यह प्रबंध काव्य नहीं है लेकिन इसमें घटनाओं का घात-प्रतिघात और चरित्र-चित्रण का आनन्द मिलता है, यह खंडकाव्य भी नहीं है लेकिन इसमें तीव्र रसोद्रेक करने की शक्ति है; यह नाटक भी नहीं है, लेकिन नाटकीय तत्त्वों का अभाव भी नहीं है, यह पूर्णतया गीति-काव्य भी नहीं, पर इसमें हृदय की सूक्ष्म वृत्तियों की अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः 'यशोधरा' की शैली मिश्रित और मधुर है। भाषा की सरलता और मधुरता कवि की पुस्तक को और भी आकर्षक बनाती है। कुल मिलाकर, 'यशोधरा' गुप्त जी की एक अमर रचना है, जो किसी भी युग में पठनीय और प्रशंसनीय होगी।

: ६ :

कामायनी

"जिस प्रकार 'सूरसागर' कृष्ण-काव्य का, 'मानस' राम-काव्य का, 'बिहारी-सतसई' शृंगार-काव्य का, 'प्रिय प्रवास' द्विवेदी-युग का प्रतिनिधित्व करते हैं, उसी प्रकार प्रसाद की 'कामायनी' को आधुनिक युग की सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्य-धारा—छायावाद का प्रतिनिधि-काव्य कहा जा सकता है।" [१]

'कामायनी' के प्रकाशन के पहले हिन्दी-कविता में 'प्रिय प्रवास' और 'साकेत'-जैसे प्रसिद्ध महाकाव्यों की रचना हो चुकी थी और इनका हिन्दी-कवियों पर काफी प्रभाव भी था। पर 'कामायनी' के सामने इन दोनों का महत्त्व नगण्य है। हिन्दी-कविता में इस ग्रन्थ का प्रकाशन क्या हुआ, एक नई हलचल मची। यह अपने में सम्पूर्णत: एक मौलिक ग्रन्थ है। इसकी कथा प्राचीन अवश्य है, पर इस पर अब तक किसी प्राचीन या नवीन की दृष्टि नहीं गई थी। प्रसादजी ने इस पुरानी कथा को काव्य का अङ्ग बनाकर आगे आने वाले कवियों के लिए काव्य-विषय की एक नई परम्परा स्थापित की। जिस तरह सदियों पहले वाल्मीकि ने 'रामायण' लिखकर और व्यास ने 'महाभारत' की कहानी देकर संसार के साहित्य को नूतनता का उपहार भेंट किया, उसी तरह प्रसाद ने 'कामायनी' लिखकर हिन्दी-कविता के लिए नये द्वार खोले। यद्यपि इस कथा को लेकर अन्य काव्य-पुस्तकों की रचना अभी नहीं हुई फिर भी जिस विषय को लेकर 'कामायनी' लिखी गई है वह मानव-जीवन का चिरन्तन प्रश्न बन चुका है। उसकी परिधि में विश्व को आत्मसात् कर लेने की अद्भुत क्षमता है। महादेवी वर्मा के शब्दों में "प्रसादजी की 'कामायनी' महाकाव्यों के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ती है, क्योंकि वह ऐसा काव्य है जो ऐतिहासिक धरातल पर भी प्राकृतिक है और सांकेतिक अर्थ में मानव-विकास का रूपक भी कहा जा सकता है।"

'कामायनी' हिन्दी-छायावाद की एक-मात्र अद्वितीय सृष्टि है। शान्तिप्रिय द्विवेदी का कहना है कि 'मुक्तक काव्य' के क्षेत्र में छायावाद ने अपना पूर्ण उत्कर्ष पंत के 'पल्लव' और महादेवी के गीतों में प्राप्त किया; प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में 'कामायनी' में। छायावाद का मुक्तत्व व्यक्तित्व 'कामायनी' के महाकाव्यत्व में बिन्दु से सिन्धु हो गया है। प्रसाद की 'कामायनी', निराला का

---

१. डा० रामरतन भटनागर

'तुलसीदास' और अज्ञेय की 'चिन्ता' ने हिन्दी की छायावादी कविता में प्रबन्ध काव्य की एक नई परम्परा और शैली की संस्थापना की है। इसने इस कथन का खंडन कर दिखाया है कि छायावादी कविता के माध्यम से महाकाव्य की रचना सम्भव नहीं। नई कल्पनाशीलता, नूतन चेतना, मानस-वृत्तियों की सूक्ष्मता और प्रौढ़तर पकड़ तथा विलक्षण भाव की सृष्टि में 'कामायनी' ने कमाल कर दिखाया है। यह छायावाद के समस्त उपकरणों को अपने में समेटे आई है, जैसे स्वर्ग से किसी 'अज्ञात, अजान अप्सरी' का अचानक आगमन हुआ हो। नई कल्पनाओं, नई उपमाओं और नूतन उत्प्रेक्षाओं से 'कामायनी' की क्यारियाँ सजी हैं।

'कामायनी' का अध्ययन दो दृष्टियों से किया जा सकता है—१. सांस्कृतिक दृष्टि से और २. कला-दृष्टि से। प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी का कथन है कि "'कामायनी' एकांगी, अव्यावहारिक, निर्बल तथा ह्रासोन्मुख रूढ़ि के स्थान पर व्यापक और बहुमुखी जीवन-दृष्टि का संदेश सुनाती और नियोजना करती है।" 'जयशंकर प्रसाद' में वे इस ग्रन्थ का महत्त्व आँकते हुए लिखते हैं—"मानव-दर्शन का पहला सफल प्रयोग 'कामायनी' में हुआ है।' इस ग्रंथ का सांस्कृतिक आधार विराट् और निस्सीम है, जिस पर समस्त मानव-जीवन अपनी व्यापक सत्ता और महत्ता का परिचय देता है। प्रसादजी की दृष्टि में इतना विस्तार और फैलाव पहले कभी नहीं आया था, न 'झरना' में, न 'आँसू' में, और न 'लहर' में। यहाँ कवि का व्यक्तित्व मानस-शिखर को पा चुका है। यहाँ कवि ने जीवन को वैज्ञानिक दृष्टि से न देखकर सांस्कृतिक दृष्टि से देखा है, जिसमें देश-काल की सभी कृत्रिम दीवारें ढह गई हैं और जिसमें मनुष्य की मनुष्यता को ही पूर्ण उत्कर्ष दिया गया है। आज के विश्रृङ्खल युग ने प्रसाद को उसी तरह जीवन-सन्देश की नई प्रेरणा दी जिस तरह मध्य युग की विलासी प्रवृत्तियों और आलसी समाज ने तुलसीदास को राम-सीता की आदर्श मूर्तियों और राम-राज्य के मर्यादापूर्ण समाज की ओर प्रेरित किया था। यद्यपि इसमें युग-धर्म की ध्वनि उतनी स्पष्ट नहीं जितनी समाजवादी साहित्य में होती है तथापि 'कामायनी' की प्रेरक-शक्ति आधुनिक युग की संघर्षशील प्रवृत्ति ही है। इसकी विशेषता यही है कि वह नये युग की सारी उलझी हुई प्रवृत्तियों को आत्मसात् करती हुई हमें भविष्य के लिए जीवन का सही मार्ग दिखाती है। श्री रामनाथ 'सुमन' ने ठीक ही कहा है कि "तुलसीदास के 'मानस' के बाद जीवन की व्याख्या और नवीन जीवन के संदेश को सामने रखने वाला ग्रन्थ अब तक नहीं आया। तुलसी ने मध्य-युग के धर्म-प्रधान लोक-जीवन को मर्यादा-मार्ग का सन्देश दिया। हमारे समय में रवीन्द्र, गांधी, जवाहर, डा० इक़बाल और प्रसाद ने लोक-जीवन का नया मार्ग दिखलाने का प्रशस्त प्रयत्न किया।" प्रसादजी इक़बाल और नेहरू की अपेक्षा गांधीजी के अधिक समीप हैं, क्योंकि वे 'वित्तानुभवी, बुद्धि-प्रधान सभ्यता को वर्ग-संघर्ष की जड़ कहते हैं।' 'कामायनी' आधुनिक अमर्यादित बुद्धिवाद के प्रतिक्रिया-स्वरूप लिखी गई है। यह ठीक ही कहा गया है कि "यदि आज के युग ने श्रद्धा के अभाव

तथा बुद्धिवाद के अतिवाद-स्वरूप संसार में संहार, हिंसा, प्रलय, अशांति, उद्वेग आदि से मानव में हाहाकार न मचाया होता तो श्रद्धा का महत्त्व प्रतिपादित करने वाली तथा बुद्धिवाद का विरोध करने वाली 'कामायनी' की रचना न हुई होती।" वास्तव में, इस प्रसिद्ध ग्रन्थ में मानव-जीवन के सम्यक् विकास के लिए भाव, कर्म और ज्ञान का सामंजस्य उपस्थित किया गया है। मानस की सृष्टि इन्हीं तन्तुओं से हुई है, इसलिए मानव-विकास के चिंतन में इन तीनों का संतुलन और समन्वय आवश्यक है। प्रसाद का यहाँ यही मूल संदेश है। कला की दृष्टि से इसकी समता करने वाला कोई भी दूसरा ग्रन्थ अभी तक सामने नहीं आया। भविष्य की बात भविष्य जाने।

: ७ :

गुञ्जन

"मैं 'पल्लव' से 'गुञ्जन' में अपने को सुन्दरम् से शिवम् की भूमि पर पदार्पण करते हुए पाता हूँ।"[1]

पन्तजी की समस्त रचनाओं में उनके कवि-व्यक्तित्व का सीधा विकास हुआ है। उनकी रचनाओं में 'गुञ्जन' वह मध्यम कड़ी है, जिसको निकाल देने से बहुत बड़ी क्षति की आशंका हो सकती है। इसलिए इस कवि की कृतियों का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए 'गुञ्जन' के सम्यक् अनुशीलन की आवश्यकता है। पंत की रचनाओं में 'गुञ्जन' का वही महत्त्व है जो महत्त्व सुन्दर और रंगीन फूलों की पंखुड़ियों के मध्य में मकरन्द या पराग का होता है। 'गुञ्जन' पन्त की कवि-साधना का वह उच्च शिखर है, जिस पर खड़े होकर कवि की विगत और वर्तमान भाव-भूमि का दृश्य लिया जा सकता है। जिस तरह पर्वतराज हिमालय की उच्चतम चोटी पर खड़े होकर मध्य एशिया का विस्तृत बंजर-प्रदेश और भारत की उत्तरा पथ की शस्य-श्यामला भूमि के दृश्यों का एक साथ ही निरीक्षण तथा अवलोकन किया जा सकता है, उसी तरह 'गुञ्जन' के शिखर से खड़े होकर पंत की विगत निराशा और वर्तमान आशा-आह्लाद के स्तूपों को देखा जा सकता है। 'गुञ्जन' पन्त की रचनाओं की मध्यम कड़ी है। उनकी काव्य-माला में यह नगीने का काम करती है। यहाँ हम कवि की काव्य-चेतना की पृष्ठभूमि पर 'गुञ्जन' के महत्त्व का निरूपण करेंगे।

हिन्दी में पन्त सर्वप्रथम अपनी 'वीणा' को लेकर आए। उसके भी पहले, जब वे दसवीं कक्षा में पढ़ते थे, वे 'कागज-कुसुम' तथा 'तम्बाकू का धुआँ' शीर्षक कविताएँ लिख चुके थे और इनका प्रकाशन भी हो चुका था। इन कविताओं ने हिन्दी-साहित्य-संसार में हलचल पैदा कर दी थी। तत्कालीन साहित्यकारों ने विस्मय और उत्सुकता-भरे मिश्रित भावों से इनका स्वागत किया था। इन प्रारम्भिक कविताओं के शीर्षक से यह प्रतीत होता है पन्त आरम्भ से ही स्वच्छन्दवादी रहे हैं। पुराण-प्रमाणित तथा प्राचीन काव्य-परम्परा के भाव-विचारों की स्वीकृति इस कवि को मान्य नहीं है।

पन्त की समस्त रचनाओं में हम क्रमिक विकास की एक स्पष्ट रेखा पाते हैं।

---

१. 'आधुनिक कवि', पंत।

उनकी 'वीणा' का भ्रम 'गुञ्जन' में जाकर पूर्ण रूप से विकसित हुआ है। स्वयं कवि ने यह लिखा है कि "सा" से जो मेरी वाणी का सम्वादी स्वर एकदम "रे" हो गया है, यह उन्नति का क्रम संगीत-प्रेमी पाठकों को खटकेगा नहीं, ऐसा मुझे विश्वास है।"[1] वास्तव में कवि के व्यक्तित्व का उन्नति-क्रम व्यवस्थित और सीधा है। 'पल्लव' में वह 'स' से प्रभावित था :

अर्द्ध निद्रित-सा, विस्मृत-सा,
न जागृत-सा, न विमूर्च्छित-सा।

और गुञ्जन में कवि की 'सम्वादी स्वर' 'रे' हो गया है :

'तप रे मधुर-मधुर मन'
× × ×
'रे गंध-ग्रन्ध हो ठौर-ठौर'

'वीणा'-काल की कविताओं के बारे में पन्त जी लिखते हैं कि "इस कवि जीवन के नव-प्रभात में नवोढ़ा कविता की मधुर नुपूर-ध्वनि तथा अनिर्वचनीय सौन्दर्य से एक साथ ही आकृष्ट हो मेरा 'मंद कवि यश' प्रार्थी, निर्बोध, लज्जा-भीरु कवि वीणा-वादिनी के चरणों के पास बैठकर स्वर-साधना करते समय अपनी व्याकुल उत्सुक हृत्तंत्री से बार-बार चेष्टा करते रहने पर, अत्यन्त असमर्थ अंगुलियों के उल्टे-सीधे आघातों द्वारा जैसी कुछ भी अस्फुट, अस्पष्ट अंक में जागृत कर सका हूँ, वे इस 'वीणा' के स्वरूप में आपके सम्मुख उपस्थित हैं।"[2] 'वीणा में कवि 'अनिर्वचनीय सौन्दर्य' के रहस्य को जानने के लिए उत्सुक है। सारी प्रकृति, सारा वाह्य वातावरण उस अलौकिक सौन्दर्य की मधुरिमा से आलोकित है। यही कारण है कि कवि का जीवन उल्लास, आह्लाद और आनन्द से भरा है। इस उल्लास का भी एक ठोस कारण है। कवि को अभी जीवन की यथार्थ कुरूपताओं की ठोकरें खानी नहीं पड़ी हैं। अभी उसके सामने उन्मत्त यौवन की आकुल-व्याकुल पुकार है। जीवन और जगत् के व्यापारों के प्रति पूर्ण आशावादी है। वह भाव-विभोर, भावुक और चंचल है। वह बोझिल दार्शनिकता से अलग तो नहीं है पर कुछ दूर-दूर अवश्य है। हाँ कहीं-कहीं आह्लाद और जिज्ञासा के झीने संघर्ष का आभास अवश्य मिल जाता है :

अब न अगोचर रहो सुजान!
निशानाथ के प्रियवर सहचर
अन्धकार स्वप्नों के यान,
किसके पद की छाया हो तुम,
किसका करते हो अभिमान?

सामूहिक रूप से 'वीणा' का कवि अल्हड़ भावुक है।

'वीणा' के उपरान्त पन्त जीवन की 'ग्रन्थि' खोलने का प्रयास करते हैं। अब धीरे-धीरे कवि के विश्वास तथा विचार बदलते हैं। उनका काव्य-लोक सीमित

१. 'गुञ्जन'
२. 'वीणा' की भूमिका में

होने लगता है। अपने भावों की सामग्रियों का संग्रह करने के लिए अब वह 'वन-वन उपवन' में भटकता नहीं वरन् वह एक-मात्र अपनी नायिका में अपने को उलझाये रखता है। 'ग्रन्थि' में कवि को एक 'सुन्दरता कल्याणि' से प्रेम होता है। वह प्रेमाकुल होकर अपने हृदय की समस्त भावनाओं को उसके सामने समर्पित कर देता है। लेकिन अकस्मात् उसके जीवन में वसन्त के स्थान पर पतझड़ के दिन आ जाते हैं। उसकी आँखें सावन-भादों की निरन्तर झड़ी बरसाने लगती हैं। उसका हृदय फट पड़ता है। कवि को पहली बार यथार्थ जीवन की निर्मम कुरूपता की ठोकरें खानी पड़ीं। उसका मन कराह उठा, हृदय रो पड़ा और अन्तर में निराशा घर करने लगी! उसे 'किसी' की अनुपस्थिति की उत्कट पीड़ा का कटु अनुभव हुआ, वह हाय-हाय करने लगा। 'वीणा' का आशावादी कवि पहली बार जगत् से निराश हुआ। उसके जीवन के समस्त सुनहले सपने, आँधी में सूखे पत्तों की तरह, छिन्न-भिन्न हो गए। उल्लास की जगह वेदना आ धमकी। गहनतम वेदना ने कवि के सारे विश्वासों को उसके दृष्टिकोण को बदल दिया। अब वह धीरे-धीरे गंभीर होने लगा। पहले तो वह खूब रोया, पटकाया :

'वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड यह'
× × × ×
गिर पड़ा वह स्वप्न मेरा अश्रु-सा
पलक दल को छू अचानक, कमल के
अङ्क में अटका तुहिन जल अनिल की
एक हल्की थपथपी से सो गया।[1]

'गुञ्जन' में कवि की उपरिलिखित निराशा कहीं-कहीं पानी में बुदबुद की तरह ऊपर उभर आई है :

झर गई कली, झर गई कली,
चल-सरित-पुलिन पर वह विकसी,
उर के सौरभ से सहज बसी,
सरला प्राप्त ही तो विहँसी,
रे कूद सलिल में गई चली![2]

पंत की प्रेम-कहानी उनके आँसुओं से इतनी भीगी है कि आज भी यह कहीं-कहीं प्रकट हो ही जाती है। 'गुञ्जन' में और इसके बाद की रचनाओं में यह यद्यपि गौण स्थान रखती है, तथापि उसकी भावानुभूति स्पष्ट हो ही जाती है। वस्तुतः महाकवि पंत का जन्म वियोग और वेदना के पंकिल से हुआ है। उन्होंने ठीक ही कहा है कि :

'वियोगी होगी पहला कवि
आह से उपजा होगा गान'

---

१ ग्रन्थि
२ गुञ्जन, पृ० ३७,

यदि 'ग्रन्थि' में कवि को जीवन की कठोर वेदना और निराशा का अनुभव न होता तो आज उसका कुछ दूसरा ही रूप होता। 'गुञ्जन' तक आते-आते उसकी मनोभूमि इतनी ऊँची न उठती। जीवन की कठोरता ने कवि को उदार बनाया, उसकी निर्ममता ने उसे सरल बनाया। उसने अपने मन के विद्रोही भावों को संयम की डोरी से बाँधकर अपने विशाल हृदय की उच्चता का परिचय दिया। जीवन और जगत् की ओर से निराशा और वेदना की भेंट होने पर कवि प्रायः विद्रोही हो जाता है। अंग्रेजी में Byron और हिन्दी में श्री भगवतीचरण वर्मा ऐसे ही कवि हैं। लेकिन पंत का व्यक्तित्व कुछ इतना गंभीर है कि उनका हृदय मक्खन की तरह, पहले की तरह आज भी मृदुल और कोमल बना है। उनके हृदय का यह संयम और संतुलन उनकी महानता का सूचक है।

इस तरह पंत की भावुकता चिन्तना में परिणत हो जाती है। वह 'पल्लव' की सृष्टि करता है। उसके मानस में अब वसन्त की वह मादकता नहीं रही, जो पहले थी, अब वह सौन्दर्य को देखकर विस्मित नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि इस सौन्दर्य में वेदना छिपी है, व्यथा है। 'पल्लव' का कवि पहली बार 'वीणा-ग्रन्थि' के व्यक्तिगत सीमित संसार की चहारदीवारी से निकलकर विश्व को समझने की कोशिश करता है। वह अपने हृदय की वेदना को समस्त सृष्टि में व्याप्त पाता है :

विश्व-वाणी ही है क्रन्दन
विश्व का काव्य अश्रु-कण !

यहाँ से कवि का दृष्टिकोण फिर बदलने लगता है। वह जीवन के रहस्य को जानने के लिए उत्सुक होता है। निरीक्षण, मनन और चिन्तन के उपरांत वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि संसार में सुख-दुःख अन्योन्याश्रित हैं। ये एक-दूसरे के पूरक हैं। इतना ही नहीं, जब वह यह देखता है कि :

'मूँदती नयन मूँदती रात
खोलती नवजीवन की प्रात।

तो उसको यह पूर्ण विश्वास हो जाता है कि जन्म-मरण, संयोग-वियोग जीवन के आवश्यक अङ्ग हैं। उसकी परिपूर्णता में इनका सक्रिय हाथ है। कवि की वेदना ने चिन्तक पंत को जन्म दिया। अब वह प्रकृति के बाह्य सौन्दर्य का निरीक्षक नहीं रहा, मानव-हृदय का पारखी हो गया। प्रकृति के उपादान उसे किसी अज्ञात सत्ता की झाँकी देने लगे। 'पल्लव' की 'मौन-निमंत्रण' कविता इसी भाव की ओर संकेत करती है। 'गुञ्जन' के पहले पन्त की काव्य-चेतना की यही संक्षिप्त पृष्ठ-पीठिका है, जिसके आधार पर 'गुञ्जन' का मानव-महल खड़ा किया गया है।

'गुञ्जन' पंत की समस्त रचनाओं का वह संगम है, जहाँ कवि की समग्र भाव-लहरियाँ एकत्र होकर भँवर पैदा करती हैं; जिनके वात्या-चक्र में प्रवेश पाना साधारण व्यक्तित्व के लिए आसान नहीं। 'गुञ्जन' कवि-जीवन की साधना का वह

: ८ :

चन्द्रगुप्त : ऐतिहासिक दृष्टि से

प्रसाद की नाट्य-कला का महत्त्वपूर्ण तत्त्व उनकी ऐतिहासिकता है। उनके गंभीर अध्ययन और मनन का अनुमान हम उनके ऐतिहासिक अन्वेषणों से कर सकते हैं। उनका ऐतिहासिक ज्ञान नाटकों की लम्बी-चौड़ी शुष्क भूमिका तक ही सीमित न था। उन्होंने अपनी खोजों के तर्क-संगत प्रमाण भी दिये हैं। अतीत की टूटी लड़ियों को एकत्र करने का जो कार्य प्रसाद ने किया है वह सराहनीय है। यौवन की मस्ती में मस्त इस नाटककार ने अपनी कल्पना और भाव-भंगिमा से इतिहास के रूखे-सूखे पृष्ठों में जीवन का रस डाल दिया है। अतीत के रंगीन चित्र हमारी आँखों के सामने नाचने लगते हैं। 'इतिहास के खंडहरों में भी इसी मस्ती से रमने वाला यह लेखक इस दृष्टि से भी भावना और विज्ञान के समन्वय की प्रतिमा बनकर साहित्य-जगत् में उपस्थित हुआ।' अपने नाटकों में प्रसाद इतिहासकार ही नहीं, एक कलाकार भी हैं। उन्होंने अपनी कल्पना से कई घटनाओं तथा पात्रों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किये हैं।

प्रसाद के समस्त ऐतिहासिक नाटकों में सम्भवतः 'चन्द्रगुप्त' ही एक ऐसा नाटक है जिसके प्रायः सभी प्रमुख पुरुष पात्रों के नाम इतिहास में मिलते हैं। उनमें नन्द, राक्षस, वररुचि, चन्द्रगुप्त, शकटार, चाणक्य, पर्वतेश्वर और आंभिक तथा यवनों में सिकन्दर, सिल्यूकस, फिलिप्स, मेगास्थनीज—सभी इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। स्त्री-पात्रों में कल्याणी और कार्नेलिया की चर्चा भी इतिहास-ग्रन्थों में मिलती है। इसी तरह इस नाटक की प्रमुख घटनाएँ इतिहास-सम्मत हीं हैं। इसकी कथा के लिए प्रसाद ने प्रायः उन्हीं ऐतिहासिक घटनाओं को चुना है जो या तो ऐतिहासिक तथ्य के रूप में प्रचलित हैं या जिनके विषय में इतिहास-लेखकों में मतभेद है। प्रसाद ने इतिहास के विवाद-ग्रस्त विषयों तथा प्रश्नों का उचित समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा करके अपनी ऐतिहासिक बुद्धि की तीक्ष्णता का परिचय दिया है। 'चन्द्रगुप्त' के अध्ययन के सिलसिले में सबसे पहले यह देखना चाहिए कि किन ऐतिहासिक उद्देश्यों से अनुप्राणित होकर प्रसाद ने इसकी रचना की है।

भारत ग्रीकों से कभी पराजित नहीं हुआ

यूनानियों को दो बार भारत में आगे बढ़ने से रोकना और अपने देश से उन्हें निकालकर स्वतंत्र भारत की कीर्ति की उज्जवलता बनाये रखना इस नाटक

का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। चन्द्रगुप्त और चाणक्य देश के स्वातंत्र्य-गौरव की रक्षा में प्रयत्नशील हैं, जिसकी ओर नाटककार ने प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में ही इसका संकेत कर दिया है। भारत में मुसलमानों के पैर ईसा की १२ वीं शताब्दी में जम सके थे। इसके पूर्व, लगभग पाँच हजार वर्षों तक भारतीय स्वतंत्रता की कीर्ति बराबर उज्ज्वल बनी रही। यदि उस पर थोड़ा-बहुत हल्का धब्बा है तो वह ग्रीकों की पंचनद प्रदेश की विजय का है। पाश्चात्य इतिहास-लेखकों ने अपने पक्षपातवश भारत पर बहुत पुरानी यूरोपीय विजय सिद्ध करने की चेष्टा अपने ग्रंथों में की है। उनके तर्कों का सारांश यह है कि यूनानी सेना का सामना भारतीय सेना न कर सकी थी, इसका परिणाम यह हुआ कि वे (भारतीय) कई बार ग्रीकों से पराजित हुए। विश्व-विजेता सिकन्दर का विचार पंचनद-प्रदेश की विजय से उत्साहित होकर समस्त भारत को पददलित करने का था लेकिन अन्त में अपने विस्तृत साम्राज्य में किसी आंतरिक विद्रोह फूट पड़ने की सूचना पाकर उसने यह विचार स्थगित कर दिया और स्थल-पथ से अपनी सेना भेजकर स्वयं जल-मार्ग से लौट गया। पाश्चात्य इतिहासकारों ने अपने ऐतिहासिक ग्रंथों में उपरिलिखित बातों को प्रमाणित करने में ही अपनी सारी बल-बुद्धि का दुरुपयोग किया है। प्रसाद के नाटक 'चन्द्रगुप्त' में उपर्युक्त ऐतिहासिक विश्वासोंका खण्डन किया गया है।

सिकन्दर विजयी नहीं, पराजित था

इधर की ऐतिहासिक खोजों से पता चला है कि विदेशी इतिहासकारों का उपर्युक्त विश्वास नितांत पक्षपातपूर्ण और कपोल-कल्पित है। सिकन्दर के भारत-विजय का विचार स्थगित करने और विश्वविजय का सुनहला सपना भंग होने का मूल कारण कुछ दूसरा ही था। वह यह कि सिकन्दर की सेना पर भारतीय वीरों का आंतक बैठ गया था। यह बात वर्तमान यूरोपीय इतिहास-लेखकों ने भी स्वीकार की है कि पर्वतेश्वर की सेना ने यूनानियों का जिस वीरता के साथ सामना किया वह सिकन्दर को अभूतपूर्व और अति उन्नत जान पड़ी। इसी लिए उसने पौरव (पुरु) से संधि करना उचित समझा। यूनानी सेना का साहस टूट चुका था। इसी समय सिकन्दर को मगध की उस लक्षाधिक सेना के संगठित होने की सूचना मिली जो पौरव की सेना से अधिक कुशल और शक्तिशालिनी थी। सिकन्दर ने मगध की सेना का सामना करने के लिए अपनी सेना को बार-बार समझाया लेकिन आगे बढ़ने से उसने इन्कार कर दिया। विवश होकर सिकन्दर को रावी-तट से लौट जाना पड़ा। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' की रचना इसी दूसरी ऐतिहासिक खोजपूर्ण बातों को सामने रखकर की गई है। प्रसाद ने यह सिद्ध करना चाहा है कि भारत में रावी तट तक सिकन्दर के बढ़ आने का कारण था पंचनद-प्रदेश (पंजाब) का उस समय छोटे-छोटे राज्यों में बँटा होना, जिसमें पारस्परिक संगठन का सर्वथा अभाव था। परन्तु पर्वतेश्वर की पराजय से चिन्तित होकर स्वदेश की स्वतंत्रता को संकट में जानकर अनेक भारतीय

युवक सचेत हुए और उन छोटी-छोटी शक्तियों को उन्होंने इस तरह संगठित किया कि यवन-सेना को लौटते समय पग-पग पर बाधाओं और विरोधों का सामना करना पड़ा। उन्हें अनेक प्रकार की क्षति सहनी पड़ी। स्वयं सिकन्दर ऐसे ही एक युद्ध में घायल हुआ। कुछ इतिहासकारों का तो यहाँ तक कहना है कि इसी घाव के कारण बैबिलोनिया में उसकी मृत्यु हो गई।

लगभग २० वर्षों के बाद नये यूनानी सम्राट् सिल्यूकस ने अपने पूर्वाधिकारी सिकन्दर के अधूरे अरमान को पूरा करने का पुनः साहस किया। भारत की स्थिति इस समय तक बदल चुकी थी और छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर मगध के चक्रवर्ती सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का सुशासन था। सिल्यूकस इस परिवर्तन से पूर्णतः अवगत था और इसलिए इसके साहस की हमें प्रशंसा करनी चाहिए। दो-चार छोटे-मोटे स्थानों को जीतने के बाद यूनानियों की भिड़न्त मगध की चतुरंगिणी सेना से हुई। चाणक्य की कूटनीतियुक्त दूरदर्शिता ने यूनानी सेना को भागने का रास्ता तक न दिया। अन्त में सिल्यूकस को चन्द्रगुप्त से सन्धि करनी पड़ी और विजित प्रदेशों के साथ अपनी कन्या भी उसको सौंपने में उसने गौरव समझा। प्रसाद का नाटक 'चद्रगुप्त इतिहास की इसी पृष्ठभूमि पर खड़ा किया गया।

चन्द्रगुप्त मौर्य पिप्पलीकानन वासी क्षत्रिय वीर था, शूद्र नहीं

चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में विद्वानों का गहरा मतभेद है। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर 'मौर्य' की उत्पत्ति एक शूद्रा मूरा से उत्पन्न चन्द्रगुप्त के जन्म से बताते हैं। यह भ्रांति विशेषतः ग्रीक इतिहासकारों के कारण आरम्भ हुई अथवा यह भी हो सकता है कि नंद-वंश-विषयक जनश्रुति चन्द्रगुप्त पर आरोपित की गई हो। कुछ इतिहासकारों का यह भी कहना है कि चन्द्रगुप्त महानन्द का पुत्र था, परन्तु यह बात अब अब प्रायः सभी विद्वानों के मत से भ्रान्ति ठहरती है। ऐसे बहुत-से प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह पता चलता है कि चन्द्रगुप्त और नन्द-राजकुमारी में प्रेम-संबन्ध था। कालान्तर में उन दोनों का विवाह भी हुआ और उन्हीं की सन्तान बिन्दुसार थी जो चन्द्रगुप्त के बाद शासक हुआ। इसका स्पष्ट उल्लेख श्री टी० एल० शाह के 'Ancient India' vol II में किया गया है। तीसरी प्रामाणिक बात यह जिसकी ओर प्रसाद जी ने भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, कि चन्द्रगुप्त वीर क्षत्रिय था और उसका जन्म पिप्पलीकावन (वन) के मोरिय जाति के क्षत्रियों में हुआ था। इतिहासकार वी० ए० स्मिथ (V. A. Smith) ने भी इस मत की पुष्टि में बताया है कि नन्दों और मौर्यों का कोई रक्त-सम्बन्ध चन्द्रगुप्त से न था। इन मोरियों का उल्लेख बौद्ध ग्रंथ, 'दीघनिकाय' के 'महापरि-निब्बाण सुद्र' में मिल चुका है। बुद्ध के जीवन-काल में ही वर्तमान गोरखपुर के पूर्व-उत्तर भाग में इन मोरियों। (मौर्यो) का प्रजातांत्रिक राजा था। संभवतः इसी राज्य के किसी क्षत्रिय सरदार का पुत्र चन्द्रगुप्त था। पीछे चलकर यह राज्य महापद्मनन्द के राज्य-विस्तार के कारण मगध के शासन में चला गया और कालान्तर में नन्द की उच्छृंखलता से मुक्त होते ही इच्छा रखने वालों का नायक मौर्य वंशीय चन्द्रगुप्त

हुआ। प्रसिद्ध भारतीय इतिहासकार श्री हेमचन्द्र राय चौधरी ने भी अपनी पुस्तक 'Political History of Ancient India' में इस मत की पुष्टि की है।' ग्रीक इतिहासकार Gustivies का कहना है कि चन्द्रगुप्त के व्यवहार से रुष्ट होकर नन्द ने उसे बन्दी बनाने की आज्ञा दी, जिससे प्राण बचाने के लिए उसे भागना पड़ा। जिन दिनों चन्द्रगुप्त मगध से भागकर सुदूर पश्चिमोत्तर सीमा पर पहुँचा उस समय उसका परिचय एक ब्राह्मण विष्णुगुप्त से हुआ, जिसका शुभ नाम चाणक्य या कौटिल्य था। वह तक्षशिला का निवासी और वहीं के विश्वविद्यालय का स्नातक था। तक्षशिला-विश्वविद्यालय में कोशल, काशी, मल्ल आदि राज्यों के राजकुमार विद्याध्ययन करते थे। यह संस्था विविध शास्त्रों का ज्ञान कराती थी और तत्कालीन समाज और राजनीति के नियंत्रण में उसका प्रच्छन्न हाथ अवश्य रहता था। सिकन्दर के आक्रमण-काल में यही प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र विद्रोह का प्रधान केन्द्र था। वहाँ उस समय कूटविद्या और सैन्य-शास्त्र-विशारद चाणक्य और उनके प्रिय शिष्य चन्द्रगुप्त वर्तमान थे। Habell साहब ने इतिहास के इस पहलू पर काफी विस्तार के साथ अपनी पुस्तक 'The History of Aryan Rule in India' के पाँचवें अध्याय में वर्णन किया है। प्रसाद के नाटक चन्द्रगुप्त की ऐतिहासिक कथा के केन्द्र में तक्षशिला की कूटनीतिज्ञता को काफी महत्त्व दिया गया है।

चन्द्रगुप्त 'वृषल' नहीं था

इनके अतिरिक्त प्रसाद ने एक बहुत ही विवाद-ग्रस्त पर महत्त्वपूर्ण विषय पर अपनी ऐतिहासिक खोजी बुद्धि का निर्णय दिया है। संस्कृत नाटककार विशाखदत्त ने अपने नाटक 'मुद्राराक्षस' में चन्द्रगुप्त को 'वृषल' कहकर संबोधित किया है। इस 'वृषल' शब्द को लेकर आलोचकों में बड़ा भारी विवाद हुआ है। इतिहासकारों ने इस शब्द के विविध अर्थों पर प्रकाश डालते हुए इसकी वैज्ञानिक खोज की है। कोष में 'वृषल' शब्द का अर्थ शूद्र, बौद्ध, चन्द्रगुप्त आदि है। प्रश्न यह होता है कि चाणक्य ने अपने परम प्रिय शिष्य चन्द्रगुप्त को वृषल (शूद्र) शब्द से क्यों सम्बोधित किया जबकि वह (चन्द्रगुप्त) सर्व-गुण-सम्पन्न तथा एक आज्ञाकारी शिष्य था। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' में पर्वतेश्वर और चाणक्य के बीच जो बातें हुईं उसके सिलसिले में चाणक्य ने वृषलत्व की जो व्याख्या की है, वह इस प्रकार है—'आर्य क्रिया-कलापों का लोप हो जाने से इन लोगों (मौर्यों) को वृषलत्व मिला, वस्तुतः ये क्षत्रिय हैं। बौद्धों के प्रभाव में आने से इनके क्षत्रिय होने में कोई संदेह नहीं है।'

ग्रीक शब्द-कोष में एक शब्द Bacilio आया है, जिसका अर्थ है 'राजा'। यह निर्विवाद है कि मौर्यों का सम्बन्ध और विशेषतः चन्द्रगुप्त का, ग्रीकों से अवश्य हुआ था। सिल्यूकस ने उसके साथ वैवाहिक सम्बन्ध (Matrimonial alliance) स्थापित किया था। संभव है कि ग्रीकों के सम्पर्क में आने से चन्द्रगुप्त को लोग Bacilio शब्द से संबोधित करते रहे हों और पीछे चलकर

बौद्धों के प्रभाव से उस शब्द का उच्चारण विकृत हो गया हो—'वैसिलियो' से 'वृषल' हो गया हो, जो एक आदर-सूचक शब्द है।

प्रसाद के नाटक 'चन्द्रगुप्त' में बहुत-से विवाद-ग्रस्त ऐतिहासिक प्रश्नों का सुलझाव उपस्थित किया गया है। ऊपर मैंने दो-तीन बातों की ओर लक्ष्य किया है। अतः आज इस बात की आवश्यकता है कि प्रसाद के नाटकों का अध्ययन-अध्यापन इतिहास के आलोक में हो। उन्होंने बहुत-सी नई बातें बतलाई हैं, जिनके बारे में हमारे इतिहासकार अब तक मौन रहे हैं। 'चन्द्रगुप्त' के 'वृषलत्व' की व्याख्या उनकी अपनी ऐतिहासिक खोज है। अतः प्रसाद न केवल नाटककार थे, वरन् एक खोजी इतिहासकार भी।

: ६ :

हुंकार

दिनकर एक प्रगतिशील कवि हैं। ऐसा कवि अपने को युग की आवश्यकताओं और परिस्थितियों से संचालित होते हुए भी उनका दास नहीं होता, उन परिस्थितियों को ही बदल डालने की क्षमता उसमें रहती है और हर महान् कलाकार इसी अर्थ में महान् होता है कि उसने अपने युग को बदला है। दिनकर के काव्य में आधुनिक भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याएँ मुखरित हुई हैं और इसीलिए उनका काव्य जीवन-काव्य है, जो जीवन की आवश्यकताओं की प्राप्ति पर बल देता है, विषमताओं का विरोध करता है और विभीषिकाओं को दूर करना चाहता है। उनकी काव्य-कृतियों में, 'हुंकार' का इसलिए महत्वपूर्ण स्थान है कि यहीं से कवि ने जीवन की वास्तविकता को समझने-परखने और उस पर टीका-टिप्पणी करने की आवश्यकता समझी। 'हुंकार' के पहले दिनकर 'रेणुका' में अपनी रंगीन कल्पना के चमकीले मोतियों का संग्रह करने में लगे थे। 'हुंकार' में उनके मन-मधुप का गुञ्जन शान्त पड़ गया है। यहाँ उनका कवि जीवन की कठोर वास्तविकता से टक्कर लेता है। समाज की रूढ़ियों, किसान-मजदूर की विवशताओं, देश की निस्सहाय औरतों तथा बच्चों की मुसीबतों को देखकर वह आठ-आठ आँसू बहाता है। देश की गिरती हुई अवस्था को देखकर उसका कलेजा फटने लगता है और फिर आवेश में आकर अपने हृदय की सारी कोमलता को, अपने रंगीन और मधुर सपनों को देश के चरणों में अर्पित करके क्रान्ति का हुंकार भरता है। वह चारण-कवि बनकर देशवासियों को जागरण-मंत्र देता है।

दिनकर के व्यक्तित्व में सामाजिक जागरण का प्रथम विस्फोट 'हुंकार' में ही हुआ है। बदले हुए समय के अनुकूल चलने के लिए ये यहीं विवश हुए। इस काव्य-पुस्तक की प्रथम दो कविताएँ—'आमुख' और 'असमय आह्वान'—कवि के इस काव्य-परिवर्तन को स्पष्ट करती हैं। इस पुस्तक में कवि को अपनी भाव-दिशा बदलनी पड़ी है। युग की विभीषिकाओं ने उनके मानस-संसार में अशान्ति और हलचल पैदा की और उसकी उमड़न ने उनकी भाव-दिशा बदल डाली। कवि के काव्य-इतिहास में ये दो कविताएँ उनके कवि-व्यक्तित्व की काव्य-चेतना को स्पष्ट करने वाली सिद्ध हुई हैं।

दिनकर का निर्माण वर्तमान युग की आवश्यकताओं ने किया है। इतिहास-प्रेम होने के कारण ये ऐतिहासिक चेतना को अपने काव्य की लीक बनाकर सदैव चलते रहे हैं। वर्तमान ऐतिहासिक घटनाओं से इनका काव्य सदैव प्रेरित और प्रभावित होता रहा है। 'हुंकार' में उनकी कविता की जो दिशा बदली है, उसका मूल कारण देश की निर्धनता और परतंत्रता है, जिसकी करुण पुकार से कवि का हृदय आन्दोलित हो उठा। किसी भी परतंत्र देश मे दिनकर-जैसे कवि का जन्म लेना एक स्वाभाविक बात है। इससे उस देश की महानता का परिचय मिलता है। कालेज-जीवन में ही इस कवि को, संसार के नक्शे में, भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक अवस्था जर्जर और दयनीय दीख पड़ी थी। इसकी गहरी प्रतिक्रिया उसके कोमल मन पर भी हुई। उन दिनों, १९३०-३१ में, देश में क्रांतिकारी विचारों की जड़ जमती आ रही थी। विशेष तौर से बंगाल में क्रांतिकारियों का एक अच्छा-खासा दल तैयार हो चुका था, जिसने ब्रिटिश सरकार से हिंसात्मक लड़ाई लड़ने की ठानी थी। महात्मा गांधी के नेतृत्व में सन् ३०-३१ में होने वाले स्वाधीनता-संग्राम के आन्दोलन ने भी कवि के मन को अच्छी तरह झकझोरा था। वह आत्म-विरोधी विचारों के बीच दोलायमान हो उठा। उसके मानसिक संघर्ष की अभिव्यक्ति 'असामयिक आह्वान' में हुई है।

'हुंकार' से पहले दिनकर या तो अपने मन: कल्पित मधुर सपनों की रागिनी गाते थे या प्राचीन गौरव के अवशिष्ट चिन्हों पर करुण गीले गीत लिखते थे। 'हुंकार' की 'आमुख' शीर्षक कविता इस पुस्तक की भूमिका है जो यह बतलाती है कि कवि ने अपने काव्य में दिशा-परिवर्तन क्यों किया? उसके हृदय की कोमल रंगीन कल्पनाएँ क्यों छिन्न-भिन्न हो गईं? अरमानों की बस्ती को जलाकर खाक क्यों कर दिया गया? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर 'हुंकार' की प्रथम दो कविताओं में दिये गए हैं। देश की गरीबी के प्रति अत्यधिक जागरूक होने के कारण दिनकर अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी हो गए। एक लेखक ने ठीक ही लिखा है कि "विषम परिस्थितियों के रहते हुए भी दिनकर के हृदय के किसी कोमल तन्तु और सुकुमार भावना ने ही उन्हें कवि बना दिया था; अन्यथा वह राजनीतिक क्षेत्र में कूदकर दुर्द्धर्ष आतंकवादी बन जाते। ठीक इसके विपरीत, सचाई यह है कि यदि युग की विभीषिका काफी प्रबल नहीं होती तो वह निश्चय ही सौन्दर्य के भावुक और प्रेम के गायक होते।"[1] दिनकर यदि युग की वास्तविक चेतना के प्रति अपनी आँखें बन्द कर लिये होते तो वे निस्संदेह छायावाद की कुहेलिका में जा छिपते और तब हम उन्हें उसी अर्थ में 'छायावादी कवि' की संज्ञा देते जिस अर्थ में पन्त, महादेवी, प्रसाद, निराला इत्यादि को दी गई है। दिनकर को छायावादी कवि का संस्कार जन्म से ही मिला था। 'रेणुका', 'रसवन्ती' में उन्होंने छायावादी सौन्दर्य-चेतना का जो परिचय दिया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके काव्य का प्रकृत प्रवाह किस ओर उन्मुख हो सकता था। लेकिन 'कल्पना-कुमारी' का साथ न देकर उन्हें 'क्रान्ति-कुमारी' को

१. 'दिनकर और उनकी काव्य कृतियाँ,' पृ० ६३

अपनी जीवन-संगिनी बनाना पड़ा। युग की विषम परिस्थितियाँ उन पर इतनी अधिक हावी हुई कि वह उनसे अपनी रक्षा न कर सके। माँ-भारती की करुण पुकार ने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया। कवि ने अपनी नंगी आँखें खोलकर देखा—संसार की प्रगति के मार्ग को असुरों ने अवरुद्ध कर दिया है, ये उसे फलने-फूलने और उन्नति नहीं करने देते। शोषक और शोषित तथा शासक और शासित का संघर्ष बढ़ता जा रहा है। समय बदल चुका है। कवि को भी समय के अनुकूल काम करना पड़ता है। लेकिन उसके भी अपनी इच्छाएँ होती हैं। क्या वह उन्हें अनसुना कर दे? यह कैसे हो सकता है? जवानी के दिनों में कोमल भाव तथा रंगीन कल्पनाएँ अठखेलियाँ करती ही हैं! व्यक्तिगत सुख-दुःख की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति सत्य अवश्य होती है, लेकिन इनसे देश तथा समाज को क्या लाभ? 'रेणुका' में कवि ने अपने हृदय के उमड़ते हुए भावों को इन पंक्तियों में व्यक्त किया :

> भावों के आवेग प्रबल,
> मचा रहे उर में हलचल।
> कहते उर के बाँध तोड़,
> स्वर स्रोतों में बह-बह अनजान।
> तृण-तल, लता-गुल्म, जल-थल को,
> छा लेंगे हम बनकर गान।

लेकिन, इसके विपरीत, 'हुंकार' में कवि को अपने ऊपर इतना भी अधिकार नहीं रहा कि रजनी-रानी के आगमन पर वह झींगुरों के स्वर में अपनी प्रिया की नूपुर-ध्वनि का अनुभव कर सके, पूर्णिमा के चाँद की अनुपम शोभा देखकर अपने जी की थकान मिटा सके, स्निग्ध और शीतल चाँदनी में दो क्षण बैठकर अपने प्राणों को विश्राम दे सके। वह अपनी सरस्वती से प्रश्न करता है :

> देवि, कितना कटु सेवा धर्म,
> न अनुचर का निज पर अधिकार,
> न छिपकर भी कर पाता हाय!
> तड़पते अरमानों को प्यार![1]

सेवा धर्म बड़ा कठोर होता है। इसके सामने व्यक्तिगत सुख-दुःख तथा आशा-निराशा का कोई महत्त्व नहीं होता। जो देश परतंत्र है, जहाँ सर्वत्र शोषण की आग लगी हो, पेट की ज्वाला से लोग तड़प रहे हों—ऐसी विषम घड़ी में कवि अपने ही सुख-दुःख की चारदीवारी में बंद रहकर अपनी मन कल्पित स्वप्न-प्रिया की मनुहार में लगा रहे, इससे बढ़कर लज्जा और पुरुषार्थहीनता की बात और क्या हो सकती है? 'हुंकार' में दिनकर के सामने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई है। उनकी मानसिक स्थितियों की उलझन इन पंक्तियों में ट पड़ी है :

१. 'हुङ्कार,' पृ० ६

चाँदनी की अलकों में गूँथ
छोड़ दूँ क्या अपने अरमान !
आह ! कर दूँ कलियों में बंद
मधुर पीड़ाओं का वरदान !

यह है कवि का तीव्र मानसिक संघर्ष, जिसको भेदकर वह खुले वातावरण में निकल आना चाहता है।

'हुंकार' की रचना उस काल में हुई थी जब दिनकर केवल ३० साल के नौजवान थे। इस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के मन में रंगीन कल्पनाएँ अठखेलियाँ करती ही हैं। कवि तो स्वभाव से ही कल्पना का धनी और अनुभूति का राजा होता है। दिनकर को अपनी जवानी के दिनों में अपने हृदय की व्यक्तिगत कोमल भावनाओं से काफी समय तक तीव्र संघर्ष करना पड़ा था। जवानी के तपते दिनों में मधुर आशाओं का बलिदान करने के लिए बहुत बड़े साहस और धैर्य की आवश्यकता होती है। दिनकर ने उन दिनों यही किया—अपने समाज के लिए, देश के लिए और मानवता के लिए। उन्होंने समष्टि के लिये व्यष्टि की आहुति दे दी। उन्होंने देश के निर्धन किसान-मजदूरों की करुण पुकार सुनी, जो उनके हृदय में उठने वाली आँधी से अधिक मार्मिक और प्रचंड सिद्ध हुई। अन्त में कवि ने 'बीन के तार' को तोड़-मरोड़कर फेंक दिया और 'भैरव हुंकार' करने के लिए 'चाँदी का उज्ज्वल शंख' उठा लिया तब माँ-भारती के सामने नतशिर होकर आश्वासन-भरे शब्दों में कहा :

नहीं जीते जी सकता देख,
विश्व में झुका तुम्हारा भाल।
वेदना-मधु का भी कर पान,
आज उगलूँगा गरल कराल।[1]

तभी कवि के मानस में वीरता, ओज और उत्साह का, संचार हो उठा। वह अगस्त्य की तरह सागर को सोखने के लिए, जग के खांडव-वन में आग लगाने के लिए, पूँजीपतियों (वासव का देश) को लूट लेने के लिए, कमर कस लेता है। वर्तमान की जय बोलकर युग के अग्निकुंड में कूद पड़ता है। उसे इस बात का दृढ़ विश्वास होने लगता है कि न केवल भारत में वरन् समस्त एशिया में 'स्वर्ण विहान' और 'नव जागरण' की किरणें फूटकर रहेंगी। इस हुंकार में दिनकर के भावों को नूतन दिशा मिली है जो 'रेणुका' से बिलकुल भिन्न है। इतना ही नहीं, कवि की कविता-कामिनी भी वेणी के बंधन खोलकर क्रान्ति-कुमारी का रूप धारण कर लेती है :

'मुक्त केशिनी खड़ी द्वार पर कब से भावों की रानी।'

इस तरह अतीत, नारी और सौन्दर्य का यह भावुक कवि क्रान्ति का राग अशान्ति के सितार पर छेड़ने को तैयार हो जाता है। यह छायावादी कवियों पर व्यंग के

---

१. हुङ्कार पृ० १०

छींटे उछालते हुए कहता है 'कवि ! तुम बैठे-बैठे कोमल भावों की कविता लिखो। तुम धरती के सुख-दुःख की बातें गीतों में न लिखकर काल्पनिक स्वप्नलोक के भाव गीतों में भर जीवन के साथ खिलवाड़ करो। मैं तो इस समय वर्तमान विश्व में प्रकाश और अंधकार के बीच छिड़े हुए युद्ध का चारण बनूँगा—नये जागरण का वैतालिक बनूँगा।' यथा :

अमृत गीत तुम रचो कलानिधि ! बुनो कल्पना की जाली,
तिमिर ज्योति की अमर-भूमि का मैं चारण, मैं वैताली।[1]

दिनकर के काव्य-पथ पर 'हुंकार' वह मील-स्तंभ है जहाँ से उसकी दिशा सर्वथा दूसरी ओर मुड़ गई है और जो अब तक के काव्य-विकास में राज-पथ का काम करता है। यहीं से दिनकर का काव्य एक निश्चित दिशा की ओर अग्रसर हुआ है जिसकी परिणति 'कुरुक्षेत्र' में हुई है। अतः उनकी काव्य-कृतियों में 'हुंकार' का वही स्थान है जो स्थान पंत की कृतियों में 'गुञ्जन' का, फूलों में पराग का, शरीर में आत्मा का और अँगूठी में नगीने का होता है। यह कवि के व्यक्तित्व का सार रूप है। उनकी कृतियों में सबसे अधिक लोकप्रियता भी इसी काव्य-पुस्तक को मिली है।

इसके अतिरिक्त, हुंकार न केवल कवि के दिक्-परिवर्तन का सूचक है, वरन् यह हिन्दी-काव्य-साहित्य की बदली हुई प्रवृत्तियों का भी परिचायक है। इस काव्य-कृति ने आधुनिक हिन्दी-कविता के इतिहास में एक सर्वथा नूतन अध्याय खोला है। इसके प्रकाशन ने हिन्दी-संसार में खलबली मचा दी थी। हिन्दी के सजग पाठकों ने तभी यह अनुमान किया था कि हिन्दी-कविता अब छायावाद की कुहेलिका से बाहर निकलकर, स्वच्छ तथा निर्मल वातावरण में साँस लेकर, तथाकथित 'प्रगतिवाद' के लिए क्षेत्र बनाने निकली है। साथ ही, यह भी सिद्ध हुआ कि हिन्दी के कल के छायावादी कवि आज के प्रगतिशील क्यों हुए। वस्तुतः दिनकर ने ही सर्वप्रथम युग की कठोर पुकार सुनी और उसके अनुरूप अपने काव्य का स्वरूप निश्चित किया। यों तो हिन्दी में प्रगतिवाद का श्रीगणेश सन् १९३५ से ही माना जाता है, लेकिन 'ग्राम्या' से भी पहले दिनकर इस क्षेत्र में आ चुके थे। सच तो यह है कि सन् '३५ के बाद हिन्दी की वर्तमान कविता की दिशा में परिवर्तन लाने का एकमात्र श्रेय दिनकर को ही दिया जाना चाहिए, क्योंकि उन्होंने ही हिन्दी-कविता को वस्तुवादी आवरण दिया और उसे भाव-लोक से उतारकर वस्तु-लोक की ठोस भूमि पर खड़ा किया। इस कवि की प्रथम कृति 'रेणुका', जिसकी रचना सन् '३५ में हुई थी, में भी काव्य की इस नई प्रवृत्ति का दर्शन हुआ है। अतः दिनकर का 'हुंकार' हिन्दी-साहित्य के इतिहास में नवयुग का जागरण-संदेश लेकर आया, जिसने हिंदी की वर्तमान कविता का नेतृत्व करके नये आवेगशील कवियों को प्रेरित किया। हिन्दी के आलोचकों तथा इतिहासकारों ने पन्त की 'ग्राम्या' (सन् १९४०) को प्रगतिवाद की प्रथम रचना कहा है, लेकिन खेद है कि 'हुंकार' पर, जिसका प्रकाशन सन्

१. 'हुङ्कार' : आमुख

'३८ में ही हो चुका था, किसी का ध्यान नहीं गया। यदि 'रेणुका' का समीपी अध्ययन किया जाय तो यह समझते देर न लगेगी कि दिनकर का प्रगतिवादी स्वर इसमें भी मोती के दाने की तरह यत्र-तत्र बिखर गया है :

मैं बलिष्ठ आशा का सुत हूँ,
विहँस रहा नित जीवन-रण में।
तंद्रा, अलस मुझे क्यों घेरें,
मैं अविरत तल्लीन लगन में।[1]

× × ×

कवि! असाढ़ की इस रिमझिम में धन खेतों में जाने दो,
कृषक-सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो।
दुखियों के केवल उत्सव में इस दम पर्व मनाने दो,
रोऊँगी खलिहानों में, खेतों में तो हर्षाने दो।[2]

× × ×

गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो,
लगे आग इस आडम्बर में।
वैभव के उच्चाभिमान में,
अहंकार के उच्च शिखर में।
स्वामिन, अन्धड़-आग बुला दो,
जले पाप जग का क्षण-भर में।[3]

अपनी अनेकानेक कविताओं में दिनकर ने अपने कवि का परिचय अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दों में दिया है। हिन्दी के प्राचीन कवियों ने भी आत्म-परिचय दिया था। लेकिन इस कवि के आत्म-परिचय में आत्म-श्लाघा अधिक व्यंजित हुई है। 'आलोक-धन्वा' में दिनकर ने अपने नाम की सार्थकता सिद्ध की है। यहाँ वे अपना परिचय देते हुए अपने को संसार में आलोक और जागरण का संदेश-वाहक कहते हैं। यहाँ उन्होंने 'जहाँ न जाये रवि, तहाँ जाये कवि' कहावत को सत्य-रूप देने की चेष्टा की है। कवि स्पष्टतः कहता है—'मैं पूर्व का सिंह हूँ। मेरे कंधे के बाल तप्त सोने-जैसे हैं। मेरा मुकुट अग्निमय है। मेरे रथ में प्रकाश के घोड़े जुते हुए हैं और किरणों में मेरे ज्वलन्त गीत पिरोये हुए हैं। जब संसार में चारों ओर अंधकार फैला था, तब मैं चमचमाता कमल-जैसा उदित हुआ।' इस कविता में एक ही भाव की पुनरावृत्ति हुई है जो मन को उबाने वाली है। कवि अपने को क्रान्ति का कवि और सन्देश-वाहक कहता है। इतनी ही-सी बात कहने के लिए वह शब्दों की झड़ी लगा देता है। इसी तरह, 'परिचय' शीर्षक कविता में भी कवि ने अपने कवि-व्यक्तित्व का परिचय देते हुए आकाश और जमीन के

१. 'रेणुका', पृष्ठ ४०
२. 'रेणुका', पृष्ठ ११
३. 'रेणुका', पृष्ठ ३

मुँह मिलाए हैं। इसमें जब वह कहता है कि संसार में वह एक निश्चित संदेश लेकर आया है और वह है संसार से अत्याचारों का विनाश, तो दिनकर की असाधारण शक्ति तथा शौर्य का परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त, कवि ने जहाँ-तहाँ अपने दुहरे व्यक्तित्व को भी स्पष्ट कर दिया है। एक ओर तो वह दलितों के मौन हाहाकार, नंगे, भूखे और शोषितों के कातर क्रन्दन से प्रभावित होकर भैरव हुंकार भरने के लिए उठ खड़ा होता है तो दूसरी ओर वह अपने हृदय की सुप्त व्यथित भावनाओं को कुरेदकर आँखों को सजल करता है; जिसमें तड़पन है, जलन है और बेचैनी है। डा० नरेन्द्र ने ठीक ही कहा है कि "दिनकर का व्यक्तित्व मूलतः शृङ्गारी नहीं है। परन्तु उन्होंने शृङ्गार को जीवन की एक अत्यन्त स्वस्थ प्रवृत्ति के रूप में ग्रहण किया है और उसका वांछित आदर किया है। दिनकर ने अपने को संघर्ष-रथ का पथिक मानते हुए शृङ्गार को सुखद विराम-स्थल माना है।" कवि की सौन्दर्य-प्रियता ने दिनकर को कई बार जहाँ-तहाँ ठगा है; जिसका परिणाम यह हुआ है कि वह कई बार अपने हाथ से छूट गया है। प्रातःकाल की मधुरिमा को देखकर कवि का रोम-रोम पुलकित हो उठता है। उसका अवचेतन मन बोल उठता है :

> सुन्दरता को जगी देखकर जी करता मैं भी कुछ गाऊँ,
> कवि हूँ, आज प्रकृति-पूजन में निज कविता के दीप जलाऊँ,
> ठोकर मार भाग्य को फोड़ूँ, जड़ जीवन तजकर उड़ जाऊँ,
> उतरी कभी न भू पर जो छवि, जग को उसका रूप दिखाऊँ।[1]

यह है उस कवि की सौन्दर्य-पिपासा, जिसने कभी अपने को छायावाद के माया-लोक में जान-बूझकर बँध जाने दिया था। कवि की कोमल वृत्तियाँ प्राकृतिक सौन्दर्य का दर्शन करके शून्य में उड़ान भरने के लिए मचल पड़ती हैं; लेकिन कवि शीघ्र ही अपनी उच्छृंखल भावनाओं को रोककर ग्रामीण जीवन की विषमता, वेदना, निर्धनता, इत्यादि का करुण वर्णन करने में प्रवृत्त हो जाता है। प्रकृति के आकर्षक दृश्य उसके भावुक हृदय को भावावेश से भर देते हैं, लेकिन तुरन्त ही वह सजग होकर किसानों-मजदूरों का दुःख-दर्द सुनने लगता है। यह कवि का भावावेश ही तो है कि गाँवों में निर्धनता, दीनता और निरक्षरता का अट्टहास सुनने वाला यह कवि ग्रामीण नारी का रोमांटिक चित्र आँक जाता है। जिस गाँव में किसानों को सूखी रोटी भी नसीब नहीं होती, जहाँ दम्पति अर्द्धनग्न रहती है, जहाँ कर्ज का बोझ हल्का करने के लिए औरतों के गहने और फटे-पुराने कपड़े बेचे जाते हैं, वहाँ पनघट पर 'पीत-वसना युवती सुकुमार' अपनी पतली कमर पर गागर लिये कैसे मटक-मटककर चल सकती है। यथा :

> पनघट से आ रही पीत-वसना युवती सुकुमार,
> किसी भाँति ढोती गागर, यौवन का दुर्बल भार।[2]

---

१. 'हुङ्कार', पृष्ठ ६३
२. 'हुङ्कार', पृष्ठ ३२

उपर्युक्त पंक्तियों में दिनकर, वास्तव में, अपने हाथ से छूट गए हैं। इस तरह की रूमानी तस्वीर रजत-पट पर ही देखने को मिलती, या 'ग्राम्या' की पंक्तियों में। यह है कवि का भावावेश, सौन्दर्य-प्रियता तथा शृंगारिक भावों का अनुराग, जिसको नवयुवक कवि रोकने में अपने को असमर्थ पाता है। दिनकर को यदि समाज की विषमता और देश की परतंत्रता नहीं अखरती तो वे निश्चय ही प्रकृति तथा नारी के सौन्दर्य के शुद्ध छायावादी कवि होते। लेकिन सौभाग्यवश ऐसा नहीं हुआ।

: १० :

कुरुक्षेत्र

सामान्य प्रेरक शक्ति

'मिट्टी की ओर' में दिनकर ने कविता की प्रेरक शक्तियों की ओर लक्ष्य करते हुए लिखा है कि "बचपन से ही सुनते रहने पर भी मैं काव्य को केवल आदर्शमयी कल्पना के रूप में ग्रहण नहीं कर सका। वास्तविकता के असन्तोष की जो चिनगारी उड़ती है, वही मेरा स्वप्न है। युगों के दर्पण में कविता-कामिनी का अपार्थिव रूप देखकर शून्य में पंख खोलकर उड़ने की इच्छा जरूर हुई, परन्तु इसे देश की अपमानित मिट्टी का प्रभाव कहिये या मेरा अपना भाग्य-दोष कि कल्पना के नन्दन-कानन में भी मिट्टी की गंध मेरा पीछा नहीं छोड़ सकी। जब तक सत्य का आधार नहीं मिला तब तक स्वप्न के पैर डगमगाते रहे।" दिनकर धरती के गायक हैं, और जो कवि धरती का गायक होता है, वह धरती से दूर, जगत् के कोलाहलमय वातावरण से दूर—'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे' का अलाप करके किसी निर्जन में, जहाँ सागर-लहरी अम्बर के कानों में प्रेम की कथा सुना रही हो—जाना नहीं चाहता। धरती का गायक पलायनवादी नहीं होता। वह इस जीवन के दुःख और दर्द, आशा और निराशा के बीच रहकर जग-जीवन के स्पंदनों को अपनी अनुभूतियों के माध्यम से कलात्मक रूप प्रदान करता है। हाँ, उसके हृदय में भी दो क्षण कल्पना के लोक में कल्पना-किशोरी के साथ हरी दूब पर चाँदनी रात में वार्तालाप करने की इच्छा अवश्य उमड़ती है—पर धरती का कोलाहल वहाँ भी उसे चैन नहीं लेने देता और वह बरबस कह उठता है :

> गों की दुनिया दो-एक मिली थी,
> मिट्टी को दी चढ़ा भेंट वह मैंने।[1]

क्योंकि कवि जानता है कि :

> पर नभ में न कुटी बन पाती,
> मैंने कितनी युक्ति लगाई।
> आधी मिटती कभी कल्पना,
> कभी उजड़ती बनी बनाई।

---

[1]. हुङ्कार, पृ० ६४

रह-रह पंखहीन खग-सा मैं,
गिर पड़ता भू की हलचल में।[1]

वास्तव में, दिनकर सामयिक युग के कवि हैं और उनकी कविता में युग की वाणी अँगड़ाई ले रही है। आज के वर्तमान जीवन की जितनी भी कठोर समस्याएँ और विभीषिकाएँ मानव-जीवन को घेर रही हैं, वे सभी दिनकर की कविता में मुखरित हैं। "सफल कवि दृश्य और अदृश्य के बीच का वह सेतु है जो मानवता को देवत्व की ओर ले जाता है। वह अतीत की स्मृति, भविष्य की आशा और युग-धर्म की पुकार है।"[2] सफल कवि के इस सीमा-निर्धारण में दिनकर ने अपने कवि-व्यक्तित्व तथा काव्य की प्रेरक शक्तियों का परिचय दिया है। वास्तव में दिनकर की काव्य-चेतना में अतीत की अमरावती की मीठी याद वर्तमान के युग-धर्म की आकुल पुकार और भविष्य की सम्मानित आशाएँ हैं।

कुरुक्षेत्र की प्रेरक शक्ति

प्रत्येक कवि, चाहे वह शत-प्रतिशत कल्पना का ही कवि क्यों न हो, युग-धर्म की पुकार की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकता। 'कामायनी'-जैसे प्रागैतिहासिक महाकाव्य में भी, जो प्रतीकात्मक शैली में लिखा गया है, प्रसादजी युग-धर्म की समस्याओं की अवहेलना नहीं कर सके। दिनकर एक ऐसे कवि हैं जिनका स्वप्न धरती का कोलाहल है, जिनकी कल्पना दीन-दुखियों और दलितों की झोंपड़ियों में चक्कर लगाती है, जो बैलों के जोड़ों के साथ घन-खेतों में हँसती और खलिहानों में रोती फिरती है—उनकी कविता में युगाभिव्यक्ति की प्रेरणा स्वाभाविक रूप से काम कर रही है।

दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' में वर्तमान जीवन की कुछ ऐसी ही समस्याएँ हैं, कुछ ऐसी ही विषमताएँ हैं, जो अनायास पाठक के मन को झकझोर देती हैं। मानव-मन में विचारों की तूफानी लहरों का जो संघर्ष हुआ करता है, वही 'कुरुक्षेत्र' का भाव-जगत् बनकर उतरा है। आज मानवता के सामने युद्ध की समस्या प्रमुख स्थान पा चुकी है, 'जो एक निन्दित और क्रूर कर्म है, किंतु इसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर, जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमंत्रण देता है? या उस पर, जो इस जाल को छिन्न-भिन्न कर देने को आकुल है?......ये ही कुछ मोटी बातें हैं, जिन पर सोचते-सोचते यह काव्य पूरा'[3] हुआ है। इसके पहले भी दिनकरजी को अशोक के निर्वेद ने आकर्षित किया था, फलत उन्होंने 'कलिंग-विजय' नामक कविता की रचना की थी, जो 'सामधेनी' में संग्रहीत है। 'कलिंग-विजय' को हम 'कुरुक्षेत्र' की भूमिका कह सकते हैं. पर कई कारणों स यह 'कुरुक्षेत्र' के साथ प्रकाशित न हो सकी। यद्यपि इसके 'कारणों' का उल्लेख

१. हुङ्कार, पृ० २०
२. 'मिट्टी की ओर'
३. 'कुरुक्षेत्र', निवेदन

कवि ने 'सामधेनी' के 'दो शब्द' में नहीं किया है, फिर भी 'कुरुक्षेत्र' की रचना के पीछे एक अलौकिक अतिमानवीय कहानी छिपी बैठी है, जिसे लोग सत्य बतलाते हैं। आज के बुद्धिवादी इस कहानी के तथ्य को सच मानें या झूठ, पर बात सच्ची है, जिसका उल्लेख 'दिनकर और उनकी काव्य कृतियाँ' नामक पुस्तक में प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा (पटना-विश्व-विद्यालय) ने इस प्रकार किया है :

एक अतिमानवीय कहानी

कहानी सन् १९४१ की एक शाम की है। सन् '४१ के ३० जून की संध्या में एक २२ वर्षीय नवयुवक श्रीनिवास, जो उस समय पटना इञ्जिनियरिंग कालेज का स्नातक था, घर लौट रहा था। संध्या रात्रि में बदल रही थी। श्रीनिवास घर से कुछ ही दूर पर था कि उसने संध्या के धूमिल वातावरण में एक छाया देखी। स्वभावतः उसकी जिज्ञासा जाग पड़ी, बोला—'कौन है ?' कोई उत्तर न मिलने पर उसने उस छाया पर एक ढेला फेंका और छाया विलीन हो गई। किसी तरह घर पहुँचते ही वह अपनी चेतना खो बैठा। घर के सभी लोग बड़े चिंतित हुए। उपचार हुआ। थोड़ी देर के लिए मूर्च्छा टूटी, पर तुरन्त ही बेहोश हो गया। इस तरह वह तीन बार चौंककर जगा और फिर-फिर मूर्च्छित होता गया। एक बंगाली ओझा बुलाये गए, पर इस मामले में उनकी बुद्धि भी चकरा गई। श्रीनिवास के संबंधियों ने, प्रेतात्मा का चक्कर समझकर, उससे कुछ प्रश्न किये। उत्तर में प्रेतात्मा ने बड़े ही शिष्टतापूर्ण शब्दों में कहा—'मैं एक जर्मन महिला हूँ, मेरा नाम रोजा लुक्सेमबुर्ग है। पूर्व जन्म में श्रीनिवास के साथ मेरी शादी हुई थी। श्री-निवास एक अंग्रेज जनरल थे, जो प्रथम महायुद्ध में लड़ते-लड़ते मारे गए थे।' उसने आगे बतलाया कि श्रीनिवास को इस समय एक दूसरी दुष्ट प्रेतात्मा ने ग्रस लिया है और वह (प्रेतात्मा जर्मन महिला) इन्हें उस दुष्ट प्रेतात्मा के चंगुल से छुड़ाने आई है। उसने श्रीनिवास के अभिभावकों को विश्वास दिलाया कि उससे इनकी (श्रीनिवास) किसी भी तरह की बुराई नहीं होगी। उसके इस उत्तर से सबकी परेशानी दूर हुई। इस तरह दो-चार दिनों के बाद वह प्रेतात्मा आने लगी। उसके आते ही श्रीनिवास की आँखें बंद हो जातीं और वह मूर्च्छित हो जाता तथा उन्मत्त होकर अंग्रेजी में बोलना प्रारंभ कर देता। सिलसिला लगभग एक साल तक चलता रहा और लोग उस प्रेतात्मा से तरह-तरह के प्रश्न करते और वह अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करती। एक दिन संयोग से दिनकरजी वहाँ आये। लोगों ने उनका परिचय प्रेतात्मा को दिया। उसके (प्रेतात्मा) आग्रह पर दिनकर ने 'कलिंग विजय' शीर्षक कविता सुनाई। कविता सुनते ही वह बहुत क्रुद्ध हुई। उसने कहा—'यह कविता नहीं, कायरपन है। युद्ध, किसी भी अवस्था में, निन्द्य नहीं है, क्योंकि युद्ध के बिना कोई भी देश प्रगति नहीं कर सकता। ऐसी कविता करके देश में कायरता का प्रचार करके देशवासियों को लक्ष्य-भ्रष्ट करने से लाभ ही क्या ? इसी तरह वह युद्ध के पक्ष में बहुत-कुछ बोलती रही।

उस दिन की घटना ने दिनकर को युद्ध पर पुनः दूसरे ढंग से सोचने को

ध्य किया। इसी क्रम में कवि का ध्यान द्वापर की ओर गया, जहाँ युधिष्ठिर विजयी होकर भी युद्ध से विरक्त हो चुके थे। दूसरी ओर भीष्म, जिनके कथन में प्रश्न का दूसरा ही पहलू था। 'आत्मा का संग्राम आत्मा से और देह का संग्राम देह से जीता जाता है।' युद्धान्त की यह कथा ही दिनकर के चिंतन के रूप में, 'कुरुक्षेत्र' में प्रकट हुई है। इस प्रकार यदि हम इस घटना के आधार पर यह कहें कि कलिंग-विजय 'कुरुक्षेत्र' का निमित्त कारण है तो कोई अत्युक्ति न होगी। अस्तु, भाव-जगत् और वस्तु-जगत् का यह संघर्ष, सत् और असत् की यह लड़ाई—'कुरुक्षेत्र' की प्रेरक शक्ति का मूल विषय है। यह समस्या केवल आज की ही नहीं वरन् युग-युग की है। युद्ध और संघर्ष निंदित और क्रूर कर्म क्यों न हो, फिर भी युद्ध देश के लिए आवश्यक है। संसार की सर्वोत्तम आध्यात्मिक पुस्तक गीता भी युद्ध का समर्थन करती है। संसार के सभी महान् दार्शनिकों और विचारकों ने युद्ध को मान्यता दी है, क्योंकि हर युद्ध के बाद मानव-समाज प्रगति-पथ पर चलता होता है। केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही नहीं, व्यावहारिक दृष्टि से भी इस धारणा की सत्यता असंदिग्ध है। गत दो महायुद्धों के बाद हमने देखा है कि जितनी भौतिक और वैज्ञानिक प्रगति विश्व ने की है वह शताब्दियों में भी संभव न थी। यदि ये दोनों महायुद्ध न हुए होते तो आज दुनिया का नक्शा कुछ दूसरा ही होता। इन्हीं कारणों से दिनकरजी को 'कुरुक्षेत्र' में 'कलिंग-विजय' वाली युद्ध की अहिंसात्मक नीति बदलनी पड़ी। उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा है कि अन्याय का अन्त युद्ध से ही संभव हो सकता है। महाभारतकार की यह उक्ति—'मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो, न च धूमायितं चिरम्' मानो भीष्म के पौरुष-निनाद में एक बार फिर गूँज उठी है। यदि अशोक और युधिष्ठिर के निर्वेद का महत्व है तो भीष्म के इस कथन में कि :

> पापी कौन ? मनुज से
> उसका न्याय चुराने वाला,
> या कि न्याय खोजते
> विघ्न का शीश उड़ाने वाला ?

में कम युक्ति नहीं है। यदि अशोक और युधिष्ठिर का निर्वेद आंशिक सत्य है तो भीष्म का पौरुष-निनाद भी कम महत्त्व नहीं रखता। शेक्सपीयर ने भी पौरुष के इस ज्वार का समर्थन ब्रूटस के इन शब्दों में किया है—'There is a tide in the sphere of every men'. भीष्म के पौरुष-निनाद के सामने दिनकर की कविता भूल-सी गई है, क्योंकि हृदय की अपेक्षा बुद्धि अधिक बलवती बन आई है। युद्ध की वर्तमान विकट समस्या ने कवि के बुद्धि पक्ष को अपेक्षाकृत अधिक प्रेरित किया है। 'कुरुक्षेत्र' इसी प्रेरणा का परिणाम है।

सामाजिक विषमता

वर्तमान जीवन की सामाजिक विषमता भी 'कुरुक्षेत्र' की प्रेरक शक्ति है। आज की पूँजीवादी दुनिया में यदि एक ओर समाज का एक वर्ग सुख-समीर की

सुरभित सुवास ले रहा है तो दूसरी ओर दीनता, अपमान और उपेक्षा का उच्छ्वास भर रहा है। कितनी विवशता है आज के शोषित समाज की, कितनी लाचारी है उपेक्षित वर्ग की। दिनकर की निम्नांकित पंक्तियों में इन दो वर्गों की तस्वीरें खींच दी गई हैं :

> विद्युत् की इस चकाचौंध में
> देख दीप की लौ रोती है,
> और हृदय को थाम महल
> के लिए झोंपड़ी बलि होती है।

वर्तमान समाज और सभ्यता की इस विषमता पर दिनकर अपनी कविता में कहीं कृषकों के साथ खलिहानों में आँसू बहाते हैं, तो कहीं सूखी रोटी खाते हुए किसान के लिए तृप्ति और सन्तोष का गंगा-जल ले आते हैं और कहीं बच्चों के लिए दूध की खोज में स्वर्ग के देवताओं पर आक्रमण करते हैं और जब इतने से भी उनका दिल नहीं भरता तो 'दिगम्बरि' के माध्यम से क्रान्ति की पुकार करते हैं :

> क्रांति-धात्रि कविते ! जाग उठ
> आडम्बर में आग लगा दे
> पतन पाप पाखण्ड जलें

वर्तमान समाज के विषम जीवन का समाधान देते हुए 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर कहते हैं :

> शान्ति नहीं तब तक जब तक
> सुख भाग न नर का सम हो,
> नहीं किसीको बहुत अधिक हो
> नहीं किसी को कम हो।
> × × ×
> जब तक मनुज मनुज का यह
> सुख भाग नहीं सम होगा,
> शमित न होगा कोलाहल,
> संघर्ष नहीं कम होगा।

इतना ही नहीं, पूँजीवादी सभ्यता की भाग्यवादी नीति को, जिसके आधार पर शोषकों का दमन-चक्र चला करता है, उन्होंने खुली चुनौती दी है :

> भाग्यवाद आवरण पाप का
> और रक्त शोषण का,
> जिससे रखता दबा एक जन
> भाग दूसरे जन का।

मशीन-युग की बुद्धिवादिता और समन्वय

क्रांति का बिगुल बजाने वाले कवि दिनकर मस्तिष्क का संतुलन खोना नहीं

चाहते। इसीलिए वे अतिशय बुद्धिवादिता में आस्था नहीं रखते। मशीन-युग की अतिशय बुद्धिवादिता ने भी दिनकर को कुरुक्षेत्र में चिन्तन का अवसर दिया है। वर्तमान जीवन की सबसे बड़ी विषमता यही है कि इच्छा, ज्ञान और कर्म तीनों तीन धरातल पर, तीन दिशाओं में मानव-जीवन को खींचे लिये जा रहे हैं। जब तक इनका समुचित समन्वय न होगा, तब तक मानवता सुख और शान्ति का अनुभव न करेगी। प्रसाद जी ने भी युग की इसी विषम भावना को 'कामायनी' में इस प्रकार व्यक्त किया है :

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सकें
यही विडम्बना है जीवन की।[1]

दिनकर ने भी ठीक यही बात बतलाई :

किन्तु, है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष
छूटकर पीछे गया है हृदय का देश ;
न मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।[2]

प्रसाद की तरह दिनकर भी इच्छा, ज्ञान और कर्म के समुचित समन्वय के आकांक्षी हैं। वे कहते हैं :

चाहिये उनको न केवल ज्ञान
देवता हैं माँगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान,
मोम-सी कोई मुलायम चीज,
ताप पाकर जो उठे मन में पसीज-पसीज।[3]

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि आधुनिक जीवन की जितनी भी समस्याएँ और विषमताएँ हैं, वे सभी 'कुरुक्षेत्र' की प्रेरक शक्तियाँ बन गई हैं। महाभारत के प्रमुख पात्रों को दिनकर ने नवयुग की नई दृष्टि से देखा है। ये सभी पात्र महाभारत से भिन्न व्यक्तित्व रखते हैं। आज, विज्ञान के युग में, पुरानी चीजों को विज्ञान की दृष्टि से देखने की एक प्रवृत्ति और परम्परा चल पड़ी है। 'प्रिय-प्रवास' में हरिऔध जी ने कृष्ण और राधा को, 'साकेत' तथा 'यशोधरा' में गुप्तजी ने कैकेयी, उर्मिला और यशोधरा को और प्रभात जी ने 'कैकेयी' में जिस प्रकार कैकेयी को नवयुग की नई दृष्टि से देखा है, उसी प्रकार 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर जी ने भीष्म तथा युधिष्ठिर को नवयुग के नवीन दर्पण में देखा है। 'कुरुक्षेत्र' में हम नवयुग की शंकाओं, प्रश्नों और जीवन-दर्शन को प्रतिबिम्बित पाते हैं। 'कुरुक्षेत्र' के 'निवेदन' में कवि ने लिखा है कि 'कुरुक्षेत्र' की रचना भगवान् व्यास के अनु-

१. कामायनी
२. कुरुक्षेत्र
३. कुरुक्षेत्र

करण पर नहीं हुई है और न महाभारत को दुहराना ही मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ भी कहना था वह युधिष्ठिर और भीष्म के प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था, किन्तु तब यह रचना प्रबंध के रूप में नहीं उतरकर, मुक्तक बनकर रह गई होती।" कवि के इस निवेदन से यह स्पष्ट है कि युद्ध की समस्या को वे एक प्रबंध का रूप देना चाहते थे, यद्यपि प्रबंध के रूप में लाने की कोई निश्चित योजना निर्धारित नहीं कर सके हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रबंध-काव्य लिखने की प्रेरणा भी इस पुस्तक के सृजन में सहायक हुई है।

कुरुक्षेत्र का सातवाँ सर्ग कई दृष्टियों से विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके निर्माण की प्रेरणा कवि को 'देवी भागवत' से मिली है। 'देवी भागवत' की बातों की पुनरावृत्ति इस सर्ग में हुई है। इसके अतिरिक्त 'कुरुक्षेत्र' ने जो जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया है उस पर एक हद तक यूरोपीय दार्शनिक नीत्से के दर्शन का प्रभाव माना जा सकता है, क्योंकि युद्ध के प्रति कवि के विचार नीत्से से बहुत मिलते-जुलते हैं। वास्तव में, हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'कुरुक्षेत्र' एक युगान्तरकारी काव्य-रचना है। सियारामशरण गुप्त के 'उन्मुक्त' के बाद संभवतः दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' दूसरी काव्य-पुस्तक है जिसे हम शुद्ध युद्ध-काव्य की संज्ञा दे सकते हैं।

आरोप और आलोचना

प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक साहित्य' में 'कुरुक्षेत्र' पर लिखा है कि "भीष्म की युद्ध-सम्बन्धी यह धारणा बहुत-कुछ नियतिवादी और अज्ञेय है। हम इतना ही जान पाते हैं कि युद्ध प्राकृतिक विकारों का विस्फोट है। वे विकार कैसे उत्पन्न होते हैं, उनका स्वरूप क्या है अथवा उनके प्रतिरोध का क्या उपाय है, इसका कोई निर्देश प्राप्त नहीं होता।" वाजपेयी-जैसे हिन्दी के चोटी के आलोचक के विरुद्ध कुछ कहने की अथवा लिखने की मुझमें न तो क्षमता है, और न साहस ही। फिर भी सत्याभिव्यक्ति की प्रेरणा मुझे बरबस कुछ कहने को बाध्य कर रही है। वाजपेयी जी 'कुरुक्षेत्र' के युद्ध को 'नियतिवादी' और 'अज्ञेय' बतलाते हैं। इसके साथ वे यह भी कहते हैं कि दिनकर ने युद्ध के विकार के कारणों, इसके स्वरूप और प्रतिरोध का कोई उपाय नहीं बतलाया है। जहाँ तक युद्ध को प्राकृतिक विकारों का विस्फोट मानने का प्रश्न है, मैं वाजपेयी जी से सहमत हूँ, पर जहाँ वे इसे अज्ञेय और नियतिवादी बतलाते हैं, उनसे मेरा विनम्र विरोध है। दिनकर ने युद्ध के प्राकृतिक विस्फोट के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है:

जो जमा होता प्रचंड निदाघ से
फूटना जिसका सहज अनिवार्य है।[1]

इन पंक्तियों में कवि ने युद्ध के कारण को स्पष्ट कर दिया है। ऐसी अवस्था में युद्ध को नियतिवादी और अज्ञेय नहीं कहा जा सकता। दिनकर ने युद्ध के कारणों और उसके स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला है:

---

१. कुरुक्षेत्र

यों ही नरों में भी विकारों की शिखायें आग-सी
एक से मिल एक जलती हैं प्रचंडावेग से,
तप्त होता क्षुद्र अन्तर्व्योम पहले व्यक्ति का
और तब उठता धधक समुदाय का आकाश भी—
क्षोभ से, दाहक घृणा से, गरल ईर्ष्या, द्वेष से।
मड़िढयाँ इस भाँति जब तैयार होती हैं तभी
युद्ध का ज्वालामुखी है फूटता
राजनीतिक उलझनों के व्याज से
या कि देश-प्रेम का अवलम्ब ले।
किन्तु सबके मूल में रहता हलाहल है वही,
फैलता है घृणा से स्वार्थमय विद्वेष से।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने, कुरुक्षेत्र' में, युद्ध के कारणों और उसके स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'कुरुक्षेत्र' में वाजपेयी जी का दूसरा आरोप यह है कि कवि ने युद्ध के प्रतिरोध के उपाय का कोई निर्देश नहीं किया। वाजपेयी जी की इस धारणा का खंडन 'कुरुक्षेत्र' की निम्नांकित पंक्तियाँ स्वतः कर रही हैं :

रण रोकना है तो उखाड़ विषदन्त फेंको,
बक व्याघ्र-भीति से मही को मुक्त कर दो,
अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र
दाँतों में कराल काल-कूट विष भर दो।[2]

एक बात और यह है कि दिनकर ने युद्ध के रोकने के जो उपाय भीष्म के द्वारा बतलाये हैं वे संतोषप्रद नहीं हैं। पर यह कहना कि कवि ने युद्ध के प्रतिरोध के उपायों का कोई निर्देश नहीं किया, कवि की ईमानदारी के साथ अन्याय करना है।

दिनकर जी का यह कथन कि अजा के छागलों को व्याघ्र बनाकर उनके अंगों में विष का कराल काल-कूट भर दो—अनुचित है। क्या यह सम्भव है कि अजा को व्याघ्र में बदल देने से युद्ध रुक जायगा? 'व्याघ्र अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, क्योंकि स्वभाव सर्वथा प्राकृतिक है और जब व्याघ्र के स्वार्थ आपस में टकरायेंगे तो युद्ध के प्राकृतिक और विस्फोटक कारण और अधिक सशक्त और तीव्र होंगे। कवि ने युद्ध की समस्या का जो समाधान दिया है, उससे युद्ध रुकने के बजाय विध्वंसक हो जायगा, जिसकी लपट में सारी दुनिया स्वाहा हो जायगी।

फिर भी दिनकर जी के 'कुरुक्षेत्र' द्वारा युद्ध के मनोविज्ञान पर अच्छा मनन और चिन्तन हुआ है। किसी एक विश्व-जनीन समस्या को लेकर उस पर गहरा चिन्तन करने का यह पहला अवसर था। 'कुरुक्षेत्र' की महत्ता इसी चिन्तना

---

१. 'कुरुक्षेत्र'
२. 'कुरुक्षेत्र'

में निहित है। फिर भी, यह चिन्तन किसी शंकाकुल हृदय का प्रतिफल है, इसे सत्य नहीं कहा जा सकता। युद्ध स्वयं एक चिरन्तन विषय है। सृष्टि के आदिकाल से लेकर अब तक असंख्य युद्ध हुए हैं और सम्भवतः भविष्य में भी होंगे। लेकिन युद्ध ने आज इतना भयंकर रूप धारण कर लिया है जितना पहले कभी नहीं था। सारी दुनिया आज उसकी परिधि में आ गई है। युद्ध निस्सन्देह प्राकृतिक विकारों का विस्फोट है, लेकिन आज नहीं तो कल संसार को मानना होगा कि हिंसा से हिंसा की आग कभी नहीं बुझती। प्राकृतिक विकारों को दूर करने के लिए आध्यात्मिकता के शिखर पर पहुँचना ही होगा। जिस तरह आग को बुझाने के लिए पानी की जरूरत होती है, उसी तरह युद्धाग्नि की प्राकृतिक चिनगारियों को शान्त करने के लिए अध्यात्म और नैतिकता के जल की आवश्यकता पड़ेगी ही। आने वाला युग इस समस्या का उचित समाधान अवश्य निकालेगा, ऐसा विश्वास किया जाता है।

: ११ :

मृगनयनी

आधुनिक हिन्दी-उपन्यास क्रमशः समृद्ध होता जा रहा है। 'चन्द्रकांता संतति' जासूसी तथा तिलस्मी उपन्यासों का युग कभी का लद चुका। आज हर तरह के—सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और समस्या-प्रधान—उपन्यास हिन्दी में प्रकाशित हो रहे हैं। उपन्यास-लेखकों की जमात में वर्मा जी ने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। ऐतिहासिक उपन्यास, उनका अपना प्रयोग है। हिन्दी में ऐतिहासिक नाटक या काव्य तो आ चुके थे किन्तु उपन्यास नगण्य थे। वर्माजी के ऐतिहासिक रोमांस और राहुल जी के ऐतिहासिक अन्वेषणों में बहुत अन्तर है। यों तो वर्माजी ने बहुत-से ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं, पर सबमें 'मृगनयनी' को सबसे अधिक ख्याति मिली है। आलोचकों ने इसे वर्मा जी की 'सर्वश्रेष्ठ कृति' घोषित किया है। उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी इसे पुरस्कृत किया है। यशपाल की 'दिव्या' और चतुरसेन शास्त्री की 'वैशाली की नगरवधू' भी प्रथम कोटि के ऐतिहासिक उपन्यास हैं; किन्तु 'दिव्या' में लेखक की सोद्देश्यता स्पष्ट हो गई है और 'नगरवधू' में अनेक घटनाएँ विचित्र और अश्लील हैं। वर्मा जी की 'मृगनयनी' इन दोषों से सर्वथा मुक्त है। कथानक के सौन्दर्य, घटनाओं की एकसूत्रता, चरित्रों की मनोवैज्ञानिकता, मनोरंजन, संदेश, सभी दृष्टियों से 'मृगनयनी' आधुनिक हिन्दी-उपन्यास के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में एक उत्कृष्ट और सराहनीय रचना है। 'गोदान', 'टूटा तारा', 'शेखर : एक जीवनी', 'चित्रलेखा', 'त्याग पत्र', 'दिव्या', 'नारी'-जैसे उपन्यासों की शृङ्खला में मृगनयनी' भी एक कड़ी है।

एक सुन्दर राजनैतिक मृग-छलना

हिन्दी के एक आलोचक ने 'मृगनयनी' को 'सुन्दर राजनैतिक मृग-छलना' कहा है। स्वभावतः किसी भी साम्यवादी आलोचक को यह उपन्यास पसन्द नहीं आयगा; क्योंकि वर्माजी ने इस उपन्यास में एक कामुक वीर—मानसिंह—को नायक बनाया है, जो राजतन्त्र के संस्मरण में अधिक तत्पर दिखाई पड़ता है। लेकिन प्रश्न यह है कि इस तरह के आक्षेप में तथ्य की गुन्जाइश कितनी है। 'मृगनयनी' के लेखक का इस रचना के पीछे एक उद्देश्य है। इस विषय पर उक्त आलोचक ने, निष्पक्ष भाव से, सोचने का प्रयत्न नहीं किया; क्योंकि उसने यह मान लिया है कि श्री वृन्दावनलाल वर्मा एक बुर्जुआ-परिवार के लेखक हैं, प्रतिक्रियावादी हैं अथवा साम्प्रदायिक भावों के

पोषक हैं। यह कोई आवश्यक नहीं कि 'राजा-रानी' पर उपन्यास या साहित्य की रचना करने वाले लेखक जन-शक्ति के विरोधी ही हों, यदि ऐसी बात हो तो संसार के साहित्य से ऐसे अनेक महाकवियों को तिरस्कृत होना पड़े जिन्हें विश्व अमरता का वरदान दे चुका है। राजनीति के नपे-तुले मापदंड से साहित्यिक कृतियों को तोला नहीं जा सकता।

'मृगनयनी' में राजनीति की बात उठानी व्यर्थ है। उपन्यास में किसी भी स्थल पर राजा मानसिंह ने कोई राजनैतिक सिद्धान्त या आर्थिक योजना देने का प्रयत्न नहीं किया है। एक स्थान पर मजदूरों के एक परिवार से मानसिंह के गुप्त रूप से मिलने की घटना अवश्य आई है, पर इसका प्रयोजन मानसिंह की प्रजा-वत्सलता सिद्ध करने में अधिक सजग है। स्पष्ट यह है कि किसी भी स्थल पर, राई गाँव में, अपने स्वागत के समय विचारों की एक क्षीण रेखा को छोड़कर कहीं भी मानसिंह ने कोई राजनैतिक योजना या राजनैतिक आदर्श प्रस्तुत नहीं किया। हाँ, वह कलाओं की साधना में अपनी राजनीति को अवश्य भूल गया है और मृगनयनी की शरबती आँखों के प्रभाव में आकर उसमें कला और कर्तव्य की समन्वित भावना अवश्य जगी है। किन्तु इन बातों का सम्बन्ध राजनीति से कुछ भी नहीं है। इसके विपरीत, मानसिंह एक कामुक व्यक्ति है, यद्यपि लेखक का उद्देश्य उसकी कामुकता सिद्ध करना नहीं है। जलाल के साथियों की रक्षा कोई राजनैतिक चाल नहीं है। यह परम्परागत शरणागत की रक्षा की भावना पर आधारित है। इसमें भी कोई राजनैतिक आदर्श नहीं, जिसे 'छलना' समझा जाय। फिर 'मृगनयनी' की 'राजनैतिक मृग-छलना' कहाँ है? उत्तर होगा—मानसिंह की सामन्ती संस्कृति और हिन्दुत्व की महत्ता सिद्ध करने के प्रयत्न में। यह भावना वर्मा जी की साम्प्रदायिक प्रवृत्ति का एक ज्वलन्त उदाहरण है। निस्संदेह, वर्मा जी, इसीलिये, प्रतिक्रियावादी हैं और बुजुआ नहीं तो बुजुओं से उनका कोई सम्बन्ध किसी-न-किसी जमाने में अवश्य रहा होगा। उनकी यह 'मृग-छलना' उनके सभी ऐतिहासिक उपन्यासों में कैन्सर की बीमारी बन गई है। 'मृगनयनी' नाम भी 'मृग-छलना' का पर्याय माना जा सकता है। 'मृगनयनी' पर समीक्षा करने की यह भी द्विविधा हो सकती है। पर सचाई कुछ और है।

'मृगनयनी' में मानसिंह का गुण-गान तथा मुसलमानों की कामुकता और अत्याचार का वर्णन, १५वीं शताब्दी के सही इतिहास को हमारे सामने रखता है। यह नहीं भूलना चाहिए कि इस उपन्यास का कथानक इतिहास के सत्य से लिया गया है। 'मृगनयनी' में तत्कालीन राजनीति, समाज, धर्म और राजनीति का निष्पक्ष और यथार्थ वर्णन कर देना ही लेखक का मूल उद्देश्य है। लेखक का उद्देश्य साम्प्रदायिक भावों और विचारों को उत्तेजित करना नहीं, वरन् हमारी विगत दुर्बलताओं को दिखाकर हमें सचेत कर देना है। इस उपन्यास में वर्माजी के व्यक्तित्व और विचार-दर्शन की अभिव्यक्ति कला और कर्तव्य के समन्वय में हुई है। कर्तव्य से शून्य कला एकांगी ह और कला के अभाव में कर्तव्य पंगु है। उपन्यास में लेखक

का यही निष्कर्ष है। इतिहास की शुष्कता से लेखक ने हृदय का रस निकाला है। अतः कथानक के पीछे मस्तिष्क नहीं, हृदय का स्रोत फूटा है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'मृगनयनी' में 'राजनीति' की बात व्यर्थ और 'मृग-छलना' का आक्षेप निरर्थक है। हाँ, आलोचक महोदय का 'सुन्दर' शब्द सर्वाधिक सार्थक है।

इतिहास के आलोक में

'मृगनयनी' के कथानक में इतिहास, जनश्रुति और कल्पना का सुन्दर समन्वय हुआ है। १५वीं शताब्दी के मधुर ऐतिहासिक रोमांस और मान-मन्दिर तथा गूजरी-महल की साक्षी देती हुई ग्वालियर की मूक शिलाएँ इस उपन्यास की मूल प्रेरक शक्तियाँ हैं। इसके कथानक को चार खंडों में बाँटा जा सकता है—(क) मानसिंह और मृगनयनी की प्रणय-कथा, (ख) अटल और लाखी का प्रेम-प्रसंग, (ग) बघेंटा, गयासुद्दीन और नासिरुद्दीन की कथा और (घ) अन्य सामाजिक समस्याएँ। इनके भी दो भाग किये जा सकते हैं—पहले में मृगनयनी के विवाह की कथा है और दूसरे में अटल और लाखी का नटों के सम्पर्क में आना और उनके जीवन का दुखद अन्त। पहला भाग पूर्णतः ऐतिहासिक है, किन्तु यहाँ भी लेखक ने कल्पना से काम लिया है। अटल एक ऐतिहासिक चरित्र अवश्य है, पर इतिहास में इसका कोई विस्तृत और प्रामाणिक वर्णन नहीं मिलता। इतिहास में लाखी का नाम भी नहीं मिलता। हाँ, जनश्रुतियों में वह बहुत प्रसिद्ध है। बघंरा, गयासुद्दीन और नासिरुद्दीन अथवा दिल्ली का सिकन्दर लोदी—ये सभी ऐतिहासिक चरित्र हैं। बोधन और बैजू बावरा के नाम भी उस समय के इतिहास में मिलते हैं, किन्तु कला, विजयजंगम, ख्वाजा मटरू, निहालसिंह आदि के नाम काल्पनिक जान पड़ते हैं। पर 'मृगनयनी' की अधिकांश प्रमुख घटनाएँ ऐतिहासिक हैं।

औपन्यासिक विशेषताएँ

'मृगनयनी' उत्कृष्ट उपन्यास की प्रमुख विशेषताओं से विभूषित है। घटनाओं का विकास धीरे-धीरे, पर स्वाभाविक ढंग से हुआ है। पाठक की उत्सुकता बनाये रखने के लिए अनेक ऐसे स्थलों की सृष्टि हुई है, जिनको पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। राई के जंगलों में मालवा के घुड़सवारों का निन्नी और लाखी को भगा ले जाने का षड्यन्त्र, एक ऐसी ही घटना है। घने जंगल में आस-पास की सरसराहट, किसी के खाँसने की आवाज और फिर अचानक घुड़सवारों का पास में सरक जाना, ऐसे प्रयोग हैं, जिनसे पाठकों में भय और जिज्ञासा का भाव जागृत होता है। नरवर में रात में नटों का रस्सी द्वारा लाखी को कोट से नीचे ले जाने का प्रयास भी एक ऐसा ही प्रयोग है। उपन्यास में साहसिक वर्णन और भयानक दृश्यों की अवतारणा के साथ ऐसे भी आकर्षक स्थल आये हैं जहाँ पाठक उत्सुक और उत्तेजित हो जाता है। उदाहरण के लिए, राई गाँव में निन्नी (मृगनयनी) द्वारा मानसिंह का स्वागत, राई के जंगलों में लाखी और निन्नी के साथ ग्वालियर-नरेश मानसिंह का आखेट, नरवर में गयासुद्दीन के पलायन के बाद मानसिंह और लाखी

का मिलन—ऐसी घटनाएँ हैं।

किसी भी उपन्यास में कथानक की चरम सीमा का महत्त्व होता है। चरम-सीमा की योजना कहानी, नाटक और प्रबंध-काव्य में भी होती है, किंतु कहानी और नाटक में प्राय: यह पाया गया है कि चरम सीमा के बाद कथानक का प्रवाह या तो रुक गया है या नाम-मात्र को रह जाता है। प्रबंध-काव्य और उपन्यास में इससे कथानक को शक्ति मिलती है। लेकिन उपन्यास में चरम सीमा का पता लगाना अपेक्षाकृत कठिन होता है। 'मृगनयनी' में मानसिंह-मृगनयनी तथा अटल-लाखी, दोनों की प्रणय-कथाएँ लगभग एक ही तरह की हैं। पर अटल-लाखी की दुःखान्त प्रेम-कहानी में प्रभावोत्पादकता और तीव्रता अधिक है। दोनों प्रणय-कथाओं को ध्यान में रखते हुए दो चरम सीमाएँ दृष्टि में आती हैं—एक तो मृगनयनी और मानसिंह के विवाह की घटना, और दूसरी अटल और लाखी की युद्ध-क्षेत्र में मृत्यु। पहली चरम सीमा औपन्यासिक और साधारण है, और दूसरी नाटकीय।

'मृगनयनी' की तीसरी विशेषता १५वीं शताब्दी की सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियों के सजीव वर्णन में ही है। गूजर अटल तथा अहीर लाखी के प्रणय-सम्बन्ध में जातीयता का व्यवधान रोड़ा अटकाता है। यह समस्या आज भी ज्यों-की-त्यों बनी है। रूढ़िग्रस्त समाज के साथ इन प्रेमियों ने हिम्मत और साहस के साथ संघर्ष किया; यह बात और है कि दोनों सफल न हुए। 'मृगनयनी' के कथानक में यह संघर्ष सबसे अधिक प्रभावशाली है। रानी सुमन-मोहिनी और नटों ने लाखी और अटल को बदनाम करने के अनेक षड्यन्त्र किये। बोधन ब्राह्मण और विजयजंगम तत्कालीन शैवों और वैष्णवों के आपसी संघर्ष के प्रतीक हैं। १५वीं शताब्दी की राजनीति में ग्वालियर को बड़ी-बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ा था। इसका यथार्थ वर्णन आप इस उपन्यास में पायेंगे। सिकन्दर लोदी ने पाँच बार ग्वालियर पर आक्रमण किये, पर उसे सफलता नहीं मिली। मालवा और गुजरात के बादशाह भी ग्वालियर पर विजय की पताका फहराने की चेष्टा करते रहे। लेकिन वे भी कामयाब न हुए। अधिकतर इन आक्रमणों के पीछे बादशाहों की कामुकता होती थी। बादशाह ने सुना कि अमुक गाँव में या अमुक राजा की रानी बड़ी खूबसूरत है, बस आक्रमण की तैयारियाँ होने लगीं। लाखी और मृगनयनी को पाने के लिए गयासुद्दीन ने अनेकानेक षड्यंत्र किये, नटों के द्वारा कितनी योजनाएँ बनाईं; पर वे सफल न हुईं। उन दिनों ग्वालियर हिन्दू-संस्कृति, संगठन और शक्ति का केन्द्र था। दिल्ली के बादशाह और प्रान्तीय स्वतन्त्र और कामुक सूबेदारों या बादशाहों का जवाब ग्वालियर था।

संदेश

हर लेखक अपनी कृति के माध्यम से अपने पाठकों को कोई-न-कोई स्वस्थ सन्देश देना चाहता है। वर्माजी ने भी 'मृगनयनी' के द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपने पाठकों को एक नैतिक सन्देश दिया है और वह है प्रेम और कर्तव्य के

समन्वय का। मृगनयनी और लाखी, दोनों के जीवन से हमें यही शिक्षा मिलती है। राई गाँव की रक्षा में प्राणों का वलिदान देने वाली लाखी और अपनी बड़ी सौत के पुत्र के लिए, ग्वालियर को अविभाजित रखने के उद्देश्य से अपने पुत्रों को राज्य-भार से वंचित रखने वाली मृगनयनी कर्तव्य का पालन करती हुई प्रेम का उच्चादर्श प्रस्तुत करती हैं। उपन्यास का अन्त आदर्शपूर्ण और कलात्मक वातावरण में हुआ है। समस्त कथानक का वातावरण प्रेम-प्रधान है।

हास-परिहास

'मृगनयनी' के कथानक में हास-परिहास का प्रयोग इतना अधिक हुआ है कि समस्त उपन्यास हँसी का फव्वारा वन गया है। निन्नी और लाखी का पारस्परिक हँसी-मजाक जहाँ-तहाँ विखरा है। मृगनयनी के विवाह तक हास-परिहास की यह सरसता और मधुरता वनी हुई है जो पाठकों के मनोविनोद और मनोरंजन की अच्छी सामग्री प्रस्तुत करती है। इसके अतिरिक्त, उपन्यास में वर्धरा एक ऐसा चरित्र है जो वात-वात में हमारे होठों पर हँसी विखेरता है। नासिरुद्दीन की प्रज्ज्वलित कामुकता और पन्द्रह हजार स्त्रियाँ संग्रहीत करने की चेष्टाएँ भी कम आश्चर्यजनक और मनोरंजक नहीं। इतिहास और कल्पना के संयोग से औपन्यासिक विशेपताओं के समावेश से और मनोरंजक साधनों के प्रयोग से 'मृगनयनी' का कथानक सरल, सुवोध और प्रभावशाली वन गया है।

आवश्यक परिच्छेद

किन्तु, इसके साथ ही इस उपन्यास में कुछ ऐसे परिच्छेद आये हैं जिन्हें हम आसानी से निकाल सकते हैं। वास्तव में, उपन्यास के कथा-प्रवाह में इनका योग नगण्य है। इन आवश्यक परिच्छेदों का उद्देश्य कथानक के विकास को आगे वढ़ाना न होकर लेखक के किसी-न-किसी उद्देश्य की पूर्ति करना मालूम होता है। 'मृगनयनी' में कुल ७३ अध्याय हैं। इनमें १७वाँ, ५०वाँ, ५२वाँ ५६वाँ, ५७वाँ, ५८वाँ, ६१वाँ, और ७०वाँ अध्याय व्यर्थ-से लगते हैं। पहले में हम इतना ही जानते हैं कि मृगनयनी अभी अपने विवाह के पक्ष में नहीं है, यह प्रश्न न तो महत्त्वपूर्ण है और न इससे किसी घटना का विकास होता है। ५०वें अध्याय की सृष्टि निहालसिंह की राजपूती शान दिखलाने के लिए हुई है। यहाँ विजयी राजा के दूत का पराजित नरेश के पास जाना, विचित्र-सा लगता है। निहालसिंह की मृत्यु ग्वालियर की राजनीति पर कोई प्रभाव नहीं डालती। ५२वाँ अध्याय अचानक कहीं से टपक गया-सा मालूम होता है। मानसिंह के चरित्र में मजदूरों के प्रति सहानुभूति दिखाना इस प्रसंग का उद्देश्य कहा जा सकता है, किन्तु राजा में पहले से इस गुण के वीज का पता न रहने से यह अध्याय ऊपर से ठूँसा हुआ-सा जान पड़ता है। अध्याय ५६, ५७ और ५८ भी निरर्थक और अनुपयुक्त हैं। राजसिंह की साम्प्रदायिकता, नसीर की कामुकता और वोधन की निर्भीकता कथानक के विकास में कोई महत्त्व नहीं रखतीं। अतः ये अध्याय भी वेकार हैं। ६१वें अध्याय

में अटल की संगीत-स्पर्द्धा भी कोई महत्त्व नहीं रखती, अध्याय ७० में मृगनयनी, वैजू और मानसिंह के बीच हुई पारस्परिक संगीत-संवन्धी वार्ता भी अनावश्यक है। लाखी की दुखद मृत्यु के बाद इस तरह का प्रसंग छेड़ना कथानक में असंगति उपस्थित करना है।

तत्कालीन जीवन

ऐतिहासिक उपन्यास की सजीवता तत्कालीन जीवन के यथार्थ वर्णन में होती है। जिस प्रदेश की घटनाओं की झाँकी उपस्थित की जा रही है, उसके रस्म-रिवाज, वेश-भूषा, और अंध-विश्वासों तथा पारिवारिक जीवन की छोटी-छोटी बातों का उल्लेख करना उपन्यास में आवश्यक होता है। 'मृगनयनी' में जिन प्रदेशों का उल्लेख हुआ है, वे इस प्रकार हैं—राई गाँव, ग्वालियर, नरवर, माँडू, चन्देरी, मगरोनी, गुजरात और दिल्ली। उपन्यास में ग्वालियर और नरवर के जन-जीवन का कोई वर्णन हमें प्राप्त नहीं होता। ग्वालियर की बातें ग्वालियर के महलों, मान-मन्दिर तथा गूजरी महल तक ही सीमित रह गई हैं। इस प्रकार नरवर केवल किले और युद्ध स्थल के वर्णन तक रह गया है। विस्तृत रूप में हमें जिस प्रदेश के जन-जीवन की झाँकी इसमें मिलती है वह केवल राई गाँव है। राई के मन्दिर, गलियों, खेतों और जंगलों के सजीव वर्णन में वर्मा जी ने बड़ी तन्मयता दिखाई है। इस गाँव से होकर वहने वाली साँक नदी भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस नदी के साथ मृगनयनी का रागात्मक संवन्ध बना हुआ था।

'मृगनयनी' में होली का वर्णन बड़ा अनोखा है। होली के दृश्य से उपन्यास का कथानक आरम्भ हुआ है। प्रारम्भ में वर्मा जी ने लिखा है कि पहले बुन्देलखंड में महीनों होली चलती रहती थी, किन्तु पठानों के अत्याचार और जीवन के आर्थिक संघर्षों ने इसे पाँच दिनों में समाप्त करने को बाध्य किया है। इस अवसर पर सबसे अधिक ध्यान देने की अनोखी बात यह है कि जहाँ गाँव की विवाहिताओं के साथ होली खेलने की छूट थी, वहाँ अविवाहितों पर कोई रंग नहीं डाल सकता था। उपन्यास में एक ऐसे ही उत्सव का वर्णन आया है। ग्राम्य-जीवन की साधारण बातों, जैसे खेत की रखवाली, पुजारी का उपज का एक हिस्सा लेना, पंचायत की प्रथा, ग्रामीणों में एक दूसरे की शिकायत करने की आदत या आगामी युद्ध से भयभीत होने की भावना आदि का बड़ा ही यथार्थ वर्णन है। बोधन ब्राह्मण समाज का प्रतिनिधित्व करता है, जो वात-वात में अपनी महत्ता और गुरुता सिद्ध करता है। ग्रामीण वातावरण की सृष्टि में वर्मा जी प्रेमचन्द के बहुत निकट चले आये हैं।

ग्राम्य-जीवन के साथ ही 'मृगनयनी' में वन्य-जीवन का भी बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन है। राई गाँव के पास ही एक घना जंगल था। गाँव के लोग अक्सर जंगल में लकड़ी चुनने या जानवरों का शिकार करने जाया करते थे। सिकन्दर लोदी के आक्रमण के समय सभी ग्रामीणों को इसी जंगल में छिपकर रहना पड़ा था। इसी जंगल में लाखी और मृगनयनी दोनों जंगली जानवरों का शिकार

खलने जाया करती थीं। मृगनयनी का भाई अटल स्वयं एक अच्छा निशानेबाज था। राई का जंगल नाहरों, अरनों और जंगली सूअरों से भरा था। गाँव में इनका सामना करने वाला, लाखी, अटल और निन्नी (मृगनयनी) को छोड़कर कोई दूसरा व्यक्ति न था। जंगल के दृश्य जहाँ भी आये हैं, पाठक की उत्सुकता उत्तेजित हुई है। यह वन्य-जीवन, राई गाँव के जीवन का परिपूरक बनकर आया है।

मानसिंह के महलों, माँडू और गुजरात के वर्णनों से हमें उस समय के राजकीय जीवन की कुछ झाँकियाँ मिल जाती हैं। गयासुद्दीन, नासिरुद्दीन और महमूद बघेरा ऐयाश बादशाह थे, ग्वालियर-नरेश मानसिंह-जैसे तोमर-नरेश भी अपने रंग-महल में आठ रानियाँ रखते थे, 'मृगनयनी' नवीं थी। संक्षेप में, उस समय का राजकीय जीवन ऐश-आराम से कटता था और नरेशों में राज्य-विस्तार का लोभ सर्वोपरि था।

प्रकृति-चित्रण

वर्मा जी के उपन्यास ऐतिहासिक रोमांस हैं, यह हम 'मृगनयनी' में देख चुके हैं। ऐतिहासिक रोमांस के बाद प्रकृति-चित्रण उनका प्रिय विषय है। वर्मा जी के सभी उपन्यासों में प्रकृति का वर्णन यथार्थ रूप में हुआ है। 'मृगनयनी' में इसकी समृद्धि दर्शनीय है। मृगनयनी स्वयं प्रकृति की उपासिका है। होली की रात में हरे-भरे खेत की रखवाली करती हुई उसने जो सपनों का महल बनाया, वह गूजरी-महल के रूप में सत्य सिद्ध होकर रहा। इस उपन्यास में हमें दोनों प्रकार के प्रकृति-चित्रण मिलते हैं। एक में उसके मधुर रूप का वर्णन है और दूसरे में उसकी गम्भीरता, भयंकरता और उग्रता का। प्रकृति के मधुर रूपों में, चाँदनी से स्निग्ध और स्नात हरे-भरे खेतों का दृश्य प्रमुखता लिए हुए आया है। ऐसे दृश्यों की भी कमी नहीं है जिनमें मन्द-मन्द बहती हुई हवा के झोंकों के साथ सारा जंगल झूमकर मस्त हो गया है और साँक नदी का कल-कल स्वर उसके उद्गारों को कोमल ध्वनि प्रदान कर रहा है। इनके विपरीत, उपन्यास में ऐसे स्थल भी हैं जहाँ प्रकृति भयानक रूप में आई है, फिर अरनों की चीख, आक्रमण, मृत्यु, जंगली जानवरों की लड़ाई—साधारण-सी बातें हैं। लाखी द्वारा अरने की हत्या का दृश्य बड़ा ही रोमांचकारी है। प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से इस उपन्यास की विशेषता इस बात में भी है कि सभी सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों की योजना प्रायः रात में और भयानक दृश्यों की अवतारणा दिन में हुई है। एक तीसरे प्रकार का प्रकृति-वर्णन भी वर्माजी ने किया है, वह है पृष्ठभूमि के रूप में। पहले दोनों प्रकार के वर्णन चरित्रों के हृदय और भावनाओं से निस्सृत हैं, किन्तु प्रकृति जब पृष्ठभूमि के रूप में आई है तो वह केवल इसी बात की सूचना देती है कि किस वातावरण में कोई विशेष घटना घट रही है। प्रकृति के ऐसे चित्र स्थान-स्थान पर प्रत्यक्ष रूप से लेखक के प्रकृति-प्रेम का परिचय देते हैं। उदाहरण के लिए, ११वें अध्याय में

प्रकृति का कोई महत्वपूर्ण भाग नहीं है किन्तु लाखी और निन्नी की बातचीत प्रारंभ कराने के पूर्व लेखक उस समय का सुन्दर वर्णन करता है जो इस प्रकार है—"रात होते ही अँधेरा छा गया। गहरी काली घटायें। आकाश में चन्द्रमा के होते हुए भी चाँदनी का भान नहीं। रुक-रुककर फुहार पड़ जाती है। हवा चल रही थी, किन्तु मच्छर झुण्ड बाँध-बाँधकर टूट रहे थे।" पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का वर्णन करने वाले दो तरह के लेखक होते हैं। एक वह जो प्रकृति के माध्यम से अपनी निराश भावानुभूतियों को प्रकट करते हैं, जैसे अंग्रेजी उपन्यासकार हार्डी, और दूसरे में लेखक का आह्लाद और उत्साह झलकता है। सामान्यतः ऐसे लेखक दर्शक के रूप में प्रकृति का निरीक्षण और वर्णन करते हैं। वर्मा जी इसी कोटि में आते हैं।

भाषा-शैली

'मृगनयनी' की भाषा-शैली बुन्देलखंडी रंगों से रंजित है। बुन्देलखंड का जीवन उनके प्राणों में समा चुका है और वे उससे अच्छी तरह घुल-मिल गए हैं। अथवा, प्रान्तीयता का मोह उन्हें ऐसा करने को विवश कर देता है—दोनों बातें स्वाभाविक हैं। कारण चाहे जो भी हो, यह स्पष्ट है कि 'मृगनयनी' क्या, वृंदावनलाल वर्मा जी के सभी उपन्यासों में उनका शब्द-चयन हिन्दी के सामान्य शब्द-चयन से भिन्न है। इनके शब्दों में बुन्देलखंड के ग्रामीण शब्दों, मुहावरों आदि का अत्यधिक प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए, इन शब्दों और मुहावरों को लिया जा सकता है—भकुरना, वक फटना, अटक भीर पड़ना, भइने, छीजना, इत्यादि। ऐसे सैंकड़ों शब्द उद्धृत किये जा सकते हैं। ये शब्द अन्य प्रान्तों में अप्रचलित हैं। वर्मा जी की भाषा का दूसरा दोष व्याकरण के लिंग-संबंधी है, जो हिन्दी की एक विकट समस्याओं में से एक है। कुछ शब्द ऐसे हैं जो स्त्रीलिंग से पुल्लिग या पुल्लिग से स्त्रीलिंग में वदल दिए गए हैं। जैसे, शिकार का स्त्रीलिंग में प्रयोग हुआ है। यह तो हुई भाषा की वात। शैली की दृष्टि से भी यह कहा जा सकता है कि वर्माजी की शैली प्रेमचंद-जैसी मँजी हुई शैली नहीं है। वाक्य-रचना शिथिल और निर्बल है। शैली में स्वाभाविक प्रवाह के वदले अवरोधक तत्त्व अधिक हैं। हाँ, जहाँ प्रकृति का वर्णन हुआ है, या छोटे-छोटे वाक्यों में चटकीली वातचीत हुई है, वहाँ की शैली अधिक समर्थ और आकर्षक है। ऐसे स्थानों पर वर्मा जी की गद्य-शैली में प्रवाह भी है, निखार भी है और स्वाभाविकता भी।

संक्षेप में, कुछ दोषों के होते हुए भी 'मृगनयनी' हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की एक अद्वितीय सृष्टि है, जिसमें इतिहास और साहित्य का सम्मिश्रण दूध-पानी-जैसा है।

: १२ :

गोदान

हिन्दी में प्रेमचन्द पहले लेखक थे जिन्होंने एक निश्चित आदर्शवाद की युगानुकूल धारा बहाई थी। लेकिन समय की माँग और विभिन्न परिस्थितियों ने इस लेखक को रास्ता बदलकर चलने को मजबूर किया। प्रेमचन्द का युग यथार्थवाद का युग नहीं था, वह युग आदर्शवाद और रोमांटिसिज्म का था। कविता में पंत, प्रसाद और निराला उस युग के प्रतिनिधि कवि थे, राजनीति में महात्मा गाँधी और उनकी कांग्रेस थी। प्रेमचन्द पर उनके युग के आदर्शवाद की पूरी-पूरी छाप पड़ी थी। परन्तु परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थीं जिनमें रहकर पूर्ण रूप से आदर्शवादी बनना उनके लिए संभव न था। 'गोदान' प्रेमचन्द का घोर यथार्थवादी उपन्यास है। यह देश, समाज और गाँव के जीवन की सबसे बड़ी 'छाप' बनकर आया है। यहाँ उन्होंने हमारी अब तक की गार्हस्थिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रगति का सर्वे किया है। प्रेमचन्द अपने अन्य उपन्यासों में कोई-न-कोई कार्य-क्रम लेकर उपस्थित हुए हैं, किंतु 'गोदान' में उनका कोई निश्चित कार्य-क्रम नहीं है और न उन्होंने किसी आदर्श का मार्ग-प्रदर्शन किया है। अब तक समग्र भारतीय जीवन—क्या गार्हस्थिक, क्या सामाजिक, क्या राजनैतिक, क्या नागरिक, क्या ग्रामीण—जैसा है उसे उन्होंने ज्यों-का-त्यों उपस्थित किया है। 'गोदान' के पहले प्रेमचन्द का दृष्टिकोण केवल नैतिक था, लेकिन 'गोदान' में पहुँचकर आर्थिक हो गया है। सच तो यह है कि 'गोदान' से प्रेमचन्द युग की वास्तविकता की ओर आए हैं और गाँधीवाद से अपना ध्यान हटाकर साम्यवाद या समाजवाद की ओर बढ़े हैं। यदि आज वे जीवित होते तो संभवतः समाजवाद और गाँधीवाद के बीच 'सेतु' बन गए होते।

'गोदान' प्रेमचन्द का अंतिम उपन्यास है। इधर इसका सम्मान और प्रचार कम्युनिस्ट देशों में बहुत अधिक हुआ है। इस प्रचार और विज्ञापन में उनके सुपुत्र अमृतराय का बहुत बड़ा हाथ है। यह अनुचित नहीं। लेकिन 'गोदान' को साम्यवादी साहित्य का 'ध्रुवतारा' मानकर प्रगतिवादी साहित्य की नींव मजबूत करना अनुचित मालूम होता है। यह याद रखने की बात है कि प्रेमचन्द साम्यवादी उपन्यास-लेखक नहीं थे। उनके साहित्य में वर्ग-संघर्ष की चेतना धीरे-धीरे फूटी है, यह उनके स्वाभाविक चिंतन और मनन का परिणाम है। प्रेमचन्द अपने साहित्य के प्रति ईमानदार थे और इससे भी अधिक वे सामाजिक चेतना के प्रति जागरूक

थे। 'गोदान' लेखक के सामाजिक चिन्तन, आर्थिक मनन और ग्रामीण जीवन के समीपी अध्ययन की सृष्टि है। यहाँ जो कुछ है, स्पष्ट और साध्य है। प्रेमचन्द ने किसी भी दृश्य पर काला पर्दा नहीं डाला। इसमें भारत के ग्रामीण और नागरिक समाज का सही-सही लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है। प्रेमचन्द ने यहाँ भारतीय जीवन को बहुत बड़े पैमाने पर देखा है और उसके वर्तमान धर्म, आदेश और नैतिकता की नग्न व्याख्या की है।

फलतः 'गोदान' प्रेमचन्द का समस्या-मूलक उपन्यास है। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने इसकी कथा को 'कभी अन्त न होने वाली कहानी' कहा है। लेकिन युग-चेतना ने 'गोदान' के समाज को नई करवट बदलने के लिए बाध्य किया है। होरी मरकर भी अमर है, क्योंकि जिस आर्थिक हाहाकार का गरल पीकर उसे घुट-घुट-कर मरना पड़ा था आज उसकी संतान जमींदारों, महाजनों और राय साहबों के महलों में आग लगाकर 'भूमि का स्वामी' बनने जा रही है। 'गोदान' ने हमारे समाज की जो समस्या उपस्थित की है, वह अब इतिहास की सामग्री बनती जा रही है और इस तरह उसकी कहानी समाप्त होकर ही रहेगी। कांग्रेस-सरकार की यह घोषणा कि वह देश में 'समाजवादी ढंग' (Socialistic Pattern) की स्थापना करके ही दम लेगी, 'गोदान' के समाज को ढाहने में सहायक है। इस उपन्यास में आर्थिक समस्या प्रधान बनकर आई है; जो पूँजीपतियों और शोषितों, दोनों को चैन से रहने नहीं देती। लेकिन भारतीय समाज के इस पहलू का अध्ययन अब समाप्त होने जा रहा है। किसी भी देश में आर्थिक समस्याओं का जीवन 'बहते नीर' की तरह प्रवहमान होता है। उसकी एक गति या चाल नहीं होती। उसमें कभी तेजी, कभी मंदी होती रहती है। अतः 'गोदान' में भारतीय समाज की जिस आर्थिक विषमता के चित्र उतरे हैं, वे अब इतिहास के 'शव' बनते जा रहे हैं। इसलिए इस उपन्यास के विषय और उद्देश्य को अब वह महत्त्व नहीं दिया जा सकता जितना पहले दिया गया था। इसके उद्देश्य स्पष्ट हैं; पर हमें कोई स्वस्थ संदेश नहीं मिलता। होरी की मृत्यु पर हम निस्संदेह सहानुभूति के आँसू बहाते हैं और अपने समाज की दुरवस्था पर कुछ देर के लिए विचार भी करते हैं पर इससे लेखक के संदेश पाठकों तक नहीं पहुँचते। इस उपन्यास की सफलता के दो कारण बतलाए जा सकते हैं— १. उपन्यास के कथानक का कलात्मक गठन, २. लेखक की अनुभूतियों में सचाई और ईमानदारी।

प्रेमचन्द की अनुभूतियाँ सच्ची और प्रत्यक्ष हैं। उन्होंने जिस समाज के चित्र खींचे हैं, उनका गहरा अध्ययन उन्हें हो चुका था। उनके उपन्यास 'उपन्यास के लिए' नहीं लिखे गए वरन् समाज की वास्तविकता का परिचय देकर उसकी बुराइयों को दूर करने के लिए लिखे गए हैं। क्या गाँव, क्या शहर सबके जीवन का उन्हें बड़ा गहरा अनुभव था। खासकर गाँव के वातावरण से वे अपेक्षाकृत अधिक परिचित थे। इसलिए 'गोदान' के ग्रामीण जीवन और उसकी समस्याओं की अभिव्यक्ति में लेखक ने जितनी सावधानी, सजीवता और मार्मिकता दिखलाई

है, उतनी नागरिक जीवन के चित्रण में नहीं देखी जाती। किसी भी लेखक को अमर और महान् बनाती हैं उसकी सच्ची अनुभूतियाँ, जिनको वह भाषा के माध्यम से अनूठी शैली में व्यक्त करता है।

प्रेमचन्द ने 'गोदान' के कथानक को जो रूप और आकार दिया है, वह अपने में अद्वितीय है। यहाँ उपन्यास के कथानक पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। श्री शिवनारायण श्रीवास्तव के शब्दों में "इस उपन्यास में न तो 'रंगभूमि' की भाँति जीवन का कोई निर्दिष्ट आशावादी दार्शनिक संदेश है, और न 'प्रेमाश्रम' की भाँति किसी राम-राज्य का आदर्श-स्वप्न, और न 'सेवा-सदन' की भाँति समाज-सेवा का स्पष्ट कार्य-क्रम। इसमें तो केवल जीवन के जीते-जागते मित्र हैं और उनकी अनेक समस्याएँ।" कथानक के कलात्मक गठन की दृष्टि से 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'गोदान' का महत्त्व बराबर है। उपन्यासों में दो या अधिक कथाएँ साथ-साथ चलती हैं और मूल कथा किसे कहें, यह निश्चित करना कठिन हो जाता है। इस उपन्यास में भी दो कथाएँ एक साथ चलती हैं, एक राय साहब-मालती की, दूसरी होरी-धनिया की। एक में नगर का वर्ग-संघर्ष और दूसरी में गाँव का वर्ग-संघर्ष दिखलाये गए हैं। कुछ लोगों को ये दो कथाएँ एक-दूसरे से पृथक् मालूम होती हैं। इसके बारे में डा० रामरतन भटनागर ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द: एक अध्ययन' में लिखा है—"प्रेमचन्द ने 'गोदान' में दो कथा-वस्तुएँ रखी हैं। उनमें एक मुख्य हो, दूसरी प्रासंगिक, यह बात नहीं। दोनों कथाएँ समानान्तर रेखा पर लगभग बिना मिले ही चली जाती हैं।.........दोनों कथाएँ इतनी असम्बद्ध हैं कि उनके अध्यायों को अलग-अलग कर देने पर दो भिन्न-भिन्न उपन्यास बन जाते हैं।" कथानक की विशृङ्खलता के सम्बन्ध में श्री शिवनारायण श्रीवास्तव का भी कहना है कि "कथा में अन्विति का अभाव खटकता है। आपस में कोई निसर्ग संबंध न होने के कारण दोनों कहानियाँ स्पष्टतः चिपकाकर रखी हुई-सी जान पड़ती हैं। इस दृष्टि से 'गोदान' का कथानक बिखरा-सा लगता है।"[१] परंतु डा० रामविलास शर्मा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रेमचन्द' में लिखा है कि "ये कहानियाँ जितनी अलग ऊपर से जान पड़ती हैं, उतनी वास्तव में नहीं हैं। दोनों का एक-दूसरे से निकट सम्बन्ध है और वे एक-दूसरे पर आश्रित हैं।"

'गोदान' के कथानक का ढाँचा बहुत-कुछ 'प्रेमाश्रम'-जैसा है—एक गुट होरी के चारों ओर किसानों का है, दूसरा रायसाहब के चारों ओर उच्च वर्ग के लोगों का। इनमें मेहता और मालती भी हैं, जो गाँव से सहानुभूति रखते हैं। कथानक का अधिक भाग होरी और उसके समाज को दिया गया है। डा० रामविलास शर्मा के मतानुसार "गोदान का कथानक किसान-महाजन संघर्ष को लेकर रचा गया है। उच्च वर्ग केवल चित्र की पूर्णता के लिए है। यहाँ होरी पूरे महाजन-वर्ग और उसके सहायक जमींदार-वर्ग के कारिन्दों से युद्ध करता हुआ परास्त होता है। किसान-महाजन-संघर्ष का प्रतीक होरी है और उसका अकेला चित्र

१. 'हिन्दी-उपन्यास'

कथा की एकसूत्रता में सहायता करता है। उसके अनेक सहायक पात्र हैं जो शोषण-चक्र में पिसते दिखाई देते हैं।" 'गोदान' के कथा-संगठन में प्रेमचन्द ने कमाल किया है। यहाँ कथा-वस्तु के विकास में निश्चित गति, विकास और उत्कर्ष है। श्री प्रकाशचन्द गुप्त के शब्दों में "प्रेमचन्द की कथा-वस्तु की हलचल समुद्र की तरंगों के समान है। घटना आगे बढ़ती है, फिर पीछे हट जाती है। घटना के उतार-चढ़ाव में प्रेमचन्द सिद्धहस्त थे।" श्री गुलाबराय ने ठीक ही कहा है कि 'गोदान' की कथावस्तु गढ़ी हुई नहीं मालूम पड़ती। उसमें जीवन का-सा बहाव है। कथा-वस्तु के गठन की दृष्टि से यह उपन्यास हिन्दी का एक अमर उपन्यास है।

लेकिन साहित्य के प्राण, भाव, विचार और आदर्श होते हैं, रूप या आकार नहीं। 'गोदान' की महत्ता निस्संदेह उसके आकारों में बँधी है—कथावस्तु के संतुलन में, चरित्रों की सृष्टि में, ग्रामीण वातावरण के निर्माण में और शोषक-शोषित के वर्ग-संघर्ष में, पर आने वाले युगों में इसका महत्त्व वही होगा जो इतिहास के किसी अध्याय में वर्णित अकाल, दुःख और दैन्य का होता है। साहित्य मानव-जीवन के कुछ स्थायी मूल्यों की स्थापना करता है जो अर्थ से कहीं अधिक महत्त्व रखता है। वह केवल यथार्थ की कँटीली झाड़ी से ही नहीं उलझता, बल्कि काले बादलों को भेदकर प्रकाश की किरण भी बिखेरता है। होरी की मृत्यु हमें कौन-सा संदेश देती है। समझ में नहीं आता—यह हमारी लाचारी, कमजोरी और आलस्य का सूचक है। अच्छा होता यदि होरी शोषक-समाज की असंगतियों को चुनौती देता, विद्रोह की मशाल जलाता, किसान-आन्दोलन का नेता बनता और अन्त में नये समाज की स्थापना में अपना बलिदान दे जाता। लेकिन वह तो धर्म की दलदल में, रूढ़ि की कीचड़ में फँसा अपने ही दुःख से कराहता है, उसे इन बातों की चिन्ता ही कहाँ? इसमें कोई संदेह नहीं कि होरी ग्रामीण जीवन का प्रतीक बनकर आया है, जो हमारा ध्यान घोर यथार्थता की ओर ले जाता है; लेकिन यथार्थ मन की भूख घटाता नहीं, बढ़ाता है। 'गोदान' में हमें एक स्वस्थ आशावादी संदेश का अभाव खटकता है। फिर भी यह तो कहना ही होगा कि यह उपन्यास अपने में बेजोड़ है और भारतीय समाज की पतनावस्था का पूरा विवरण उपस्थित करता है।

: १३ :

उन्मुक्त

स्थान

श्री दिनकर के शब्दों में " 'उन्मुक्त' में काव्य का प्रभाव अपेक्षाकृत शिथिल है। कवि जो कुछ अखबारों में पढ़ रहा था, उसी के बल पर उसने वर्तमान युग का एक रूपक कविता में लिख दिया। यह पुस्तक गांधीवाद और युद्ध की तुलना के निमित्त लिखी गई है, क्योंकि युद्ध को अन्त में परिणत लोग अहिंसा की दुहाई दे रहे हैं।"

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'उन्मुक्त' को एक विशिष्ट स्थान मिलना चाहिए। इसके कई कारण हैं—प्रथम तो यह है कि 'उन्मुक्त' हिंदी-काव्य-साहित्य की वह प्रथम काव्य-रचना है जिसे हम विशुद्ध युद्ध-काव्य की संज्ञा दे सकते हैं। कवि वर्तमान युद्ध की विभीषिकाओं को देखकर घबरा उठा है। युद्ध की विकरालता, उसकी भयंकरता का सुन्दर उदाहरण उसने हमारे सामने रखा है। हिन्दी के प्राचीन साहित्य में इस तरह की एक भी पुस्तक नहीं मिलती। वर्तमान हिंदी-साहित्य में 'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र' को छोड़कर कोई भी दूसरी सशक्त कृति देखने को नहीं मिलती, जिसमें कवियों के चिन्तन का विषय युद्ध रहा हो। इस दिशा में सियारामशरण गुप्त ने अपने स्वतंत्र चिन्तन और मनन की मौलिकता का परिचय दिया है। अंग्रेजी में युद्ध-सम्बन्धी अच्छी-अच्छी पुस्तकें अवश्य मिलती हैं, जिनमें Milton की पुस्तक 'Lost Horizon' और Sheriff की पुस्तक 'Journey's End' विशेष उल्लेखनीय हैं। इन पुस्तकों में वर्तमान युद्ध की हिंसक नीति का नंगा प्रदर्शन हुआ है। लेकिन इन सभी पुस्तकों में लेखक युद्ध से भयभीत और निराशावादी हैं। ये वर्तमान युद्ध-नीति में मानवता का नाश देखते हैं, उन्हें उससे बचने का कोई रास्ता नहीं दीखता। वे प्राण-रक्षा के लिए पृथ्वी के चारों ओर घूम आते हैं, पर शांतिपूर्ण स्थान नहीं मिलता। 'उन्मुक्त' के कवि को एक बहुत ही सबल आधार मिला है और वह है गांधीवाद का। इसका कवि किसी राष्ट्र को आज की हिंसक नीति के लिए दोष नहीं देता, बल्कि उसका कहना है कि :

> युद्ध यह नर का नर से नहीं है,
> वह सामने दनुज है। —(गुणधर)

उसके निगूढ़ किसी अन्तर में छिपके
कोई क्रूर अग्न्युपात, भूमिकम्प पैठा है ।

अन्त में कवि जिस निष्कर्ष पर पहुँचा है वह इस प्रकार :

निन्दनीय है आपस की मार-पीट —(मृदुला)

× × ×

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल
जो सबका है वही हमारा भी है मंगल ।
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर—
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर । —(पुष्प दन्त)

× × ×

केवल निज के लिए नहीं; निज का निजपन सब,
निखिल विश्व के साथ हुआ है सम्बन्धित अब ।

'उन्मुक्त' हिन्दी के गांधीवादी साहित्य में सबसे ऊँचा स्थान रखता है, जिसमें गांधीजी की युद्ध-नीति को वाणी दी गई है। गुप्तजी ने 'साकेत' में, रामनरेश त्रिपाठी ने 'पथिक' तथा 'मिलन' आदि में गांधीवादी दृष्टिकोणों को स्पष्ट किया है, लेकिन युद्ध के प्रति गांधीवाद की मूल नीति क्या है, सत्य, अहिंसा आदि बातों को काव्य-रूप में तथा वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रथम श्रेय सियारामशरण गुप्त को ही है। १९४० ई० के बाद हिन्दी-साहित्य की विकास-दिशा में हम परिवर्तन पाते हैं। वर्तमान हिन्दी-काव्य-साहित्य में अनेक अन्तर्धाराएँ बह रही हैं। साहित्य में वादों का कारवाँ चलता जा रहा है। 'उन्मुक्त' का कवि वादों के वायदों से सर्वथा उन्मुक्त है। वर्तमान काव्य की विभिन्न काव्य-धाराओं के बीच सियारामशरण गुप्त एक ऐसे कवि हैं, जो अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का परिचय दे रहे हैं। कवि को गांधीवाद में पूर्ण श्रद्धा, विश्वास और सहानुभूति है। गुप्तजी भी गांधीवादी हैं, पर उन्होंने गांधीवाद के व्यावहारिक पक्ष को ही अधिक लिया है, वाद के रूप में नहीं। सियारामशरण गुप्त ने गांधीवाद के मूल दर्शन सत्य और अहिंसा को अधिक सहृदयता से ग्रहण किया है। 'उन्मुक्त' में गांधीवादी दर्शन-चेतना की अभिव्यक्ति अधिक ईमानदारी के साथ हुई है।

भाषा-शैली की दृष्टि से भी 'उन्मुक्त' का वर्तमान हिन्दी-काव्य-साहित्य में अन्यतम स्थान है। जैसा कि दिनकर ने लिखा है सियारामशरण जी के विचार तो पुराने हैं, पर शैली नवीन है। द्विवेदी-काल से बाहर निकलकर जब कवि ने छायावाद के युग में प्रवेश किया तो उसने उसकी शैली का सहर्ष स्वागत किया। पुराने विचार को नया आवरण देकर उसने अपनी प्रतिभा का जो परिचय दिया है वह अपने में पूर्ण है। शैली की दृष्टि से 'उन्मुक्त' एक गीति-नाट्य है। समूची पुस्तक कथोपकथन की शैली पर लिखी गई है, जिसमें नाटकीयता का अभाव नहीं है। इसके साथ ही नई काव्य-शैली को अपनाकर कवि ने यत्र-तत्र कवित्व का भी अच्छा परिचय दिया है। लेकिन 'उन्मुक्त' का कवि विचारक अधिक, कवि कम है। वाद

यह है कि 'दैनिकी' तथा 'उन्मुक्त' से सियारामशरण ने अपनी मनोदृष्टि बदल दी है। अब वह जीवन के सत्य, सुखी परिवार, देश और विश्व की खोज में प्रवृत्त हैं। विचारक और चिन्तक प्रायः कविता की ममता छोड़ देते हैं। 'उन्मुक्त' और 'कुरू-क्षेत्र' में यही हुआ है।

सियारामशरण के साहित्यकार के दो व्यक्तित्व हैं—गद्य में वह गृहस्थ हैं और पद्य में सामान्य विचारक। अपने उपन्यासों में वह सामाजिक रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों की विभीषिकाओं पर व्यंग्य करते हैं और पद्य में वर्तमान मानव-जीवन के संघर्षों का चित्रण करते हैं। 'उन्मुक्त' में कवि के मनोभाव में व्यापकता आ गई है। यहाँ कवि सामान्य मानव-जीवन के उलझे हुए प्रश्नों का समाधान निकालना चाहता है।

'उन्मुक्त' की श्रेष्ठता का आधार कवि की राष्ट्रीयता भी है। कवि रूपक-शैली में अपनी राष्ट्रीयता की मूल भावनाओं को उद्घोषित करने में सफल हुआ है। कुसुमद्वीप के बहाने कवि ने भारत का जय-गान किया है और विश्वास के साथ कहा है :

पावन कुसुमद्वीप, यह है हमारा ही।
यह है हमारा, हाँ हमारा, हाँ हमारा ही।
प्राण रहते हों, रहें; जायें यदि जाते हों;
तो भी कभी जाने नहीं देंगे किसी वैरी के
हाथों में कदापि इसे। इसके निमित्त ही—
तन-मन और धन अर्पित हमारे हैं।

'उन्मुक्त' में कवि को वर्तमान युद्ध की हिंसक नीति की विभीषिकाओं का चित्रण करने में सफलता तो मिली है, लेकिन इस पुस्तक की अद्वितीय सृष्टि मृदुला है। उसकी राष्ट्र-सेवा और वात्सल्य-स्नेह के अन्तर्द्वन्द्व को कवि ने बड़ी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया है। पुत्र-मृत्यु पर उसका विरह-वर्णन बड़े ही स्वाभाविक ढंग से हुआ है। मृदुला के चरित्र की अवतारणा में कवि को आशातीत सफलता मिली है। 'साकेत' में विरहिणी उर्मिला के चित्रांकन में यद्यपि गुप्तजी ने बड़ी सतर्कता और समर्थता दिखलाई है, पर वह एकांगी ही है, उसमें व्यक्तिगत विषाद की ही अधिकता है, लेकिन मृदुला की भावनाएँ उर्मिला की अपेक्षा अधिक व्यापक और व्यावहारिक हैं। माता के वात्सल्य-स्नेह और ममता के प्रकाशन में कवि की कला प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई है। मृदुला अपने निर्बल मनोभावों पर विजय प्राप्त करती है। उसका कवि ने बड़ी वैज्ञानिकता के साथ वर्णन किया है। 'मृदुला' के चरित्र में रामनरेश त्रिपाठी-कृत 'स्वप्न' और 'पथिक' में क्रमशः चित्रित सुमना और पथिक-पत्नी का सुन्दर योग है। वह सच्ची राष्ट्र-सेविका है और साथ ही सच्ची माता भी है। उसके दोनों रूपों का चित्रण 'उन्मुक्त' में हुआ है। 'स्वप्न' की नायिका सुमना की तरह मृदुला भी अपने पति गुणंधर में राष्ट्र-सेवा की भावना भरती है, सैनिकों को आगे बढ़ने के लिए उत्तेजित करती है, अपने पुत्र का बलिदान राष्ट्र की बलि-

वेदी पर चढ़ती है, फिर भी हँसती है। उसकी मुस्कान में वेदना और हास्य का मिश्रण है। कवि ने सामूहिक शोक के सामने व्यक्तिगत विषाद को महत्त्व नहीं दिया है। गुणधर के पुत्र की मृत्यु पर पुष्पदंत कहता है :

संख्या में हमारी स्त्रियाँ बच्चे तक वैरी के
लक्ष्य नित हो रहे ? समक्ष इन सबके
क्या है वह क्षुद्र शोक ?

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'उन्मुक्त' वर्तमान हिन्दी-साहित्य की एक अभिनव, अद्वितीय और अनुपम सृष्टि है।

'उन्मुक्त' का संदेश

आज का मानव अपने को सुसभ्य, ज्ञानी और विज्ञान से समन्वित कहता है। लेकिन मानव का आहार, क्रिया आदि पशुओं से भी विकसित है। वे सभ्य हैं, ज्ञान और विज्ञान से समन्वित हैं, पर इनमें लोभ का लाभ अधिक है। वे अपनी दुष्प्रवृत्तियों की पूर्ति के लिए धर्म-युद्ध करते हैं, न्याय-बुद्धि से उद्बोधित हो, हिंसात्मक भाव से उल्लसित होकर गर्व-घट से भरकर अपनी नृशंसिनी क्षुधा को पुष्ट बनाते हैं। आज संसार से सत्य बहिष्कृत हो गया है। मृदुला के शब्दों में :

अवनी पर से सत्य कर दिया गया बहिष्कृत,
सपने में ही उसे कर रही हूँ आविष्कृत।

वस्तुतः सत्य आज स्वप्न-जगत् की बात हो गया है। मानव से सत्य-बल का लोप हो गया है, गुणधर के शब्दों में :

मानव से अब और सत्य बल शेष नहीं क्या ?

गुणधर को ऐसा लगता है मानो विश्व में चारों ओर हिंसा का विशाल मरुस्थल है, जिसने अपने पेट में जीवन की सारी रस-धाराएँ हज़्म कर ली हैं :

हिंसा के इस महा मरुस्थल की विस्तृति ने
कर ली क्या उदरस्थ सभी जीवन-रस-धारा ?

आज मानव की उन्नति अधोगामिनी हो चुकी है। ऐसा लगता है कि मानवता दानवता का 'चिरदासत्व करेगी' जल-थल-नभ-तल सभी जगह आज हिंसा रूपी भैरव का चतुर्दिश नग्न-नृत्य हो रहा है। वह 'नर रक्त विलासी,' 'महामांस का रसना लोभी' 'निपट शून्य' पर अपना सिंहासन बिछाकर अखण्ड राज्य कर रहा है।

आज का मानव अपने बनाए हुए यन्त्रों से अपना ही आत्म-घात कर रहा है। गुणधर कहता है :

लगता मुझे तो यह, आत्मघात अपने
आयुधों से करते हमी हैं स्वयं अपना।

युद्ध का कारण

वर्तमान युद्ध का कारण है मानव की दुष्प्रवृत्तियाँ। आज एक नर का दूसरे नर से व्यक्तिगत संघर्ष नहीं है। आज मानव-हृदयों में शैतान बैठा हुआ है—उसमें हृदय के सारे अवगुण एकत्र हो चुके हैं :

युद्ध यह नर का नर से नहीं है,
वह सामने दनुज है।
जल थल और व्योमचारियों में जितनी,
हिंसा और क्रूरता के साथ है अधमता,
वह सब आकर इकट्ठी हुई उसमें। (गुणधर)
× × ×
उसके निगूढ़ किसी अन्तर में छिपके
कोई क्रूर अग्न्युत्पात, भूमिकंप पैठा है।

वर्तमान विश्व हिंसा की ज्वाला स चारों ओर सामने, पीछे, दायें-बायें सभी ओर प्रज्वलित है। उससे त्राण पाना कठिन हो गया है :

फूँक दी गई है तीव्र ज्वाला तीव्र हिंसा की
इस-उस ओर, सामने भी और पीछे भी।
धधक उठी है वह, त्राण कहाँ उससे ? (गुणधर)

आज संसार में उसीकी गुण-गाथा गाई जाती है, जो जितना बड़ा शोषक है, अत्याचारी है—ऐसे ही व्यक्तियों को लोग महावीर कहते हैं, युग-युग तक उन्हीं का जय-गान गाया जाता है :

अपने तेरों तले रौंद ले जो जितने को,
जो जितना निज भृत्य बना ले अन्य जन को,
वह उतना ही महावीर, उसकी गाथा
युग-युग तक इतिहास वहाँ का गाता जाता। (सुलोचन)

वर्तमान युग में विज्ञान की उन्नति ने सीमा-बंधन की गाँठ ढीली कर दी है :

आज गिरि-नद-सागर के।
सीमा-बन्धन टूट गए हैं अवनी पर के।

वर्तमान युद्ध का प्रधान कारण हिंसा में विश्वास करने वाला पुष्पदंत यह स्वीकार करता हुआ कहता है कि :

प्रतिहिंसा में छिपा हुआ निज का अभिमानी,
कोई हिंसक क्रूर स्वयं हममें बैठा था
जो वैरी में, वही हमारे में पैठा था।

'उन्मुक्त' में युद्ध की विकरालता और उसकी विभीषिकाओं का भी चित्रण हुआ है। सैनिकों द्वारा वर्तमान युद्ध में नारी का अपमान उसका बलात्कार, निर्दोष बच्चों की हत्या, विस्फोटक यन्त्रों द्वारा बड़े-बड़े नगरों-गाँवों का विध्वंस, नारी-अपहरण, चिकित्सालय, विद्यालय, पूजालय, गृह-भवन कुटीर का विध्वंस—वर्तमान युद्ध की अपनी विशेपताएँ हैं।

हेमद्वीप की मृदुला की एक सखी मालिनी संध्या वेला में छत पर बैठी थी। अचानक—

सहसा नभ में व्योमयान घहरे घर-घर घर।
फिर बरस पड़े विध्वंस पिण्ड सौ-सौ यानों से,

× × ×

चिकित्सालय, विद्यालय, पूजालय,
गृह-भवन, कुटीरों के चय के चय
गिरकर अपनी ध्वंस चिताओं—
में थे जलते, कहीं उजलते, कहीं
सुलगते, धुआँ उगलते।

मालिनी की कन्या हेमा जो कुमुद-फूल-सी कोमल थी, साँझ के समय नदी-कूल की ओर अपने लघु सहोदर के साथ उसकी उँगली थाम गई थी। लेकिन पकड़ ली गई मत्त सैनिकों से बेचारी और उसकी माँ—

माँ व्याकुल हो खोज रही थी मारी-मारी।

समूचे नगर पर सैनिकों का राज्य था। वे उस दिन 'विजय-मद-मत्त होकर' महानाश की होली में अपना विजय-पर्व मना रहे थे। लोभी नर-पशुओं ने उस बेचारी हेमा से खुलकर बलात्कार किया।

लोभी नर-पशु उसे जिलाये रहा रात-भर
सैन्य शिविर में।

युद्ध के मैदान में मृतक सैनिकों की कैसी बुरी हालत होती है, उसकी जिन्दा तस्वीर यहाँ देखिए :

कोई उसको खींच रहा था कुटिल कचों से,
कोई उसको बेध रहा था निज किरचों से।
कोई-कोई पदाघात करते थे बढ़कर
पीछे से कुछ अन्य किसी का स्कंध पकड़कर।

युद्ध का परिणाम भी कितना भीषण है—कुसुमद्वीप योजनों तक—

योजनों तक बहु विस्तृत
बड़े-बड़े कृषि-क्षेत्र पड़े थे शत्रु पदांकित
उन्मूलित-उच्छिन्न।
ग्राम पूरे-के-पूरे ऊँचे-ऊँचे धुस्स
बने थे अपने घूरे।
कोसों तक सुनसान, नहीं कोई जन-मानव,
बीच-बीच में गीध-घिरे मनुजांग गलित शव।

नगरी की अवस्था—

देखा मैंने दृष्टि डाल सम्मुख मधु नगरी,
खण्ड-खण्ड हो बगर गई हो जैसे गगरी।
पथ के हुए पहाड़, ध्वस्त ग्रह-ढूहों वाले,
जली देह में उमड़ पड़े दीखे वे छाले।

'उन्मुक्त' में दो विभिन्न मनोवृत्तियों वाले मानव का संघर्ष दिखलाया गया है। एक है पुष्पदंत, जो हिंसा के बल से, भस्मक यंत्रों के प्रयोग से शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना चाहता है; दूसरा है गुणधर, जो हिंसा में विश्वास नहीं करता, लेकिन पुष्पदंत उसे सदैव उत्तेजित करता रहता है। अपने पुत्र की मृत्यु से गुणधर हतोत्साहित हो जाता है। वह अपने सेनापति पुष्पदंत की आज्ञा का उल्लंघन करता है। गुणधर का कहना है—

यह है अधम की हिंसा नीति, शूरता जो
दीखती है इसमें वह छलना है, भीरुता है छद्मरूपिणी।

× × ×

थोड़े-से लुटेरे जो अचानक के धावे में
पाते हैं विजय लाभ,
अन्य की असावधानी, अन्य की अबलता
लांछित जहाँ हो, वहाँ वीरता के गुण की
चर्चा भला कैसी कहाँ ?

पुष्पदंत का तर्क है :

हमारा अतुल पराक्रम
अब भी है जीवन, कहीं का कोई निर्मम
कर सकता है नहीं दलित, पद-पीड़ित उसको।
जागृत रखते हुए नित्य निज प्राण-पुरुष को
जूझेंगे हम।
नहीं जूझता है रिपु से ही,
फिसल-फिसल जो रहे स्वकीयों में उनसे भी
करना है संघर्ष। न क्यों सम्मुख गुणधर
देना होगा दण्ड उसे भी निष्ठुर होकर।
तो हाँ, ऊँची उठे और वह निर्मम ज्वाला,
पी लेना है कठिन हलाहल का वह प्याला।

गुणधर का करुण-क्लांत हृदय विश्व की हिंसक नीति से घबरा उठता है। वह मानव की रक्षा करना चाहता है :

मेरे मानव, बता तुझे, चुपचाप सहूँ क्या ?

गुणधर पुष्पदंत द्वारा वन्दी बना लिया जाता है। लेकिन गुणधर अपने को वन्दी नहीं मानता और कहता है :

'आज मैं विमुक्त मृत्युञ्जय हूँ।'

कुसुमद्वीप की हार होती है। भस्मक यंत्र, जिसको मृदुला ने जयंत के पास भेजा था, शत्रुओं के हाथ पड़ जाता है। मृदुला इसके लिए अपराधिनी ठहराई जाती है। इस हार से पुष्पदंत की आँखें खुल जाती हैं और उसे अहिंसा के महत्त्व को स्वीकार करना पड़ता है। उसे कहना पड़ा :

है कैसा पाशविक हिंसा ज्वाला का ताण्डव।
हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है, वही हमारा भी है मंगल।
मिला हमें चिर सत्य आज नूतन होकर—
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर।

'उन्मुक्त' के अमर सन्देश गाँधी जी के सिद्धान्तों पर आधारित हैं। पुष्पदंत ने अन्त में गांधीवाद की अहिंसा-नीति का प्रतिपादन किया है। हिंसा का कारण हृदय की क्रूरता है—कोई हिंसक अभिमानी हमारे हृदय के कोने में बैठा है जो विजित और विजयी दोनों में है। दोनों के हिंसात्मक भावों की टकराहट ही युद्ध है, संघर्ष है। एक के शान्त रहने पर युद्ध नहीं हो सकता।

प्रतिहिंसा में छिपा हुआ निज का अभिमानी
कोई हिंसक क्रूर, स्वयं हममें बैठा था,
जो वैरी में, वही हमारे में पैठा था।

पराजय का कारण है कपट, असत्य और पाशविक हिंसा। पराजय की असफलता धक्का देकर हमारी निर्बलता प्रमाणित कर देती है। उस निर्बलता को हम अपना पराक्रम समझे हुए हैं।

वास्तविक 'पौरुष अविजेय है।'

हिंसानल से हिंसानल शान्त नहीं होता। हिंसा का एक-मात्र प्रत्युत्तर अहिंसा है। यही जीवन का चिर सत्य है। अहिंसा के सिद्धान्त को मानने वाला व्यक्ति वस्तुतः शक्तिशाली है—गुणधर की तरह मृत्युञ्जय है। यह ठीक है कि अहिंसकों के सामने तरह-तरह की कठिनाइयाँ, मुसीबतें सदैव आती रहती हैं, लेकिन वास्तविक विजय उन कठिनाइयों के झेलने में है। 'अहिंसक मरण' वास्तविक पौरुष है। सच तो यह है कि हिंसक के पास भी हृदय होता है, वह भी पूर्णतः निर्मम नहीं होता, उसके हृदय के किसी कोने में कोमलता रहती है, अज्ञानावस्था में जब तक उसका मानव सोया रहता है, तब तक हिंसक बना रहता है। अज्ञानता का पर्दा हट जाने पर उसकी हिंसक भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं। हिंसकों पर विजय प्राप्त करने के लिये प्रताड़ना की नहीं, बल्कि प्रेम की आवश्यकता है:

हिंसक भी है नहीं निरा दानव ही दानव,
सोया है अज्ञान दशा में उसका मानव।

उस पर विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यकता है—रोष-रहित प्रेम-भाव और कष्ट सहन करने के धैर्य की:

दोष रहित सप्रेम स्वयं के कष्ट सहन से,
कर उसका उन्नयन स्वयं उन्नत होंगे।

वास्तविक सभ्यता का उत्थान—उपर्युक्त दो गुणों को हृदयस्थ करने में है। मनुष्यत्व के पौरुष की वास्तविक कसौटी 'कठिन कष्ट, संकट भीषण तम' है। पौरुष को सदैव तलवार की धार पर चलना पड़ता है। मनुष्य में उपर्युक्त गुणों की

कमी नहीं है। छल, कपट और माया से किसी व्यक्ति या किसी राष्ट्र पर विजय प्राप्त करना सच्ची विजय नहीं है। कुसुमद्वीप के महामात्य का कहना है—

वीरता के बल से
हमको हराया नहीं जा सका है,
....
हमनें शत्रु से न खाकर स्वयं से हार खाई है।
× × ×
प्रत्यय है मुझको—
द्वीप की नहीं है हार, हार यह मेरी है।

भ्रान्ति का संशोधन करना ही पुण्य कार्य है।

अहिंसक की भावनाएँ अपने देश तक ही सीमित नही रहतीं, वरन् वह निखिल विश्व की मंगल-कामना करता है क्योंकि :

'आज गिरि-नद-सागर के, सभी बंधन टूट गये हैं अवनी पर के'

आज संसार हिंसक नीति से पीड़ित है। वास्तविक सुख और आनन्द व्यक्ति के सुख में नहीं विश्व के सुख में है :

जो सबका है, वही हमारा भी है मंगल।

पुनश्च,

केवल निज के लिए नहीं, निज का निजपन सब,
निखिल विश्व के साथ हुआ है सम्बन्धित अब।

अहिंसक संसार का काल-कूट, हलाहल पीकर मृत्युंजय बना रहता है। वह निर्भयता का दान देता रहता है। वह आतंक, प्रताड़ना से नहीं डरता—बल्कि मानवात्मा की पीड़ा हरने के लिए लालायित रहता है। अहिंसा की भावना में आत्मा का संशोधन है, हृदय का परिवर्तन है, अज्ञान का नाश है। जब तक हृदय की दुश्चिन्ताएँ, दुष्प्रवृत्तियाँ नष्ट नहीं होतीं, तब तक हमारी हिंसक नीति अपनी जगह बनी रहेगी। पुष्पदंत, जो पहले हिंसा-नीति में विश्वास करता था, अपनी भूल का संशोधन करके संसार के मंगल के लिए विश्व के हलाहल को अमृत में बदलने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। गांधीवाद के अहिंसावाद का यही मूल मंत्र है—यही अमर संदेश है जिसको सियारामशरण जी ने पद्यबद्ध करके सहृदयों की भावनाओं को कुरेदने की चेष्टा की है।

'उन्मुक्त' की सार्थकता

ग्रन्थ का नाम 'उन्मुक्त' उचित और सार्थक है। इसके नामकरण का आधार मनोवैज्ञानिक है। दो अर्थों में इसका उपयोग हुआ है।

(१) गुणधर जब अपने सेनापति पुष्पदंत की आज्ञाओं का उल्लंघन करता है, तब वह बन्दी बना लिया जाता है और उसे मृत्यु-दण्ड मिलता है। उस समय गुणधर अपने को कहता है—'मैं मृत्युञ्जय हूँ।' गुणधर को अपनी आत्मा की शक्ति

में पूर्ण विश्वास है। उसके शरीर को पुष्पदंत ने बंदी अवश्य बना लिया, लेकिन उसकी उन्मुक्त आत्मा को कोई बन्दी नहीं बना सका—न तो पुष्पदंत ही और न दुश्मन ही। सभी अहिंसावादी अपनी आत्मा को स्वतन्त्र और उन्मुक्त मानते हैं। गुणधर भी एक ऐसा ही अहिंसावादी है। पुष्पदंत की जब आँखें खुलती हैं और जब वह भी मृत्युञ्जय बनने की इच्छा गुणधर के सामने प्रकट करता है :

कालकूट जो उछल पड़ा है भीत भुवन में,
करने उसका पान हो सकें हम मृत्युञ्जय।

'उन्मुक्त' का अर्थ है आत्मा की स्वतन्त्रता, क्योंकि वह असीम और अबद्ध है।

(२) दूसरे अर्थ में भी 'उन्मुक्त' शब्द का प्रयोग हुआ है। पुष्पदन्त जब अहिंसा का पुजारी बन जाता है और जब वह अपना क्षोभ गुणधर और मृदुला के सामने प्रकट करता है, तो वह कहता है :

मरण के दण्ड-दमन से
करता हूँ उन्मुक्त तुम्हें त्रुटि-मार्जन मन से।

वह गुणधर को बन्दीगृह से स्वतन्त्र कर देता है। पुष्पदंत को आत्मा की उन्मुक्ति में पूर्ण विश्वास हो चुका है। वह अच्छी तरह जानता है कि भौतिक बंधन परिवर्तनशील हैं, जिसका उतना महत्त्व नहीं जितना आत्मा की शक्ति का है। इन्हीं दो अर्थों में 'उन्मुक्त' शब्द का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः पुस्तक का नामकरण मनोविज्ञान और अध्यात्म के आधार पर हुआ है।

पाँचवाँ खण्ड

तुलनात्मक समीक्षा

: १ :

तुलनात्मक अध्ययन

पिछले ७०-८० वर्षों में गद्य का उतना सर्वांगीण विकास हुआ जितना पहले कभी न हुआ था। गद्य-साहित्य के अंगों के विकास से यह बात स्पष्ट है कि आज का साहित्यकार जहाँ एक ओर विश्लेषण-बुद्धि से काम लेने लगा है, वहाँ दूसरी ओर साहित्य की टेकनीक, रूप-विधान तथा शैलियों के चमत्कार-प्रदर्शन में अधिक अनुराग रखता है। हिन्दी के आधुनिक गद्य-लेखकों की प्रवृत्तियाँ इसी ओर झुकी हैं। अत्यधिक अप्रासंगिक बातों का उल्लेख न करके मैं कहना चाहूँगा कि हिन्दी का गद्य-साहित्य विश्व के गद्य-साहित्य के साथ होड़ करने में आज अपनी समस्त शक्तियों के साथ प्रयत्नशील हैं। यद्यपि आधुनिक हिन्दी-गद्य में उपन्यास और कहानी को छोड़कर गद्य के अन्य अंगों का अभी उतना विकास नहीं हो सका है तथापि एक सुधी विद्यार्थी और सजग आलोचक को कहानी-साहित्य का अध्ययन करते समय अन्य साहित्यांगों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। आज के साहित्य में कहानी ने अपना अडोल स्थान वना लिया है। इसमें भविष्य की बड़ी-बड़ी संभावनाएँ छिपी हैं।

निम्नलिखित पंक्तियों में कहानी-कला को ध्यान में रखते हुए तथा गद्य-साहित्य के कुछ प्रमुख अंगों के साथ उसकी संगति, समता तथा विषमता दिखलाते हुए उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। कहानी की तुलना गीति-काव्य, इतिहास, खंडकाव्य, संस्मरण, रेखाचित्र इत्यादि से भी की जाती है, पर मैंने यहाँ उपन्यास, एकांकी और निवन्ध को कहानी के तुलनात्मक अध्ययन का लक्ष्य बनाया है। इसका कारण यह है कि कहानी और उपन्यास, कहानी और एकांकी तथा कहानी और निवन्ध में जितना सीधा सम्वन्ध, जितनी समीपी समानता और जितना सूक्ष्म अन्तर है उतना गद्य-साहित्य के अन्य अंगों के साथ नहीं।

कहानी और उपन्यास

कहानी की परिभाषा और उसके वास्तविक स्वरूप को स्थिर करते समय यह स्वाभाविक प्रश्न होता है कि कहानी और उपन्यास में कितनी समानताएँ और कितनी विषमताएँ हैं। यह प्रश्न और भी उग्र हो उठता है जब कुछ लोग यह कहने लगते हैं कि "कहानी उपन्यास का लघु-रूप है।" उपन्यास के किसी एक अध्याय को कहानी का रूप दिया जा सकता है। यदि दोनों में कोई अन्तर है

तो इतना ही कि "कहानी एक लघु कथा है और उपन्यास एक विस्तृत आख्यान।" इस दृष्टि से "कहानी उपन्यास का संक्षिप्त संस्करण है।" साहित्य के सर्व-साधारण पाठकों के बीच कहानी और उपन्यास का यही स्थूल अन्तर बहुत अधिक प्रचलित या प्रचारित है। अंग्रेज आलोचक विलियम हडसन ने तो यहाँ तक कहा है: "Short story is the coming form of fiction and ultimately it will displace the novel entirely." इसी बात को आचार्य गुलाबराय ने कुछ प्रकारान्तर से इस प्रकार कहा है—"कहानी अपने पुराने रूप में उपन्यास की अग्रजा है और नये रूप में उसकी अनुजा। वृत्त या कथा-साहित्य की वंशजा होने के कारण कहानी और उपन्यास दोनों में कई बातों की समानता है। दोनों ही कलात्मक रूप से मानव-जीवन पर प्रकाश डालते हैं।" यहाँ यह प्रश्न होता है कि क्या कहानी छोटा उपन्यास है या उपन्यास बड़ी कहानी। आचार्य गुलाबराय ने इस प्रश्न का उत्तर एक दृष्टान्त के सहारे दिया है—"ऐसा कहना वैसा ही असंगत होगा जैसा चौपाए होने की समानता के आधार पर मेंढक को छोटा बैल और बैल को बड़ा मेंढक कहना। दोनों के शारीरिक संस्कार और संगठन में अन्तर है। बैल यदि चार पैरों पर समान बल देकर चलता है तो मेंढक उछल-उछलकर रास्ता तय करता है।"[१] इन तर्कों के आधार पर कहानी को उपन्यास का 'Coming form' कहना उचित नहीं।

उपन्यास और कहानी के विषय और उद्देश्य समझने में जो भी समानताएँ हों लेकिन दोनों की वास्तविकता को समझने के लिए आधुनिक कहानी की प्रगति से अवगत होना आवश्यक है। कहानी-कला अपने स्वतंत्र रूप में इतनी अधिक प्रगति करती गई कि उसकी स्वतंत्र सत्ता को विद्वानों ने एकमत होकर अन्तिम मान्यता दे दी है। जब तक आधुनिक कहानी का जन्म नहीं हुआ था, तब तक इसका अस्तित्व विवाद का विषय बना रहा। यूरोप में १९वीं शताब्दी तक (हमारे यहाँ प्रथम महायुद्ध तक) कहानी को लोग 'कथा', 'आख्यायिका', 'आख्यान', तथा 'लोक-कथा' का पर्याय मानते रहे। सम्पादक टी० शिपले (T. Shipley) ने अपनी महान् कृति 'Dictionary of the world literature' (पृष्ठ ५२२) में इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "It is the 19th century that the narrative form, currently known as 'Short-Story', emerged...Most stories of the 19th century continued to be loosely constructed. The very term 'Story' was seldom employed, short narratives being generally called 'Tales', Sketches', 'Viquettts' or even 'Essays' etc.. यही बात हिन्दी-साहित्य में द्विवेदी-युग तक होती रही। जिस तरह १९ वीं शताब्दी में योरोपीय विद्वान् छोटी कहानी को Tales, Sketches, Viquetts, Essays का पर्याय मानते रहे उसी तरह हमारे देश में भी सन् '१५ तक छोटी

१. 'काव्य के रूप', पृष्ठ २०६-२३६

कहानी को प्राचीन आख्यायिका, कथा, लोक-कथा आदि का आधुनिक संस्करण मानते रहे। यह धारणा बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ी कि लोग कहानी को उपन्यास का लघु रूप मानने लगे। आधुनिक विश्व के गद्य-साहित्य में उपन्यास और कहानी का ही अत्यधिक विकास हुआ, इसीलिए कहानी की अन्तिम टकराहट उपन्यास से हुई। परन्तु आज यह बात स्पष्ट हो गई है कि कहानी और उपन्यास दोनों साहित्य की स्वतंत्र सृष्टियाँ हैं जिनके रूप, प्रभाव, शैली और उद्देश्य में महान् अन्तर है। कहानी को उपन्यास का 'लघु रूप' कहने का समय अब नहीं रहा। आधुनिक विश्व के गद्य-साहित्य में कहानी को आज जो निर्विघ्न और निर्द्वन्द्व स्थान मिला है वह उसकी एकान्त प्रगति और स्वतंत्र सत्ता-शक्ति का परिचायक है। आज न तो बाह्य दृष्टि से और न आंतरिक दृष्टि से उपन्यास और कहानी में समानताएँ रह गई हैं। डा० श्रीकृष्णलाल ने ठीक ही लिखा है कि 'कहानी उपन्यास का छोटा रूप नहीं है, वरन् यह उससे एक सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र साहित्य रूप है।'

स्थूल दृष्टि से उपन्यास और कहानी के मूल अन्तर स्पष्ट हैं, लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से दो बातें ऐसी हैं जिनके प्रकाश में निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कहानी की अपनी सीमाएँ हैं, उनमें दूसरों का अनधिकार प्रवेश नहीं हो सकता है; इसी तरह उपन्यास के अपने दायरे हैं। उसकी भी अपनी मर्यादाएँ हैं। दोनों के अस्तित्व पर अब कोई आतंक नहीं रहा। जब था, तब था। इन पंक्तियों में मैं अपनी पुस्तक 'हिंदी कहानी और कहानीकार' से कुछ उद्धरण देकर उपन्यास और कहानी के मूल अन्तर को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ—"पहली बात यह है कि कहानी में जहाँ जीवन की एक झलक दिखलाने की चेष्टा की जाती है वहाँ उपन्यास में जीवन की विशद और विषम परिस्थितयों का चित्रण होता है। उपन्यासकार वह शिकारी है जो अपने निशाने की चिड़ियों तथा उसके आस-पास के दृश्य, वातावरण, जहाँ तक उसकी दृष्टि जा सकती है, का निरीक्षण करता है। इसके विपरीत, कहानीकार धनुर्विद्या-विशारद वीर अर्जुन की तरह अपने निशाने को अचूक बनाने के लिए केवल पक्षी की आँख को और ज्यादा-से-ज्यादा सिर को, जिसमें आँख स्थित है, लक्ष्य करके तीर छोड़ता है। कहानी और उपन्यास में यही मूल अन्तर है।" दूसरी बात यह कि कहानी में जहाँ व्यक्ति या चरित्र के किसी एक पहलू या व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है वहाँ उपन्यास में उसका विकास होता है। अतएव, अंग्रेज-आलोचक हडसन के शब्दों में यह ठीक ही कहा गया है कि 'In short story character is revealed, not developed.' कहानी में चरित्र की अभिव्यक्ति (Revelation) होती है और उपन्यास में उसका विकास। दोनों में तात्विक अन्तर का यही मूल कारण है। ऐसी हालत में कहानी को 'उपन्यास की अनुजा' या 'Coming form of fiction' नहीं कहा जा सकता।

कहानी और उपन्यास में जो मौलिक भेद है वह है शिल्प-विधान (Technique) का। "वातावरण का विस्तार, जीवन की अनेकरूपता, प्रासंगिक कथाओं

के तारतम्य के कारण कथा-प्रवाह का बहुशाखा होकर अन्त की ओर अग्रसर होना, पात्रों का बाहुल्य आदि बातें जो उपन्यास में श्लाघ्य या कम-से-कम क्षम्य समझी जाती हैं, कहानी में अग्राह्य हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त कहानीकार अपने पाठक को अन्तिम संवेदना तक शीघ्रातिशीघ्र ले जाता है और एक साथ पर्दा उठाकर सजी-सजाई झाँकी की मोहक एवं आकर्षक छटा से मनोमुग्ध कर देता है। वह बीच-बीच में रहस्योद्घाटन नहीं करता, एक-दो संकेत चाहे कर दे, किंतु अन्तिम क्षण तक बात को पेट में पचाये रखता है।" कहानीकार यदि संश्लेषक है तो उपन्यास-कार विश्लेषक। दोनों का अन्तर बिलकुल स्पष्ट है। हिन्दी-कथा-साहित्य में प्रेम-चन्द ही पहले कथाकार थे जिन्होंने उपन्यास और कहानी के इस सूक्ष्म तथा बारीक अन्तर को भली-भाँति समझने और समझाने की सक्रिय चेष्टा की थी। उन्होंने कहा था—"कहानी एक ऐसा उद्यान नहीं है जिसमें भाँति-भाँति के फूल, बेल, बूटे सजे हुए हैं, बल्कि एक गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।" इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि कहानी का स्वरूप और उसकी परिभाषा उपन्यास की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है। दोनों साहित्य की नितान्त नूतन और सर्वथा भिन्न कलात्मक सृष्टियाँ हैं। कहानी गीति-काव्य की तरह हमारी संवेदनात्मक रागात्मक वृत्तियों को जितना अधिक स्पन्दित करने में समर्थ होती है उतना उपन्यास नहीं। कहानी की लोक-प्रियता का यह भी एक कारण है।

कहानी और एकांकी

आजकल हिन्दी-साहित्य में एकांकी नाटकों की धूम है। इसके अनेक कारण हैं। एक तो आधुनिक युग की कार्य-व्यस्तता के कारण पाठकों का समयाभाव; दूसरा, लेखकों का जीवन के एकांगी पक्षों के प्रति एकांताग्रह। वर्तमान विश्व-साहित्य में कहानी और एकांकी ने अपना अचल और अडिग स्थान बना लिया है। पिछले ४०—५० वर्षों में इनकी जितनी माँग बढ़ी है उस अनुपात में साहित्य के अन्य अंगों की नहीं। वास्तव में, कहानी और एकांकी विश्व-गद्य-साहित्य के विकास की संभवतः अन्तिम परिणतियाँ हैं। साहित्यकार की सूक्ष्मदर्शी विश्लेषण-बुद्धि विकसित होते-होते कहानी और एकांकी तक पहुँचकर गद्य-साहित्य के चरम विकास की सूचना दे चुकी है। हिन्दी में आधुनिक कहानियों और एकांकियों का उदय २० वीं शताब्दी में ही संभव हुआ। अतः हिन्दी-एकांकी और कहानी का इतिहास उनकी किशो-रावस्था का जीवन भर है। पर इस थोड़े-से ही समय में साहित्य के इन दो महत्त्व-पूर्ण अंगों ने जिस तेज रफ्तार में अपना रास्ता तय करके अपनी महत्ता और शक्ति का परिचय दिया है वह आश्चर्यजनक और प्रशंसनीय है। हर वर्ष हिन्दी-कहानियों और एकांकियों की माँग बढ़ती जा रही है और पहले की अपेक्षा इनकी खपत संतोष-जनक है। प्रश्न यह है कि इनकी लोक-प्रियता का कारण क्या है? विज्ञान के इस युग में जबकि मनुष्य थोड़े समय में अधिक-से-अधिक ज्ञान-लाभ करना और अपना मनोरंजन करना चाहता है, वह ऐसे ही साहित्य की माँग करता है जिससे उसके दैनिक जीवन की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने में थोड़ी-बहुत सहायता मिल

सके। आज का साधारण पाठक पेट को भोजन, मन को शान्ति और मस्तिष्क को ज्ञान-विज्ञान से भरना चाहता है। जो साहित्य थोड़े समय में ये सामग्रियाँ जुटा सके, वह उपकारी और उपयोगी होता है। कहानी और एकांकी सर्वसाधारण पाठकों की बढ़ती हुई इस माँग की पूर्ति करते हैं। यही कारण है कि साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा इनकी (कहानी और एकांकी) लोकप्रियता, आवश्यकता और उपयोगिता दिनानुदिन बढ़ती जा रही है। कहानी और एकांकी की रचना तभी होती है जब मन का संवेग मस्तिष्क के वेग से मिलकर, एकाकार होकर, समाजोपयोगी भावों की नूतन सृष्टि करता है। यदि ऐसा न होता तो साहित्य का लक्ष्य पूरा नहीं होगा। एक एकांकी-लेखक (प्रो० काश्यप) ने अपने एकांकी नाटकों ('परमाणु भ्रम', 'कवि-प्रिया' आदि) को 'कवित्व की नाटकीयता' की संज्ञा दी है, कहा है: "कवित्व की नाटकीयता के अभाव में जीवन के घूर्णित भावों को सन्तोष नहीं मिल पाता। नाटकीयता का प्रस्फुटन यों तो बिना कवित्व के हो सकता है। किन्तु भाव-सौष्ठव की गरिमा नहीं निखर पाती।"[1] प्रश्न यह होता है कि क्या नाटक लिखने के लिए कवि होना अनिवार्य है? क्या यह आवश्यक है कि कहानीकार अथवा एकांकीकार अपनी ऊर्ध्वमुखी रागात्मक प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति का पथ दे ही? इस प्रश्न के उत्तर में मैं यह कहना चाहूँगा कि जहाँ तक उद्देश्य का प्रश्न है, कहानीकार हो या एकांकीकार, उसे वस्तुवादी व्यावहारिक दृष्टि अपनानी ही पड़ती है। कहानी और एकांकी की रचना की मूल प्रेरक-शक्ति समाज है न कि लेखक का अन्तर्मुखी मन या अवचेतना। यह काम तो उनका है जो भावुक, स्वप्निल और कल्पनाजीवी हैं—एक विशुद्ध छायावादी कवि। छाया से हम कुछ देर के लिए अपना मन भले ही बहला लें, लेकिन वह सत्य नहीं। एक धोखा है, अतः उससे बचना ही होगा। इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि अपने मूल उद्देश्य में कहानी और एकांकी की एकता और एकरूपता स्वयंसिद्ध है। दोनों की दृष्टियाँ सामाजिक और बहिर्मुखी होती हैं। दोनों का एक ही लक्ष्य है: सामाजिकों की संवेदनाओं को जागृत करते हुए मस्तिष्क में हिलोर पैदा करना। कवि और कहानीकार—एकांकीकार में जो तात्विक भेद है वह यह कि "कवि अपने अहम् की भावनाओं को शेष सृष्टि के साथ मिलाकर देखता है। उसकी व्यक्तिगत अनुभूति या तो उस वातावरण से टकरा पड़ती या कहीं मेल खा जाती है। जहाँ वह मेल खा जाती है वहाँ वह हर्षित-पुलकित हो अपनी भावना को गान के रूप में अभिव्यक्त कर देता है, जहाँ उसकी भावनाओं के साथ वातावरण टकरा जाता है, वहाँ वह खीझ उठता है, फुफकार उठता है या फिर अपने मन की एक अलग दुनिया बसाने में तल्लीन हो जाता है। इसके विपरीत कहानीकार अथवा एकांकीकार सृष्टि नहीं, सृष्टि के सामाजिक जीवन के साथ अपना प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करता है। उसमें पैठकर वह वहाँ की असंगतियों, अभावों, अभियोगों और समस्याओं पर दृष्टिपात करता है। इसलिए कहानीकार या एकांकीकार के लिए यथार्थता का प्रश्न

१. 'कवि-प्रिया', पृ० ३

बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उसका चित्रित लोक जितना ही यथार्थ होगा उसकी कला उतनी ही सफल मानी जायेगी। इससे यह स्पष्ट है कि कहानीकार और एकांकीकार को वस्तुनिष्ठ होना पड़ता है। जहाँ कवि की सफलता अधिकाधिक आत्मनिष्ठा पर निर्भर करती है वहाँ कहानीकार-एकांकीकार की सफलता वस्तु-निष्ठता में निहित होती है। इससे यह तात्पर्य नहीं निकालना चाहिए कि दोनों—कवि और कहानीकार—एकान्त भाव से अपने-अपने क्षेत्र में कीलित रहते हैं। नहीं, दोनों में मात्रा का अन्तर होता है। कवि भी वस्तुनिष्ठ हो सकता है और कहानीकार या एकांकीकार भी आत्मनिष्ठ हो सकता है, पर प्रमुख रूप में वह ऐसा नहीं होगा। इन अप्रासंगिक बातों के लिए मैं क्षमा चाहता हूँ। मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि उद्देश्य और वर्ण्य-विषय की दृष्टि से एकांकी और कहानी का एक ही लक्ष्य है। सच तो यह है कि अपने मूल रूप में कहानी और एकांकी में विषमताओं के लिए कम-से-कम गुञ्जाइश है। डा० नगेन्द्र ने एकांकी की जिन आवश्यकताओं पर प्रकाश डाला है वे कहानी के लिए भी अनिवार्य हैं। डा० सत्येन्द्र ने उनके कथन का सारांश इस प्रकार दिया है—

विस्तार की सीमा कहानी जैसी।

जीवन का एक पहलू, एक महत्त्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षण।

एकता, एकाग्रता, आकस्मिकता की अनिवार्यता।

संकलनत्रय उतना अनिवार्य नहीं।

प्रभाव और वस्तु का ऐक्य अनिवार्य।

स्थान और काल की एकता अनिवार्य नहीं।

इन सांकेतिक पंक्तियों में एकांकी के लिए जिन आवश्यक बातों का निर्देश किया गया है, लगभग सभी कहानी के लिए भी अनिवार्य हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि कहानी और एकांकी के दृष्टिकोणों में कोई अन्तर नहीं है। लेकिन जहाँ तक उसकी टेकनीक और रूप-रचना तथा शैली का प्रश्न है वहाँ दोनों में बहुत बड़ा भेद पड़ जाता है। डा० सत्येन्द्र के शब्दों में 'एकांकी कहानी नहीं है।' वास्तव में बात भी कुछ ऐसी ही है। साहित्य के विद्यार्थी को उनके सूक्ष्म भेदों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। एकांकी का प्राण कथोपकथन है : यह जितना ही संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी, वाग्वैदग्ध्यपूर्ण और चरित्र की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट करने वाला होगा एकांकी उतना ही सफल सिद्ध होगा। कहानी के लिए कथोपकथन कोई आवश्यक तत्त्व नहीं है। दूसरी बात यह है कि एकांकी की रचना में रंगमंच की सुविधाओं को ध्यान में रखना पड़ता है। कहानीकार का रंगमंच पाठकों का हृदय है, जिस पर वह अपनी तूलिका से भावों को मांसल तथा वाचाल चित्र रूपों में उतारता जाता है। इस दृष्टि से कहानी-लेखक की स्वतन्त्रता एकांकी-लेखक की अपेक्षा अधिक है। तीसरी बात संकलन-त्रय संबंधी है जिसमें मतभेद की गुञ्जाइश बहुत अधिक है। कहानी और एकांकी में संकलन-त्रय का प्रश्न विवादास्पद है।

चूँकि दोनों में कथानक का संकोच अधिक होता है, इसलिए संकलन-त्रय का सिद्धान्त दोनों के लिए उपयोगी हो सकता है। इससे सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि व्यर्थ की बातों का समावेश न हो सकेगा। संकलन-त्रय प्रभाव की एकता (unity of impression) और रस-निष्पत्ति में भी सहायक हो सकता है। फिर भी यह कोई अनिवार्य तत्त्व नहीं है। यह तो उनके लिए है जो कहानी या एकांकी लिखने का प्रारंभिक प्रयास करते हैं। फिर भी यह कहना अत्युचित न होगी कि एकांकी नाटकों में स्थान और काल की एकता का प्रश्न एक आवश्यक प्रश्न है। एकांकी की अपनी सीमाएँ हैं। उसे उन सीमाओं में सिमटकर ही रहना पड़ता है। उस पर रंगमंच की सुविधाओं और अभिनय-कला की आवश्यकताओं का बाहरी नियंत्रण आदेश के रूप में एकांकी-कला पर सदैव शासन करता रहता है। इसलिए एकांकियों में संकलन-त्रय के सिद्धान्त की विशेष चिन्ता एकांकी-लेखकों को करनी पड़ती है। इसके विपरीत कहानीकार पर इस प्रकार का कोई भी बाहरी दबाव नहीं है। वह तो आकाश का स्वतन्त्र पंछी है, उसके लिए सभी द्वार उन्मुक्त हैं। उसकी पहुँच सभी जगह है। वह चाहे तो संकलन-त्रय के सिद्धान्त को माने या न माने, उसकी मर्जी। लेकिन एकांकीकार को स्वाभाविक सीमाओं के आदेशों को मानना ही पड़ता है। अतः कहानी की अपेक्षा एकांकी स्वतन्त्र टेकनीक वाले साहित्य का एक भेद है।

कहानी और निबंध

आधुनिक साहित्य में निबन्ध एक कला है। उसका भी एक स्वतन्त्र अस्तित्व है। आधुनिक गद्य की अन्तिम मंजिल निबंध है, जहाँ गद्य अपनी परिपक्वता का प्रमाण-पत्र देता है। निबन्ध और कहानी के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि प्रभाव और विस्तार की दृष्टि से आधुनिक कहानी निबन्ध के बहुत निकट आ गई है। निबन्ध से मेरा तात्पर्य यहाँ वैयक्तिक निबन्ध (Personal essay) से है। जिस तरह एक अच्छे वैयक्तिक निबन्ध में जीवन का पूरा चित्र उपस्थित नहीं किया जाता, उसी प्रकार कहानी में भी जीवन का खंड-चित्र उपस्थित किया जाता है। दोनों में किसी विशेष मनोरंजक, चित्ताकर्षक एवं प्रभावशाली दृश्य अथवा पक्ष का चित्र उतारा जाता है। इस चित्र का विस्तार भी संक्षिप्त होता है। कभी-कभी कहानी और निबन्ध इतना गहरा हो जाता है कि असली रूप का पता भी नहीं चलता। अंग्रेजी में चार्ल्स लैम्ब के निबन्ध और हिन्दी में महादेवी के संस्मरण। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्ध (अशोक के फूल) कुछ इतने प्रभावशाली और चित्ताकर्षक हैं कि यह समझ में नहीं आता कि उन्हें निबन्ध कहा जाये या कहानी। वैयक्तिक निबन्ध आज संस्मरण का नूतन रूप लेता जा रहा है। वह दिन दूर नहीं जब संस्मरण और वैयक्तिक निबन्ध कहानी में अन्तर्भुक्त हो जायँगे। पिछले २०-३० वर्षों में कहानी ने अपने रूपों को व्यापक बनाकर निबन्ध और संस्मरण को भी अपनी सीमा-मर्यादा में ले लिया है। यह उसके विकास का

स्वस्थ चिन्ह है। कहानी की तरह निबन्धों में भी संवेदनाओं को उद्बोधन देने की पर्याप्त शक्ति होती है। उनमें हृदय की रागात्मक वृत्तियों को मुँह खोलने का अवसर मिलता है। कहानी की भाँति निवन्ध में भी अतीत के सुनहले सपनों को साकारता प्रदान की जाती है। ये समानताएँ हैं जो कहानी और निवन्ध को एक-दूसरे के निकट लाती हैं। लेकिन इसके विपरीत कुछ ऐसी बातें भी हैं जिनसे उनके अन्तर का भेद खुलता है। निबन्ध की शैली अधिकतर वर्णनात्मक होती है। स्वाभा-भाविक वर्णन कर देना निवन्ध का एक भारी गुण है। लेकिन कहानी की शैली विश्लेषणात्मक है। चरित्र के मन और परिस्थितियों का जितना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होगा कहानी का आकर्षण और प्रभाव पड़ेगा। दूसरा बात यह कि वैयक्तिक निवन्ध की रचना के पीछे, सामान्यतः एक सामूहिक मानवीय चेतना होती है जो सर्व-साधारण के लिए पहेली वनी होती है। कहानी की सामान्य चेतना सामाजिक तथा पारिवारिक है। यही कारण है कि निबन्धों की अपेक्षा कहानी सर्व-साधारण पाठक को अधिक आकृष्ट करती है। निवन्धों की उतनी खपत भी नहीं होती जितनी दैनिक जीवन में कहानियों की होती है। कहानी की लोकप्रियता का मूल कारण यही है कि वह सामाजिकों की सामाजिक भूख को, सामाजिक सामग्रियों को जुटाकर शान्त करती है। निबन्ध के पाठक परिष्कृत बुद्धि वाले व्यक्ति होते हैं। महादेवी, रामचन्द्र शुक्ल तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निवन्धों को समझने के लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता होगी। लेकिन प्रेमचन्द, कौशिक आदि की कहानियाँ सरलता के साथ समझ ली जाती हैं। बोझिल गम्भीरता निवन्ध को पठनीय नहीं वनने देती, इसलिए कि उसके सामाजिक तत्त्वों का समावेश पर्याप्त और सन्तोषजनक नहीं होता। इन वातों के अतिरिक्त निवन्ध में कल्पना को पंख फैलाकर शेष संसार में उड़ान भरने का उतना अवसर भी नहीं मिलता जितना कहानी को प्रायः मिला करता है।

इसके अतिरिक्त एक बात और है। किसी ने निबन्ध 'को हँसी-हँसी में ज्ञान-वितरण', किसी ने मजेदार और 'बहुश्रुत व्यक्ति के भोजनोत्तर एकान्त सम्भाषण' की संज्ञा दी है। निवन्ध की इस विशेषता से यह बात स्पष्ट है कि निवन्ध ज्ञान-गंगा है, जिसमें कोई भी डुबकी लगाकर कुछ ज्ञान-धर्म अर्जित कर सकता है। लेकिन शर्त यह है कि वह 'ज्ञान' भी रोचक हो। रोचकता तो कहानी की भी एक महत्त्व-पूर्ण शर्त है लेकिन वह (कहानी) इस बात की प्रतिज्ञा नहीं करती कि वह अपने पाठकों को किसी ज्ञान-गंगा में स्नान करायेगी ही। किसी को ज्ञान का मोती कहीं मिल जाये यह दूसरी बात है, लेकिन ज्ञान अथवा उपदेश दिलाने का वह कोई वादा नहीं करती।

निवन्ध और कहानी में एक दूसरा अन्तर भी है। अच्छे निवन्धों में लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है लेकिन कहानी में इसकी आवश्यकता नहीं समझी जाती। निवन्ध में लेखक का व्यक्तित्व स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है लेकिन कहानी में लेखक के व्यक्तित्व का आभास मिलता है, प्रकट नहीं होता। जिस

निबन्ध में वर्ण्य विषय तो हो, किन्तु व्यक्ति नदारद हो वह सच्चे अर्थ में निबन्ध नहीं। सच्चा निबन्ध-लेखक वर्ण्य विषय का उतना प्रस्फुटन नहीं करता जितना वह अपने व्यक्तित्व को प्रस्फुटित करता है।'[1] कहानी में बिलकुल उलटी बात है। यहाँ वर्ण्य विषय ही प्रधान और व्यक्ति गौण होता है।

उपरिलिखित पंक्तियों में मैंने कहानी की तुलना साहित्य के उन्हीं अंगों से की जिनका सम्बन्ध एक-दूसरे के निकट है। कहानी के वास्तविक स्वरूप को अच्छी तरह समझने के लिए यह आवश्यक है कि कहानी और गीति-काव्य, कहानी और इतिहास, कहानी और कथा, आख्यायिका, लोक-कथा इत्यादि के पारस्परिक सम्बन्धों और उनकी विषमताओं को समझा जाय। तभी हम कहानी के महत्त्व का सही मूल्यांकन कर सकेंगे।

१. 'समीक्षायण,' प्रो० कन्हैयालालसहल—पृष्ठ ११५

: २ :

सूरदास और तुलसीदास की भक्ति-भावना

सूर और तुलसी दोनों समसामयिक भक्त कवि थे। दोनों के व्यक्तित्व पर तत्कालीन वैष्णव-दर्शन का प्रभाव पड़ा। दोनों ही उस समय के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक वल्लभाचार्य और रामानुजाचार्य के क्रमश: शिष्य थे। अत: उनकी भक्ति पर इन दो महानुभावों का प्रभाव स्वाभाविक है। सूर और तुलसी की भक्ति मध्य युग की सृष्टि है, जो उस युग की व्यवहारगत सामाजिक माँग थी। सूर और तुलसी की भक्ति में कोई तात्विक अन्तर तो नहीं, पर दोनों की पद्धतियों में महान् अन्तर है। रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद और वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद ही इस अन्तर का उत्तरदायी है। लेकिन दोनों के लक्ष्य अवतारवाद की सिद्धि में हैं। दोनों विष्णु के अवतार में पूर्ण आस्था रखते हैं, लेकिन उस सिद्धि के साधन अलग-अलग हैं। सूरदास और तुलसीदास इन्हीं दो विभिन्न साधनों तथा साधनाओं के दो विभिन्न पथ के पथिक हैं। दोनों ब्रह्म की अपूर्व और अपरिमेय शक्ति को जानना चाहते हैं, किन्तु इस जानने की विधि में मौलिक अन्तर हो गया है। तुलसीदास ने विष्णु के उस अवतार को चुना, जो समाज में मर्यादा का रक्षक है, जीवन में कर्तव्य और अधिकार के प्रति जागरूक है, व्यक्तित्व से गम्भीर और व्यवहार से कोमल है। सूरदास की आस्था विष्णु के उस अवतारी पुरुष में है, जो परिवार तथा पास-पड़ोस में मनोविनोद, मनोरंजन, हास-परिहास और रंगीन लीलाओं को अत्यधिक प्रश्रय देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर और तुलसी के आराध्य विष्णु की एक ही शक्ति होते हुए भी दोनों के व्यक्तित्व में कितना गहरा अन्तर है। यह अन्तर दार्शनिक पद्धतियों की भिन्नता के कारण है। इसी मूल आधार पर हम इन दो महान् भक्त कवियों की भक्ति-पद्धति का मूल्यांकन कर सकते हैं।

तुलसीदास की भक्ति दास्य-भाव की है। भक्त तुलसीदास अपने प्रभु राम के सामने सदैव हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। ये अपने को केवल राम का दास समझते हैं, उनकी आज्ञा का पालन करना ही इनका परम कर्तव्य है। तुलसी अपने इष्ट देव राम का यश-गान करते हैं :

"ऐसे को उदार जग माहीं !
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर

राम-सरिस कोउ नहीं ॥
जो गति-जोग-बिराग-जतन,
करि नहिं पावत मुनि ग्यानी ।
सो गति देत गीध सबरी कहँ,
... ...
प्रभु न बहुत जिय जानी ॥
तौ भजु राम काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरे ॥"

भक्त तुलसीदास की दीनता इन पंक्तियों से व्यक्त होती है :

"ऐसी मूढ़ता या मन की ।
परिहरि राम-भक्ति सुर-सरिता,
आस करत ओस-कन की ॥
धूम समूह निरखि चातक,
... ...
ज्यौं तृषित जानि मति घन की ॥
तुलसीदास प्रभु हरहु दुसह दुख,
हरहु लाज निज पन की ॥

तुलसीदास चाहे राम के सामने हों या सीता के सामने, सभी जगह ये विनीत प्रार्थना ही करते हैं, अपनी फरियाद ही सुनाते हैं, अपनी दीनता ही प्रकट करते हैं, किसी तरह की आन की बात नहीं करते । देखिये :

"कबहुँक यह रहनि रहौंगो ,
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते,
संत-सुभाव गहौंगो ॥
यथा लाभ-संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो ।
परहित-निरत निरंतर मन-क्रम-वचन नेम निबहौंगो ॥
... ...
तुलसीदास प्रभु यहि पथ रहि,
अविचल हरि-भक्त लहौंगो ॥

× × ×

"जाके प्रिय न राम बैदेही ।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम
जद्यपि परम सनेही ॥
तज्यो पिता प्रहलाद, विभीषण
बन्धु, भरत महतारी ॥
बलि गुरु तज्यो, कंत-ब्रज
बनितनि भये मुद मंगलकारी ॥
... ...
जासों होय सनेह राम-पद एतो मतो हमारो ॥"

दूसरी ओर सूर में हम विनय अथवा प्रार्थना से अधिक उपालंभ पाते हैं। उदाहरण-स्वरूप :

"भावी वे भुज कहाँ दुराये ॥
जिनहि भुजनि गोवर्द्धन धार्‌यौ
सुरपति गर्व नसायो ॥
जिनहि भुजनि काली को नाथ्यो
कमल नाल लै आयो ॥
जिनहि भुजनि प्रहलाद उबार्‌यौ
हिरन्याच्छ को घायो ॥
... ...
तिहि भुज की बलि जाय 'सूर'
जिन तिनका तोरि दिखायो ॥

इन पंक्तियों से सूरदास की भक्ति के उपालंभ और मान का बोध होता है। सूरदास की भक्ति चूँकि मूलतः सख्य-भाव की है, इसलिए वे हर समय अपने को कृष्ण का एक अभिन्न समवयस्क मित्र समझते हैं—तभी तो वह उनसे झगड़ने तक लगते हैं :

"आजु मैं एक-एक करि टरिहौं।
हा! तो पतित सात पीढ़िन को, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अबहि उघरी नचन चहत हौं,
तुम्हहि बिरद बिनु करिहौं॥"
'सूरदास' तब ही लै उठिहौं जब हँसि दैहौ बीरा।

इसलिए तो सूर राधा के साथ भी हास-परिहास करने में तनिक भी नहीं हिचकते। सूर की भक्ति में आत्म-समर्पण नहीं, आत्म-परिष्कार है, उसमें समता है, विभेद नहीं। लेकिन तुलसी की भक्ति में उपालंभ, हास-परिहास, मानापमान का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

सूर और तुलसी की भक्ति में एक विशेष अंतर और है। सूर और तुलसी दोनों सगुण पंथ के पथिक हैं, पर तुलसी की आस्था विष्णु के सगुण रूप पर अधिक जमती है, किन्तु उसके निर्गुण रूप पर इनका बिल्कुल विश्वास नहीं था, ऐसी बात नहीं। ये निर्गुण और सगुण में अन्तर नहीं मानते। उनका कथन है कि जो भगवान् अमूर्त हैं, वही भक्त के प्रेमवश सगुण-रूप धारण करते हैं। भगवान् के वास्तविक रूप को समझने के लिए इन दोनों रूपों की उपासना को इन्होंने आवश्यक समझा है। इसी प्रकार इनकी भक्ति में इन दोनों रूपों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे कहते हैं :

"अगुनहि सगुनहि नहिं कछु भेदा।
गावहि मुनि, पुरान, बुध, बेदा॥

अगुन अरूप, अलख, अज जोई।
भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई॥"

सूर और तुलसी की भक्ति में यही स्थूल अन्तर है।

अधिक गहराई में जाने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि सूर और तुलसी की भक्ति में कोई तात्विक अन्तर नहीं है। दोनों के साध्य एक हैं, पर साधन भिन्न हैं। विनय के पदों में जहाँ हम आत्म-समर्पण, हृदय की दीनता, मन की मलिनता, जीवन की कलुषता और स्वभाव की कठोरता की चर्चा पाते हैं, वहाँ हम सूर और तुलसी के व्यक्तित्व में कोई अन्तर नहीं पाते। दोनों को हम एक ही साधना के एकनिष्ठ साधक के रूप में पाते हैं। लेकिन सूर जब भक्ति की ऊँचाई से समतल भूमि पर उतर आते हैं, तब तुलसी बड़ी ऊँचाई पर ही बैठे रह जाते हैं और सूर जैसे संसार के बन्धन में बँध जाते हैं। तुलसी ने राम की कल्पना एक सुन्दर लोक-आदर्श की स्थापना के लिए की, जिसकी उस समय बड़ी आवश्यकता थी; किन्तु सूर को मन्दिर में बैठकर केवल भगवान् का गुण-गान करना था, फलस्वरूप वे अपने भक्त हृदय को लोक और समाज की चिन्ता में प्रवृत्त न कर सके। अतएव, सूर कोरे सन्त ही रहे, जब कि तुलसी ने एक भक्त के साथ लोक-नायक का भी कार्य किया।

छठा खण्ड

समस्या

: १ :

क्या 'रामचरित मानस' हिन्दुओं का धर्म-ग्रन्थ है?

प्रति वर्ष देश के कोने-कोने में हिन्दी के महा कवि तुलसीदास की जयन्ती मनाई जाती है। हजारों-लाखों नर-नारी इस समारोह में भाग लेते हैं। देश के स्कूलों तथा कालेजों में महाकवि को हार्दिक श्रद्धांजलियाँ भेंट की जाती हैं। यहाँ तक कि आल इण्डिया रेडियो के सभी केन्द्रों से तुलसी-संबंधी वार्ता, रूपक आदि प्रसारित होने लगे हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि स्वतंत्र भारत में हमारे महाकवि का सही मूल्य आँका जा रहा है और उनके सम्बन्ध में वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किये जा रहे हैं। मुझे भी इस प्रकार की जयन्तियों में भाग लेने के सुअवसर मिले हैं। जब-जब मैं तुलसी-जयन्ती-समारोह में सम्मिलित हुआ हूँ तब-तब मुझे आनन्द और विषाद की मिश्रित अनुभूति हुई है। जब से मैंने चेतना की आँखें खोली हैं, तभी से मेरा मन मुझसे यह सवाल करता रहा है कि तुलसी-जयन्ती के अवसर पर केवल हिन्दुओं का ही जन-समूह क्यों उमड़ आता है, दूसरे सम्प्रदाय के लोग क्यों नहीं भाग लेते? हमारे देश में सिर्फ हिन्दू ही तो नहीं रहते। यहाँ सिख, ईसाई, पारसी, मुसलमान, बौद्ध-जैन, जैसे अनेक धर्मानुयायी भी रहते हैं। फिर क्या बात है कि ऐसे शुभ अवसरों पर, जिस तरफ दृष्टि फेरता हूँ उधर हिन्दू-ही-हिन्दू दिखाई पड़ते हैं, अन्य धर्मावलंबियों को पाना दुर्लभ होता है। हमारे समाज में, हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार राजा राधिकारमण प्रसाद के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'टूटा तारा' के अमर चरित्र 'मौलवी साहब' की-सी रामायण-प्रियता कितने मुसलमानों में है जो अपने ही धर्म-सम्प्रदाय वालों को दृढ़ विश्वास के साथ यह कह सके कि "एक मुसलमान भी राम की कद्र कर सकता है। जो रुस्तम की जवाँमर्दी के किस्से पढ़कर जोश में आता है वह अगर सच्चा है तो फिर 'महावीर की जय' से भी उसके खून में उबाल क्यों न आयगा?" क्या कारण है कि तुलसी की अमर कृति 'रामायण' का पठन-पाठन केवल हिन्दू-समाज में होता है, मुस्लिम-समाज अथवा ईसाई-समाज में नहीं होता? अभी तक मैंने एक भी ऐसे मुसलमान को नहीं पाया जो तुलसी के 'मानस' का अध्ययन बड़ी श्रद्धा और प्रेम से करता हो; एक भी ईसाई को नहीं देखा जो 'मानस' का अध्ययन करके पुलकित हुआ हो। इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि तुलसीदास का अब तक जो सम्मान, सत्कार और स्वागत होता रहा है, वह केवल हिन्दू-समाज द्वारा ही हुआ है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि तुलसी का 'मानस'

एक-मात्र हिन्दुओं का धर्म-ग्रन्थ है, अन्य धर्मावलंबियों को इससे किसी तरह की प्रेरणा नहीं मिलती। इसीलिए इस देश के दूसरे-दूसरे सम्प्रदाय वालों ने इस ओर अपनी अज्ञानता का परिचय दिया है। प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों हुआ?—क्या वास्तव में 'रामचरित मानस' हिन्दुओं का एक-मात्र धर्म-ग्रन्थ है?

युग-युग से धर्म मनुष्य-समाज को एक-दूसरे से अलग वर्गों तथा सम्प्रदायों में बाँटता चला आया है। यहाँ मैं 'धर्म' शब्द को संकुचित अर्थ में ले रहा हूँ, जिसका अर्थ बाहरी आडम्बर है। यों तो मानव-समाज का एक ही धर्म है, इन्सानियत। लेकिन धर्म के संकीर्ण अर्थ ने हमारे उन तमाम महाकवियों के साथ अन्याय किया है जिन्होंने सारी मानव-जाति को शान्ति, मर्यादा तथा अहिंसा का अमर सन्देश दिया है। तुलसी के साथ भी हमने अन्याय किया है; हाँ, घोर अन्याय। उनके साहित्य को धार्मिक कहकर हमने उनकी महानता तथा उदारता पर गहरा आघात किया है। ऐसा करके हमने तुलसी के पवित्र उद्देश्यों को चकनाचूर किया है, उनकी आशाओं पर पानी फेरा है। साधारण हिन्दुओं में 'रामायण' की पूजा ठीक उसी प्रकार होती है जिस तरह किसी धर्म-ग्रन्थ का सम्मान होता आया है। तो, यह तय है कि तुलसी को हमने भ्रमवश, अज्ञानवश हिन्दू-समाज की चहारदीवारी में कैद कर रखा है, विस्तृत मैदान की खुली हवा में साँस लेने का अवसर उन्हें नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि तुलसी की महत्ता बजाय बढ़ने के, घटती ही गई। आज तुलसी सिर्फ हिन्दुओं के कवि हैं और उनका महाकाव्य 'मानस' हिन्दुओं का धर्म-ग्रन्थ है। किसी भी कला-कृति को धर्म और सम्प्रदाय के कैदखाने में बन्द कर देना उसके महत्त्व को घटा देना है। एक ओर तो हम कहते हैं कि 'मानस' विश्व-काव्य है और दूसरी ओर कहते हैं कि यह हिन्दुओं का धर्म-ग्रन्थ है। आज वह समय आ गया है जब कि इस तरह के देश-व्यापी भ्रम अथवा गलतफहमी को हमेशा के लिए दूर कर देना चाहिए।

पिछले तीन-चार सौ वर्षों से हम तुलसी के महाकाव्य 'रामायण' को धर्म-ग्रन्थ समझकर अध्ययन-अध्यापन करते आए हैं। युग-युग से अशिक्षित रहने वाली भारतीय जनता का इसमें कोई दोष नहीं है। भूल तो उनसे हुई है, जो बात-बात पर हिन्दू-धर्म की महानता सिद्ध करने पर तुले रहते हैं, जिनकी विचार-धारा संकीर्णता की मरुभूमि में सूख गई है, जो जमाने की नब्ज पकड़कर चलने के आदी नहीं हैं। तुलसी के सम्बन्ध में शास्त्रीय आलोचना तो काफी हुई है, लेकिन उनके साहित्य का सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत कम अध्ययन हुआ है। तुलसी-साहित्य पर अब तक दो तरफ से आक्रमण हुए हैं, एक ओर यदि प्रतिगामी विचारकों ने 'मानस' को धर्म-ग्रन्थ कहकर जनता को भ्रम में डाला है तो दूसरी ओर प्रगतिशील बंधुओं ने उनके साहित्य को 'बुर्जुआ' कहकर तुलसी के जिज्ञासु पाठकों के हृदय में अनावश्यक सन्देह और संशय का बीज बोया है। एक ओर सनातन धर्मावलंबी विद्वानों ने मानस को हिन्दू-धर्म के सीखचों में बन्द कर रखा है तो दूसरी ओर हमारे प्रगतिवादी साहित्यकारों ने उसको 'सामन्ती विचार-धारा का अवशेष' कहा

हैं। मैं समझता हूँ कि भूल और भ्रम दोनों ओर से हुए हैं। यदि पहले वर्ग ने भावावेश और भावुकता में आकर अपना निर्णय दिया है, तो दूसरे ने मार्क्स-लेनिन की उस शिक्षा से प्रभावित होकर अपना अपरिपक्व मत प्रकट किया है जिसमें प्राचीनसंस्कृति और काव्य-ग्रन्थों को 'प्रतिक्रियावादी' की संज्ञा दी जाती है। लेकिन सच तो यह है कि तुलसी का 'रामचरित मानस' न तो प्रतिक्रियावादी ग्रन्थ है और न हिन्दुओं का धर्म-ग्रन्थ ही। हाँ, इसमें विश्व-धर्म अथवा सर्व-धर्म-समन्वय का दर्शन अवश्य होता है, जहाँ समस्त मानवता एक ही धरातल पर खड़ी है। लेकिन हमारा दुर्भाग्य है कि अब तक हम 'मानस' को हिन्दुओं का धर्म-ग्रन्थ कहते आए हैं। आज अपनी दृष्टि को अधिक व्यापक, अपने हृदय को अधिक उदार और अपने मापदण्ड को अधिक सरल बनाने की आवश्यकता है। अब हम कब तक भावुकता और संकीर्णता की तराजू से तुलसी के साहित्य को तौलकर, किसी छोटे तालाब से गंदी मछलियाँ निकालकर, मछुआ बाजार में सस्ते दाम पर बेचते रहेंगे ?

हमारी भूल पुरानी है और सैद्धान्तिक भी। उसका परिमार्जन और संशोधन पहले होना चाहिए। जिस तरह हम पहले से ही यह मानते आए हैं कि 'मानस' एक धर्म-ग्रन्थ है, उसी तरह आज यह सिद्धान्त एकमत होकर मान लेने की आवश्यकता है कि तुलसी का अमर महाकाव्य 'रामायण' काव्य-ग्रन्थ पहले है, धर्म-ग्रन्थ बाद में। हाँ, यदि किसी हिन्दू को उससे धर्म-विश्वास की खुराक मिल जाय तो यह दूसरी बात होगी। यह तो अपनी-अपनी दृष्टि है, जो व्यक्ति-विशेष की मनोदशा पर निर्भर है। यदि आज हम अपनी परम्परागत दृष्टि बदल लेते हैं तो हमारा विश्वास है कि 'तुलसी-जयन्ती' के अवसरों पर महाकवि की चौपाइयों पर सिर्फ हिन्दू ही प्रेम और श्रद्धा से अपने सिर न हिलायेंगे बल्कि इसमें वे भी शामिल होंगे कल तक हम जिनकी उपेक्षा करते रहे और जो आज तक हमारे महाकवि और उनकी अमर रचना 'मानस' का अज्ञानवश और भ्रमवश तिरस्कार करते रहे हैं। तुलसी की आत्मा साम्प्रदायिकता की सूली पर टँगी तड़प रही है, उसे मुक्ति मिलनी ही चाहिए, तभी हमें सही अर्थ में तुलसी-जयन्ती मनाने का लाभ हो सकेगा।

: २ :

आधुनिक हिन्दी-कविता की समस्याएँ

यूनान के अन्टीयस के बारे में कहा जाता है कि जब तक उसके पैर धरती पर थे, उसका बल दिन-दिन बढ़ता जाता था, लेकिन ज्यों ही हरकूलस उसे आसमान पर उड़ाकर ले गया, वह बिलकुल कमजोर हो गया ... ... ।

कुछ यही बात किसी महान् कला-कृति के बारे में कही जा सकती है। किसी भी कला-कृति को बल पाने के लिए उसे इस धरती की मिट्टी पर रहना होगा—उसमें मानव-भावनाएँ, आशा-निराशा, सुख-दुःख की अभिव्यक्ति कलात्मक होनी चाहिए। एक महान् कला-कृति में युग की छाप होते हुए भी वह युग-युग की होती है; क्योंकि उसमें मानव-भावनाएँ अनूदित होती हैं। ल्यूनार्डो विंसी का 'मोना लीसा' अगर एक अमर-चित्र है, तो बीठोफ़ेन के 'सोनाताज', शैक्सपीयर के 'ट्रैजीडीज' तुलसी की 'रामायण' और प्रसाद की 'कामायनी' भी कला की अमर-कृतियाँ हैं।

तो, किसी कला-कृति को महान् होने के लिए, युग का होकर भी युग-युग का होने के लिए उसमें शाश्वत मानव-भावनाओं की सफल अभिव्यक्ति होनी चाहिए। चाहे वह साहित्य में शब्द के माध्यम से हो, चित्र में रंग के माध्यम से हो या संगीत में स्वर-लहरी के माध्यम से हो ...।

पर कलाकार तो धरती पर जन्म लेता है, उसी की मिट्टी का बना होता है, इसलिए उस पर युग की छाप अवश्य पड़ती है। उसका मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण उसकी व्यक्तिगत अनुभूति और युग की हवा से बनता है। आधुनिक हिन्दी-कविता का विश्लेषण करने के पहले युग की हवा पर भी रोशनी डालनी होगी—जो क्रिया और प्रतिक्रिया के पुराने रिवाज पर चलती रहती है।

आलोचक के सामने आज आधुनिक हिन्दी-कविता की समस्या नहीं बल्कि सर्वाधुनिक हिंदी-कविता (Ultra-modern Hindi poetry) की समस्या है। प्रगतिवाद के साथ-साथ और उसके आगे भी जो 'प्रयोगवाद' के नाम से कला-पक्ष में नई-नई टेकनिक की सृष्टि की जा रही है—उस पर कुछ रोशनी डालनी है। पर इसके पहले यह बता देना अपेक्षित है कि आधुनिक हिन्दी-कविता कैसे बढ़ी। हिन्दी का आधुनिक युग 'भारतेन्दु-काल' से शुरू होता है, जब काव्य परम्परा से नाता तोड़कर लोक जीवन के समीप आया। पर बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के द्विवेदी-युग

में ही, खड़ी बोली का सर्व-मान्य रूप पद्य और गद्य में देखा गया। पर कविता पूर्ण वयस्क छायावादी धारा के साथ हुई—जब भाव और कला दोनों पक्षों में परिपक्वता और प्रौढ़ता आई। छायावाद का आत्म-निष्ठ कवि अपनी विकल भावनाओं को व्यक्त करने को आकुल था—क्योंकि वह द्विवेदी-युग की परिनिष्ठ और इतिवृत्तात्मक कविता को परम्परा और रूढ़ि की कैद में देखता था ··· ···।

इसलिये छयावाद द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप आया। इसके मुख्य कवियों 'प्रसाद', 'निराला', 'पंत' और 'महादेवी' की कविताओं में भाव और कला का एक महीन काम देखने को मिलता है। व्यक्ति गत और देश की सामाजिक पीड़ा से क्षुब्ध प्रसाद अगर एक तरफ 'ले चल मुझे भुलावा देकर ···' म पलायन-वृत्ति व्यक्त करते हैं, पंत 'पल्लव' में प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर वेदना भूलने की कोशिश करते हैं, निराला अपने गीत 'फिर सितार सँवार लो ··· ···' में मस्त होते हैं और महादेवी अपने असीम प्रियतम की राह 'सांध्य-गीत' में देखती है, तो दूसरी ओर वे सभी देश की शोचनीय दशा पर शोक भी प्रकट करते हैं। प्रसाद की 'ध्रुव-स्वामिनी', निराला का 'तुलसीदास', पंत के 'पल्लव' का 'परिवर्तन' और महादेवी की वेदना मय स्निग्ध 'दीप-शिखा' में पीड़ित भारतीय मानवता के आँसू और आत्मा की अशान्ति अभिव्यंजित है।

किन्तु समय के दौर में प्रतीकवादी छायावादी कवियों के भी विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, जिसके फल-स्वरूप 'प्रगतिवादी' कवि आये। "वे आर्थिक वैषम्य की समाप्ति का ध्येय सम्मुख रख, भौतिकवाद के आधार पर कार्ल मार्क्स के समाजवादी सिद्धान्तों का सहारा लेकर, वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहते थे।" भारत में 'मेरठ-षड्यन्त्र' के बाद यह सिद्धांत कालिज-विद्यार्थियों, असंतुष्ट-कार्यकर्त्ताओं और मजदूरों की ट्रेड-यूनियन के बीच आया। इसी विचार-धारा से प्रभावित एक साहित्यिक सभा 'प्रगतिशील लेखक-संघ' के नाम से प्रेमचन्द के सभा-पतित्व में लखनऊ में सन् १९३६ में हुई। प्रगतिवादी-कवियों की कविताएँ कहीं राष्ट्रीय-भावना से ओत-प्रोत हैं तो कहीं मार्क्सवादी विचार-धारा से प्रभावित। सोहनलाल द्विवेदी की 'भैरवी', दिनकर की 'हुंकार' और 'रेणुका' राष्ट्रीय-भावना से पूर्ण हैं। भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, 'अंचल', 'सुमन', और 'नागार्जुन' आदि कवियों में अगर मार्क्सवादी विचार-धारा बोलती है, तो रांगेय-राघव में दोनों का मिश्रण···।

शोषक-वर्ग के अत्याचारों का विशद चित्र भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी' में मिलता है :

"पशु बनकर नर पिस रहे जहां,
नारियाँ जन रहीं गुलाम,
·····························
चरमर-चरमर चूँ चरर मरर,
जा रही चली भैंसा-गाड़ी।"

नरेन्द्र शर्मा की पंक्तियों में :

"यहाँ क्षुधा का देश, दासता, विग्रह का आगार"

और 'अंचल' तो क्षुब्ध होकर कहते हैं :

"वह नस्ल जिसे कहते मानव, कीड़ों से आज गई-बीती

× × ×

मैं कहता हूँ वर्ग-चेतना
युग की प्रबल चुनौती है।"

'सुमन' रास्ते में कंकड़ से भी दलित मानव को गाते हैं :

"मैं जड़ होकर भी इन चेतन नर-कंकालों से बढ़ कर हूँ।"

पर बहुत-सी प्रगतिवादी कविताओं में खासकर जो १९३५ के बाद लिखी गई हैं, उनमें जीवन-दर्शन, सिद्धांत भर ही मिलता है, कला-पक्ष बिलकुल गौण है। कवि संवेदनशील प्राणी होने के बदले, नेता मालूम होता है··· ।

कुछ यही बात दूसरी तरह से 'प्रयोगवादी' या 'प्रपद्यवादी' कवियों के बारे में भी कही जा सकती है, जो टेकनिक के नशे में भाव-पक्ष की ओर ध्यान ही नहीं देते हैं··· ।

'प्रयोगवादी' कविता का सूत्रपात १९४३ में 'तार-सप्तक' से ही सही रूप में शुरू होता है, इसके संपादक 'अज्ञेय' जी ने लिखा है—काव्य के अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है। इसका यह मतलब नहीं कि प्रस्तुत संग्रह की सब रचनाएँ प्रगतिशीलता के नमूने हैं, या कि इन कवियों की रचनाएँ रूढ़ि से अछूती हैं, या कि केवल यही प्रयोगशील हैं और बाकी सब घास छीलने वाले ···।

'अज्ञेय' के इस कथन से जाहिर है कि 'तार-सप्तक' के कवियों ने रूढ़ि या परम्परा को बिलकुल छोड़ा नहीं है, परम्परा का संस्कार तो कलाकार आसानी से नहीं छोड़ पाता है... अंग्रेजी आलोचक इसलिए भी तो tradition (परम्परा) पर काफी जोर देते हैं···। तो कवि पुरानी मान्यताओं को तोड़कर भी परम्परा से बिलकुल भाग नहीं पाता है। अंग्रेजी कवि हापकिन्स की टेकनिक के बारे में भी कुछ अंग्रेजी आलोचकों का गलत खयाल है कि उसने कोई नयी टेकनिक ईज़ाद की थी। उसकी 'टेकनिक' तो मध्यकालीन अंग्रेजी कवि लैंगलैण्ड के अनुप्रासात्मक पद्य (allitrative verse) से काफी मिलती-जुलती है।

'तार-सप्तक' के कवियों के ये नाम हैं—

नेमिचन्द्र, भारतभूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, गजानन माधव मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, अज्ञेय।

इसी प्रकार 'दूसरा-सप्तक' जो फिर अज्ञेय के संपादकत्व में १९५१ में प्रकाशित हुआ है—उसके कवि ये हैं—

भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर सिंह, नरेशकुमार मेहता, रघुवीर सहाय और धर्मवीर भारती।

'दूसरा-सप्तक' के बारे में अज्ञेय ने लिखा है :

"प्रयोग के लिए प्रयोग इनमें से किसी ने नहीं किया है, पर नई समस्याओं

और नये दायित्वों का तकाजा सबने अनुभव किया है और उससे प्रेरणा सभी को मिली है।" मिसाल के तौर पर भवानीप्रसाद मिश्र की कविता 'कमल के फूल' को लीजिये:—

"फूल लाया हूँ कमल के
क्या करूँ इनको ?
पसारे आप आँचल
छोड़ दूँ,
हो जाय जी हल्का···।"

कमल यहाँ कविता का पर्याय है। वह टेकनिक के खयाल से सफल मोनोलॉग (monologue) है, जिसमें अंग्रेजी कवि ब्राउनिंग को कमाल हासिल था। इनकी 'गीत-फरोश' टाइप की दूसरी कविता भी नाटकीय दृष्टि से काफी सफल है :

"जी हाँ हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ
मैं तरह तरह के
गीत बेचता हूँ···।"

इससे स्पष्ट है कि 'प्रयोगवादी' कविता को जीने के लिए सिर्फ 'प्रयोग के लिए प्रयोग' से काम नहीं चलेगा। जरूरत है कि नई टेकनिक में चाहे वह अंग्रेजी का 'Free Association', 'Stream of Conciousness' या अमरीकन लेखक डोसपैसोस (Dospasses) का 'News Reel' या 'Camera Eye', या पिकासो का क्यूबीस्टीक (Cubistic) या ज्यामितिक (Geommetrical) तरीका हो—उसमें भाव की प्रौढ़ता हो, नई समस्याओं और नये तकाजों का अनुभव हो।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा स्वीकार किये जाने के बाद, आज जरूरत है कि विभिन्न भाषाओं के काव्यगत उपभावों, प्रचलित शब्दों, कहावतों, मुहावरों तथा लोक-गीतों की विषय-वस्तुओं को अपनाकर हिन्दी-काव्य में नवीनता लाई जाय। इससे एक ऐतिहासिक काव्य की भी पूर्ति होगी और व्यापकता भी आयगी।

पर इन सब बातों के होते हुए यह ध्यान रहे कि नये प्रयोग में ज़िन्दगी की हरकत हो, धरती की बात हो, उसमें आत्मा की पुकार हो, जिससे महान् कला-कृति की सृष्टि हो सके।

: ३ :

चाँद में कलंक

गुप्त जी को राष्ट्रीयता की परीक्षा

[श्री मैथिलीशरण गुप्त जी को कई वर्ष पूर्व राष्ट्रीयता के निमित्त वंदीगृह में जाना पड़ा था। यह दृश्य उसी समय का है। कारागार की एक छोटी कोठरी, जिसके अन्दर अँधेरा राज्य कर रहा है—कोने में केवल एक दीप। गुप्त जी भूमि पर बिछे कम्बल पर सोये हैं। नींद में कवि को एक दिव्य आलोक दीख पड़ता है और दो अलौकिक दूत आकर उनका हाथ पकड़कर उन्हें आकाश मार्ग से ऊपर ले उड़ते हैं। कवि गुप्त जी थोड़ी ही देर में अपने को एक कमरे में खड़ा पाते हैं। इस कमरे का वातावरण न्यायालय-सा है। न्यायाधीश के आसन पर महाकवि व्यास बैठे हैं। न्यायाधीश के बाईं ओर जूरीगणों के रूप में श्री तुलसीदास जी, श्री सूरदास जी तथा पाश्चात्य कवि शेक्सपियर बैठे हैं। गुप्त जी अब समझ रहे हैं कि वे यहाँ भी वंदी के रूप में खड़े हैं। उनके विपक्ष में सरकारी वकील पं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' तथा उनकी सहायता में डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री हैं। अभियुक्त की ओर से डा० विश्वनाथप्रसाद हैं तथा उनके सहकारियों में प्रो० केसरीकुमार एम० ए० तथा श्री मनोरंजन सहाय श्रीवास्तव एम० ए० हैं। दर्शकों में प्रमुख प्रो० जगन्नाथ शर्मा एम० ए० तथा प्रो० देवेन्द्र शर्मा एम० ए० तथा अन्य महानुभाव हैं। हर्ष की बात है कि महिला-दर्शकों की गैलरी भी खाली नहीं है, जिनमें श्रीमती वर्मा तथा श्रीमती सिनहा के नाम हम ले सकते हैं। कार्यवाही आरम्भ होती है।]

न्यायाधीश व्यास—क्या न्यायालय में अभियुक्त उपस्थित कर दिये गए ?

न्यायालय के प्रहरी-गण श्री विमलप्रसाद तथा श्री विन्ध्याचलप्रसाद (उच्च स्वर में)—हाँ, श्रीमन् !

(दर्शकों में श्री वंदी शंकर सिंह, श्री अभिनव तथा श्री राधारमण हर्ष-ध्वनि करते हैं।)

न्यायाधीश व्यास—कृपया शोर न मचायें। शांति, शांति, महाशान्ति। अभियुक्त को यह विदित किया जाता है कि मृत्यु-लोक की साहित्यिक मंडली के कुछ प्रमुख सदस्यों ने उन पर कुछ दोषारोपण किये हैं—अभियुक्त को इस काव्य-न्यायालय में लाने का उद्देश्य यही है। सरकारी वकील पं० 'गिरीश' उन आरोपों

का विवरण देंगे ।

पं० 'गिरीश'—श्रीमन्, अभियुक्त का प्रथम दोष तो यह है कि ये राष्ट्रीय कवि होने का दावा करते हैं किन्तु हमारे पास अनेक प्रमाण हैं जिनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि ये जातीय कवि हैं । श्री ब्रह्मचारी जी, कृपया आप इसका स्पष्टीकरण करें ।

डॉ० ब्रह्मचारी—(अपना विशाल वक्ष तानकर) गुप्तजी सरासर जातीय कवि हैं । ये हिन्दू धर्म के एक-मात्र प्रवर्त्तक तथा वैष्णव कवि हैं । कवि की अपनी ही लेखनी से लिखे वाक्य मैं प्रमाण-स्वरूप ले सकता हूँ—'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है' तथा 'वाचक प्रथम सर्वत्र ही जय जानकी-जीवन कहो; फिर पूर्वजों के शील की शिक्षा-तरंगों में बहो ।' यहाँ यह बात साफ है कि अभियुक्त हिन्दू जाति को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है और इस तरह अपना दृष्टिकोण संकीर्ण बना रहा है ।

(श्रीमती सिनहा तथा वर्मा धीरे से एक-दूसरे को देखती हैं, मानो कह रही हों कि कितनी ध्वंसात्मक आलोचना है, श्री ब्रह्मचारी जी की ।)

डा० विश्वनाथ प्रसाद—राष्ट्र का प्रतिनिधि वह नहीं है, जो हमसे एक कदम आगे चले और हमें पीछे छोड़ता चले । गुप्तजी लोक-नायक कवि हैं, वे हमसे कंधा भिड़ाकर चलते हैं । यदि उनकी वाणी में हमारे ही जीवन की रागिनी बज रही है तो वे निश्चय ही हमारे प्रतिनिधि कवि हैं । राष्ट्रीयता उनकी व्यापक भावना है । वे 'पंचवटी' में भी राष्ट्र तथा देश को साथ लिये चलते हैं । राष्ट्र के सोये हुए भावों को जगाना ही इनका उद्देश्य है । यथा :

मानस-भवन में आर्य-जन जिसकी उतारें आरती ।
भगवान् ! भारतवर्ष में गूंजे हमारी भारती ।।

श्री 'गिरीश'—पर ईसाइयों तथा मुसलमानों को उन्होंने वह स्थान कहाँ दिया, जो हिन्दुओं को दिया है ।

डा० विश्वनाथ—यह थोड़ी-सी संकीर्णता इसलिए आई है कि वे हिन्दुओं का उत्कर्ष दिखला सकें, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से, न कि जातीय दृष्टि से । 'भारत-भारती' स्वराज्य-आन्दोलन के समय लिखा गया था और कवि की आँखों के सामने सारा भारतवर्ष था ।

श्री देवेन्द्र शर्मा (दर्शकों में से चिल्ला उठते हैं)—मगर फिर भी उन्होंने तो हिन्दुओं को ही ऊँचा उठाया है ।

डा० विश्वनाथ—नहीं, 'हिन्दू' नाम की पुस्तक में उन्होंने साफ कह दिया है कि 'हिन्दू हो या मुसलमान, नीच रहेगा सदा नीच ।' देखिये, श्रीमन्, कहाँ संकीर्णता है ? यदि गुप्तजी इसलिए राष्ट्रीय कवि नहीं हैं कि वे राम को अपनाते हैं तो मौलाना आजाद भी राष्ट्रीय नहीं हो सकते, क्योंकि वे इस्लाम को अपनाते हैं और फिर गाँधी भी हिन्दू होने के कारण राष्ट्रीय नहीं हो सकते ।

न्यायाधीश—श्री ब्रह्मचारी जी, यदि आपको उनके किसी और गुण-दोष का कथन करना है तो उन्हें पेश कीजिये ।

डा० ब्रह्मचारी—(ऊँची आवाज में) मुझे तो अभियुक्त के लिए आदर भी है तथा उनके दोषों पर क्षोभ भी। मैं निष्पक्ष भाव से उन्हें कह दूँगा चाहे हमारा मुकदमा खराब ही क्यों न हो जाय। देवियो तथा मित्रो! नहीं, नहीं, क्षमा श्रीमान्! मैंने समझा मैं बी० ए० कक्षा में पढ़ रहा हूँ। हाँ तो श्रीमन्! 'यशोधरा' में एक करुण पट का Background है। 'साकेत' में तो खासकर ९वें तथा १०वें सर्ग में अभियुक्त ने उर्मिला को बहुत अधिक रुलाया है। महात्मा गाँधी ने भी यही बात कही है। 'यशोधरा' में नारीत्व पर कलंक का टीका पुरुष-जाति द्वारा लगाया गया है। (गम्भीर स्वर में) श्रीमन्, यदि नारीत्व की निर्बलता में ही सबलता का आघात, उसकी कोमलता में भी कठोर संघात, उसके आत्म-समर्पण में भी आत्माभिमान का विधान गुप्तजी को इष्ट है तो इस दृष्टि से यशोधरा के चित्रण में उर्मिला के चित्रण की अपेक्षा अधिक कलात्मकता लाभ की है। दूसरी ओर उन्होंने उनके जीवन का आध्यात्मिक आदर्श 'अनघ' नामक गीति-नाट्य में बहुत सुन्दर रूप से प्रकट किया है—"न तन सेवा, न मन सेवा! न जीवन और धन सेवा, मुझे हैं इष्ट जन-सेवा, सदा सच्ची भुवन-सेवा।" पर साथ ही इनकी जातीयता पर जो आक्षेप हुए उससे आकुल होकर उन्होंने 'कावा और कर्बला' लिख डाला; जिसको कि हम खुले शब्दों में 'Propaganda literature' कह सकते हैं।

पं० गिरीश—Hear, Hear. (शोर-गुल होने लगता है।)

न्यायाधीश—शान्ति, शान्ति, महाशान्ति!

[श्री विमलाप्रसाद तथा श्री विन्ध्याचलप्रसाद उच्च स्वर में चिल्लाते हैं—'कृपया अशान्ति का अवसान करें—शांति, शांति, शांति।']

डा० विश्वनाथ—श्रीमन्! अभियुक्त का अन्त्यानुप्रासों पर तथा छंदों पर अधिकार है। शब्दों में तरल संगीत बहता रहता है। यथा: 'चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही थीं जल थल में।' तथा 'सखि, निरख नदी की धारा, ढलमल ढलमल, ढलमल-ढलमल, चंचल-अंचल तारा।' प्रकृति का भयंकर रूप देखें—'जीर्ण तरि-भूरि फार देख अरि एरि।'

श्री 'गिरीश'—साथ ही श्रीमन्, मैं भी कुछ उदाहरण रखता हूँ—अभियुक्त तुकों की भी अति कर देता है। यथा:

भाई रे! हम प्रजाजनों का हाय! भाग्य ही खोटा।
दिखा-दिखाकर लाभ अन्त में आ पड़ता है टोटा॥
पड़ा रहा है वह धाम-धरा-धन, खड़ा रहा परकोटा।

यथा: बाहर से क्या जोड़ूँ-जाड़ूँ?
मैं अपना ही पल्ला झाड़ूँ।
तब है, जब वे दाँत उखाड़ूँ॥
रह भव-सागर नक्र॥

कितना बुरा शब्द-चयन है श्रीमन्!

डा० ब्रह्मचारी—Indian कविता Act की ५३वीं धारा के अनुसार

स्व० बा० श्यामसुन्दरदास 'साहित्यालोचन' में लिख चुके हैं कि कविता को संगीतमय रूप नष्ट करना मानो उसकी अलौकिक शक्ति का नाश करना है।

न्यायाधीश—श्री श्यामसुन्दरदास जी के कथन की पुष्टि के लिए संगीतमयी कविता का उदाहरण आप दे सकते हैं।

श्री गिरीश—जी हाँ, कवि दिनकर की ये पंक्तियाँ देखें श्रीमन् (गाकर)

> बूँद भरी इस शैल तरी से उषा विहँसती आयेगी ;
> युग-युग कली हँसेगी, युग-युग कोयल गीत सुनायेगी।
> घुल-मिल चंद्र-किरण में, बरसेगी आनंद सुधा,
> केवल मैं न रहूँगा, यह मधु-धार उमड़ती जायेगी।

श्रीमन् ! गुप्तजी ने "यशोधरा' के मुख से कहलाया है—'संसार हेतु शत बार मरें हम,' किन्तु यशोधरा एक बार भी तो नहीं मरी। नं० २ यह कि बुद्ध ने तो मुक्ति के लिए युद्ध किया और सफल भी हुए, पर यशोधरा ने केवल राहुल को पाला और मैले-कुचैले वस्त्र पहने, यह तो एक माता करेगी ही, फिर कवि ने यशोधरा को क्यों झूठ-मूठ महान् बना दिया ?

डा० विश्वनाथ—इस प्रश्न का उत्तर भी श्रीमन् मैं यह दूँगा कि कवि की इच्छा शुरू से ही यशोधरा को साधारण रूप में खींचने की रही है, पर इसी साधारण रूप में, घर की चहारदीवारी के भीतर बंद विवाहिता हिन्दू ललना अपने में जो असाधारण व्यक्तित्व छिपाये बैठी है, उसी की ओर हमारे मुवक्किल श्री गुप्तजी ने हमारा ध्यान खींचा है। हम यशोधरा-जैसी स्त्रियों को बराबर देखते आए हैं, इसीलिए उसकी महानता हमारी दृष्टि में नहीं आई है। नारी की गोद ही वह लोक है जहाँ खेल-कूदकर लोक-नायक तैयार होते हैं। नाटक में नेपथ्य का महत्व होने से ही नाटक का महत्व होता है। [Hear, Hear की हर्ष-ध्वनि]

श्री न्यायाधीश—अच्छा, अब हम जूरियों का मत लेते हैं।

[एकांत में श्री तुलसी, सूर तथा शेक्सपियर से मिलकर न्यायाधीश व्यास आसन ग्रहण करते हैं। न्यायालय में सन्नाटा छा जाता है। गुप्तजी ध्यान से न्यायाधीश को देख रहे हैं।]

न्यायाधीश—[फैसला निकालकर पढ़ते हैं।]

आज हमारे न्यायालय में एक ऐसे कवि का मुकदमा आया है, जिस पर भारतीय साहित्य गर्व कर सकता है, पर हमें यह बतलाना आवश्यक है कि अभियुक्त के कवि होने के नाते उसमें मानवता अर्थात् दुर्बलता होना आवश्यक है। दुर्बलता से मेरा तात्पर्य गुप्त जी के सूखे-साखे शरीर से नहीं, वरन् उनकी बौद्धिक दुर्बलताओं से है। आज यहाँ पर हमारे जूरीगणों में श्री शेक्सपियर हैं, जिन्होंने अभी कहा है कि १९वीं शताब्दी में उनके पीछे पाश्चात्य देश की जनता पागल की तरह उनके शब्दों के ऐसे-ऐसे अर्थ निकाला करती थी जिसका कि स्वप्न में स्वयं कवि ने भी खयाल नहीं किया था। शेक्सपियर उन २०वीं सदी के साहित्यिकों पर, जिनमें

बहुत-से अध्यापक तथा कवि भी हैं, खेद प्रकट करते हैं, इसलिए कि उनके व्यक्तित्व को आवश्यकता से अधिक प्राधान्य दिया जा रहा है। शेक्सपियर को यह देखकर लज्जा होती है कि उनके नाटकों तथा कविताओं के बाल की खाल निकालकर उनकी महानता सिद्ध की जा रही है। श्री तुलसी भी मुझसे अभी-अभी इसी बात को प्रकट कर रहे थे कि भारतवासी उनके काव्य में अपनी कल्पना के बल पर अद्भुत, अनुपम तथा अनुदार अर्थ निकाल रहे हैं। तुलसी ने अपनी यह मति प्रकट की है कि स्वर्गीय पुरुष होने के नाते वे सर्वज्ञ हो गए हैं तथा पृथ्वी पर रहकर उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें अवश्य ही अच्छाइयाँ अधिक हैं, लेकिन उसमें कमजोर स्थल भी हैं और उन कमजोर स्थलों को छिपाने के लिए उनके अन्ध-विश्वासी भक्त-गण तरह-तरह के अकाट्य अर्थ लगा रहे हैं। श्री गुप्तजी में भी इन्हीं कवियों की तरह प्रतिभा है अवश्य, पर उनमें कमजोरियाँ भी हैं। इसलिए गुप्तजी के भक्त उनके गुणों का गान न करें, उनके दोषों पर भी ध्यान दें; क्योंकि इससे कवि की प्रतिभा और चमकेगी। आलोचना एक कैंची है जिसके द्वारा काव्य के भद्दे स्थलों को काटकर कविता को सुन्दर बनाया जा सकता है। श्री गुप्तजी को हम सादर जाने की आज्ञा देते हैं तथा आज उनकी जयन्ती पर हर्ष मनाते हुए इस न्यायालय को विसर्जित करते हैं।

[न्यायालय में जोरों की करतल-ध्वनि होती है तथा 'गुप्तजी सौ वर्ष जियें' के नारे जोर-जोर से लगते हैं। कवि की आँखें खुल जाती हैं और तब वे कुछ सोचने लगते हैं कि अचानक उन्हें खिड़की के बाहर चाँद दीख पड़ता है। साथ ही वे कह उठते हैं—'चाँद में भी कलंक है।']

सांतवाँ खण्ड

प्रांतीय साहित्य

: १ :

बिहार के कहानीकार

हिन्दी-कहानी की प्रगति में बिहार के साहित्यकारों ने भी पर्याप्त सहयोग दिया है। बुद्ध, महावीर तथा डा० राजेन्द्रप्रसाद की पुण्य-भूमि में हिन्दी-कथाकारों की कमी नहीं, लेकिन शिक्षा का अभाव बेतरह खटकता है। भारत के अन्य प्रान्तों की अपेक्षा बिहार का संतोषजनक विकास नहीं हो सका है। इतना होते हुए भी बिहार ने वियोगी, दिनकर-जैसे कुशल कवि; राजा राधिकारमण, अनूपलाल मंडल-जैसे प्रतिभाशाली उपन्यासकार; राधाकृष्ण द्विज-जैसे सिद्ध कहानीकार और शिवपूजन, बेनीपुरी-जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ सम्पादकों को जन्म दिया है। उनकी टक्कर का दूसरा जोड़ समस्त हिन्दी-संसार में पाना दुर्लभ है।

बिहार हिन्दी-कहानी-साहित्य के विकास में सदैव साथ देता रहा है। आचार्य शिवपूजन सहाय, राजा राधिकारमण, प्रिन्सिपल जनार्दनप्रसाद द्विज', श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, श्रीयुत मोहनलाल महतो 'वियोगी', 'मुक्त' तथा राधाकृष्ण बहुत पहले से ही कहानियाँ लिखते आये हैं। इनका रचना-काल द्विवेदी-युग से ही मानना चाहिए। लेकिन खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हिन्दी के विद्वान् आलोचकों तथा इतिहास-लेखकों ने इनके साथ उचित न्याय नहीं किया। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य के आधुनिक इतिहास में एक-दो नामों को छोड़कर बिहार के अधिकांश कथाकारों का नामोल्लेख तक नहीं हुआ। आज बिहार का हिन्दी-साहित्य उस बिन्दु पर पहुँच गया है जहाँ पहुँचकर साहित्यकार को अमरत्व मिल जाता है। इसीलिए आज उनके साहित्य के मूल्यांकन की इतनी जर्जर आवश्यकता आ पड़ी है। खुशी की बात है हिन्दी-साहित्य से प्रान्तीयता के पाँव उखड़ते जा रहे हैं। आज का हिन्दी-लेखक किसी एक प्रान्त की सृष्टि न होकर समस्त राष्ट्र की उपज है। इसलिए उसे किसी एक प्रान्त की चहारदीवारी में बन्द करके उसकी साहित्य-साधना का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता; क्योंकि साहित्य जातीयता, प्रान्तीयता आदि संकीर्ण विचारों से ऊपर उठा होता है। प्रस्तुत निबंध में बिहार के उन कथाकारों का सामान्य परिचय दिया गया है कि जो हिन्दी में काफी लिख चुके हैं लेकिन उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का सही मूल्यांकन नहीं हुआ है। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी के पाठक और विद्यार्थी न तो उनके नाम से परिचित हैं और न उनके काम से ही। यहाँ मैंने प्रांतीय भावों से उत्साहित होकर बिहार के इन प्रसिद्ध कथाकारों का

सामान्य साहित्यिक परिचय नहीं दिया, बल्कि उनकी साहित्य-साधना की शक्ति और महत्ता को समझने-समझाने की चेष्टा की है, जो बहुत संक्षिप्त और साधारण है। अभी हाल ही में 'कथानिका' नाम का एक कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ है, जिसमें आधुनिक बिहार के कथाकारों की प्रतिनिधि कहानियाँ संग्रहीत हैं। प्रान्तीयता के आधार पर यह संभवतः हिन्दी-कहानियों का पहला संग्रह है, जिसमें किसी एक प्रान्त के कथाकारों को एक साथ रखने का प्रयत्न किया गया है। २० वीं शताब्दी प्रान्तीयता और राष्ट्रीयता की कायल नहीं है। प्रान्तीयता अच्छी चीज भी नहीं। लेकिन प्रत्येक प्रान्त को अपनी सामूहिक चेतना तथा शक्ति का अनुमान लगाने का स्वाभाविक अधिकार है, ताकि वह अपने को तौले कि उसने देश की प्रगति में, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, कितनी उन्नति की है और वह आज कहाँ खड़ा हुआ है। कुछ इसी प्रकार के उद्देश्य को लेकर उपर्युक्त पुस्तक 'कथानिका' की सृष्टि हुई है।

बिहार के साहित्यकार किसी भी 'वाद' के विवाद में पड़ना नहीं चाहते, क्योंकि ये व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास में विश्वास करते हैं। यहाँ के कवियों, कहानीकारों आदि के सम्बन्ध में यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि वे किस सीमा तक गांधीवादी हैं और किस हद तक समाजवादी। वे कहाँ तक साम्यवादी हैं और किस हद तक फ्रायडवादी; अन्तिम निर्णय नहीं दिया जा सकता। साहित्य जब राजनीति की दासता से मुक्त रहता है, तभी उसे फलने-फूलने का सुअवसर मिलता है। तो यह बिहार के साहित्यकारों की खास विशेषता रही है कि वे अपने को किसी भी राजनीतिक 'वाद' की जंजीर से बाँधने की चेष्टा नहीं करते। दिनकर इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। हिन्दी में संभवतः दिनकर ही वह पहले कवि हैं जिन्होंने प्रगतिवाद की सही व्याख्या की। बिहारी साहित्यकार किसी भी साहित्य के स्कूल के प्रहरी नहीं हैं, यद्यपि पुराने और नये खेमे के कुछ बिहारी कथाकारों पर प्रेमचन्द, प्रसाद, जैनेन्द्र आदि का थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य पड़ा है, लेकिन यह प्रभाव नाम का ही है। आचार्य शिवपूजन, राजा राधिकारमण, द्विज आदि कथाकारों को प्रेमचन्द-स्कूल के अन्तर्गत रखा जा सकता है; लेकिन सच्ची बात तो यह है कि प्रेमचन्द से इनका संबंध ऊपरी ही है। इनकी अपनी विशेषताएँ हैं। नये उदीयमान कहानीकारों में श्री राधाकृष्ण प्रसाद, प्रो० नलिनविलोचन शर्मा, पं० हंसकुमार तिवारी, पं० जानकीवल्लभ शास्त्री, श्री नारायण, प्रो० कृष्णनन्दन, प्रो० नर्मदेश्वरप्रसाद आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं जो अपनी अपनी दिशा में काम कर रहे हैं। ये सभी ऊँचे दर्जे के लेखक हैं जिन्होंने अपनी साधना और प्रतिभा के बल पर हिन्दी-कहानी-साहित्य को पल्लवित और पुष्पित किया है, जो हिन्दी-संसार को नये विचार और नये विधान दे रहे हैं।

उपरिकथित कहानी-संग्रह 'कथानिका' में समाविष्ट सभी कथाकार बिहार के जीते-जागते लेखक हैं, जिन्होंने हिन्दी-साहित्य के सामूहिक विकास में भाग लिया है। आचार्य शिवपूजन सहाय, राजा साहब, बेनीपुरी, वियोगी, राधाकृष्ण, द्विज,

तिवारी—ये सभी हिन्दी-साहित्य के जाने-पहचाने लेखक हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक इनकी साहित्य-साधना से भली भाँति परिचित हैं। समस्त हिन्दी-संसार इनकी शक्ति, महत्ता और प्रतिभा का कायल है। लेकिन बड़े आश्चर्य की बात है कि हिन्दी-कहानी के आलोचकों ने बिहार की इन विभूतियों की उसी तरह उपेक्षा की है जिस तरह एक कट्टर सनातन धर्मावलंबी किसी शूद्र की छाया से घृणा करता है 'कथानिका' के सम्पादक ने इस कहानी-संग्रह को निकालकर जहाँ एक ओर बिहार के कथाकारों के साथ उचित न्याय किया है, वहाँ दूसरी ओर हिन्दी-पाठकों को बिहार के नये-पुराने कथाकारों से परिचित कराया है। लेकिन यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि इसमें जिन कथाकारों की कहानियाँ संग्रहीत हुई हैं, वे उनकी प्रतिनिधि कहानियाँ ही हैं। अब मैं इन कथाकारों का सामान्य परिचय प्रस्तुत करता हुआ उनके कहानी-साहित्य पर चलता प्रकाश डालने की चेष्टा करूँगा।

आचार्य शिवपूजन सहाय

[जन्म सन् १८९३]

बिहार के आधुनिक हिन्दी-साहित्य के पिता और सबसे पुराने लेखक आचार्य शिवपूजन सहाय हैं। ये न केवल बिहार के ही सम्मानित लेखक हैं, वरन् समस्त हिन्दी-संसार में इनका काफी सम्मान-सत्कार हुआ है। प्रेमचन्द के अन्तिम उपन्यास 'गोदान' और महाकवि जयशंकर प्रसाद की महान् कृति 'कामायनी' का सम्पादन इन्होंने ही किया था। इससे यह जाना जा सकता है कि शिव जी की विद्वत्ता और गहन अध्ययन कितना समुन्नत है। इनका जन्म सन् १८९३ ई० में शाहाबाद जिले के उनवाँस गाँव में हुआ था। शिवजी का साहित्यिक व्यक्तित्व इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति अपनी स्वतंत्र साधना से कितना ऊँचा उठ सकता है। हिन्दी के अन्य प्रसिद्ध लेखकों की तरह वे भी विश्वविद्यालय की डिग्रियों से वंचित ही रहे। फिर भी उनकी असीम विद्वत्ता ने उन्हें सन् १९३८ में छपरा के राजेन्द्र कालेज के हिन्दी-विभाग में हिन्दी-प्रोफेसर होने में सहायता ही दी। जब से वे हिन्दी के प्रोफेसर नियुक्त किये गए तब से सन् ५० तक वे इसी पद पर काम करते रहे। इन दिनों शिव जी बिहार-सरकार के अन्तर्गत राष्ट्र-भाषा हिन्दी परिषद् के सेक्रेटरी के उच्च पद को सुशोभित कर रहे हैं। बिहार-सरकार ने इस महाप्राण साहित्य-नेता को उस पद पर नियुक्त करके उनका जो सम्मान किया है, इससे सभी को प्रसन्नता और संतोष है। किसी महान् व्यक्ति के व्यक्तित्व के जो ऊँचे गुण होते हैं वे इनमें कूट-कूटकर भरे हैं। शिव जी उदारता, विनीतता, निरहंकारता, निश्छलता, सच्चरित्रता और परिश्रम के जीते-जागते उदाहरण हैं। एक बार जब मैंने उनसे, जबकि मेरी-उनकी भेंट कभी भी नहीं हुई थी, एक पत्र में इस बात की प्रार्थना की कि मैं हिन्दी कहानी पर कुछ शोध-कार्य करना चाहता हूँ, आप मेरी सहायता कीजिये, शीघ्र ही अपने पत्रोत्तर में मुझे आशीर्वाद देते हुए उन्होंने लिखा "जो विषय आपने चुना है उस पर मैं कहाँ तक प्रकाश दे सकूँगा, यह कहते नहीं बनता।......फिर भी आपकी जो

कुछ सेवा-सहायता कर सकूँगा, खुशी से करूँगा। आपने जो कृपा दिखाई है उसके लिए हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।" पत्र के इन कुछ शब्दों से यह सिद्ध होता है कि इस महान् साहित्यकार में चरित्र की निरहंकारता और विनीतता किस सीमा को पहुँच गई है। ये गुण एक महान् आत्मा के हैं, जो अपने उच्च व्यक्तित्व से स्वयं ऊपर उठती है और दूसरों के उत्थान में सम्बल बनती है।

आचार्य शिवपूजन सहाय अगले जमाने के आदमी हैं जो साहित्य के संसार में और व्यक्तिगत जीवन में एक ही प्रकार का व्यक्तित्व बनाये रखने के आदी हैं। साथ ही वह उस युग के लेखक हैं जिस युग को हमारे इतिहासकारों ने 'द्विवेदी-युग' की संज्ञा दी है। इस युग का साहित्य सात्विक विचारों, निश्छल भावों और नैतिक उपदेशों का प्रतीक है। आचार्य शिवपूजन भी अपने साहित्य के माध्यम से उच्च स्तर के नैतिक उपदेशों को अपने पाठकों तक पहुँचाना चाहते हैं। द्विवेदी-युग की उपदेशात्मक प्रवृत्ति की छाप इन पर भी पड़ी है। इसलिए इनके साहित्य में कला-बाजी की जगह सात्विक विचारों ने स्थान लिया है। इनकी आस्था चारित्रिक निर्माण की ओर अधिक उन्मुख हुई है। ये न केवल कहानीकार हैं, वरन् एक उच्च कोटि के निबन्धकार और विचारशील आलोचक भी। सम्पादन-कला में इनकी पैठ और पहुँच अद्भुत और असाधारण है। अब तक उन्होंने लगभग डेढ़ दर्जन हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं का कुशलता-पूर्वक संपादन किया है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित होने वाले 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ' के सम्पादकों में इनका भी नाम था। प्रसिद्ध हिन्दी-पत्र 'माधुरी', 'गंगा', 'जागरण', 'हिमालय' इत्यादि का सम्पादन करके ये अपनी कार्य-कुशलता और विद्वत्ता का परिचय दे चुके हैं। इनकी जानकारी न केवल हिन्दी तक ही है, वरन् उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषाओं का भी अध्ययन उन्होंने किया है। वास्तव में शिव जी साहित्य-देवता की आराधना में ओत-प्रोत हैं। उनका व्यक्तित्व साहित्यमय है।

शिव जी बिहार तथा अन्य हिंदी-प्रान्तों के साहित्यिक जीवन की मध्यम कड़ी बनकर हिन्दी-साहित्य में अवतीर्ण हुए हैं। सन् १९४१ में बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के १७ वें महाधिवेशन के अवसर पर ये सभापति चुने गए थे। यह शिव जी के ही अथक परिश्रम और प्रेरणा का परिणाम है कि बिहार में दर्जनों चोटी के साहित्यकार पैदा हो सके। दिनकर तथा बेनीपुरी आदि लेखक उनकी ही सजीव सृष्टियाँ हैं। बिहार के लगभग सभी लेखकों को इनसे किसी-न-किसी बहाने साहित्यिक आशीर्वाद मिलता रहा है। इस महान् लेखक के नाम पर शीघ्र ही एक अभिनन्दन-ग्रंथ प्रकाशित हो जाना चाहिए। साथ ही, आज इस बात की भी कठोर आवश्यकता है कि शिव जी की साहित्य-साधना का मूल्यांकन किया जाय और उन पर एक स्वतन्त्र आलोचनात्मक पुस्तक लिखी जाय। शिव जी का रचना-काल सन् १९१० से प्रारम्भ हुआ है। पिछले ४९ वर्षों से ये हिंदी की निरंतर सेवा करते आ रहे हैं। हिंदी में शिव जी का साहित्यिक व्यक्तित्व एक ऐसा ऊँचा शिखर है, जिस पर मानवीय उदात्त गुण अपनी शक्ति बनाये रखते हैं। इस

व्यक्ति को न तो कभी अहं ने स्पर्श किया और न किसी स्वार्थ ने प्रेरा। अहं की छाया और स्वार्थ से ऊपर उठ जाने पर साहित्यकार की सृजनात्मक शक्ति विलुप्त हो जाती है। ऐसा व्यक्ति साहित्यकार न होकर पथ-प्रदर्शक अथवा सम्पादक हो जाता है। इस अर्थ में शिव जी साहित्यकार की अपेक्षा पथ-प्रदर्शक ही अधिक सिद्ध हुए हैं। द्विवेदी-युग के वातावरण में रहकर जब तक ये कहानियों की सृष्टि करते रहे, तब तक उनके साहित्यकार की सत्ता बनी रही और जब से उन्होंने रचना बन्द कर दी, तब से ये हिन्दी-साहित्य में पथ-प्रदर्शक का काम कर रहे हैं।

हिंदी-कहानी-साहित्य में आचार्य शिवपूजन सहाय द्विवेदी-युग की कहानी-कला का संस्कार लेकर आये थे। उसी काल में उनके 'देहाती दुनिया' (उपन्यास), 'विभूति' (कहानी-संग्रह) तथा 'दो घड़ी' (कहानी-संग्रह) का प्रकाशन हुआ था। उस युग का अन्त होते ही उनकी कहानियों की रचना का भी अन्त हो गया। उनकी कहानियों को पढ़कर यह कहा जा सकता है कि शिव जी की कहानियाँ हिंदी-साहित्य के उस युग की सृष्टियाँ हैं जब साहित्य की नपी-तुली मान्यताएँ स्थिर हो चुकी थीं। स्वभाव से शिव जी द्विवेदी-युगीन लेखक हैं। अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा है कि "मेरा जमाना तो कभी ही लद गया।" इससे यह साफ है कि शिवजी वर्तमान साहित्य की गति-विधि से प्रसन्न नहीं हैं, इसलिए वे युग के साथ आगे बढ़ने में कुछ हिचकते हैं। आज भी वे पथ-प्रदर्शक का ही काम कर रहे हैं। ऊपर यह निवेदन किया गया है कि शिव जी साहित्यकार की अपेक्षा एक योग्य पथ-प्रदर्शक हैं। साहित्य के आचार्यों का काम पथ-प्रदर्शन करना ही होता है। इस अर्थ में वे हमारे आचार्य हैं। हर्ष की बात है कि बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद् ने शिव जी की रचनाओं का एक संग्रह-ग्रन्थ प्रकाशित करने का निश्चय किया है। यह सम्मान हमारे साहित्य का गौरव बढ़ाने वाला होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह

[जन्म सन् १८९१]

हिंदी-कथा-साहित्य में अनूठी भाषा-शैली के धनी राजा राधिकारमण प्रसाद चोटी के हिंदी-उपन्यासकारों में हैं। बिहार के ये सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार तो हैं ही, हिंदी-उपन्यास-साहित्य की प्रगति में उन्होंने जितना योग दिया है वह किसी भी महान् उपन्यासकार की सेवा से कम नहीं है। बिहार के अन्य साहित्यकारों की तरह ये भी अब तक उपेक्षित ही रहे। राजा साहब के साहित्यिक मित्रों की बड़ी जमात होते हुए भी उनमें से किसी ने भी उन पर 'कुछ' भी लिखने की आवश्यकता महसूस नहीं की। यह कितने आश्चर्य की बात है।

राजा साहब शाहाबाद जिले के अन्तर्गत सूर्यपुरा के (हाल तक) नरेश थे। किसी भू-भाग के स्वामी होकर भी उन्होंने हिंदी-साहित्य की जितनी सेवा की है, उनके साहित्य के परिमाण को देखते हुए वह बहुत अधिक है। राजा साहब और आचार्य शिवपूजन सहाय इस प्रान्त के सबसे अधिक विख्यात और पुराने साहित्यकार हैं।

राजा साहब ने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ कहानियों से किया था। प्रसादजी के 'इंदु' और आचार्य महावीरप्रसाद की 'सरस्वती' में इनकी आरम्भिक कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं। उन दिनों 'कानों का कंगना' शीर्षक कहानी की काफी धूम मची थी। तभी से इनकी साहित्यिक प्रसिद्धि जोर पकड़ने लगी थी। यह बात सन् १९११ की है। राजा साहब द्विवेदी-काल के आरम्भ से ही लिखते आ रहे हैं। लेकिन जमाने के अनुसार उनके गद्य-साहित्य की दिशाएँ भी समय-समय पर बदलती रही हैं। उनका कथा-साहित्य समूहतः समाज की दुर्बलताओं को लक्ष्य करता है। राजा होकर भी उनका हृदय रंकों की तरह संवेदनशील है। उन्होंने अपनी कहानियों में गरीब की झोपड़ियों के दुःख-दर्द का ही वर्णन किया है और भारतीय समाज के उन निरीह प्राणियों का चित्रण किया है जो समाज से बहिष्कृत हैं, जो वन्य-फूल की तरह संसार के किसी कोने में खिलकर आप ही मुरझा जाते हैं। वास्तव में राजा साहब ने आधुनिक भारत के आचार, युग के विचार और उसकी पुकार को ही अपनी कहानियों या उपन्यासों में वाणी दी है।

राजा साहब यथार्थवाद और आदर्शवाद की मध्यम कड़ी हैं। प्रेमचन्द ने आदर्श और यथार्थ के गठबंधन पर जितना अधिक बल दिया था, उसी परंपरा का निर्वाह राजा साहब के कथा-साहित्य में हुआ है। इस लेखक को आरंभ से ही गाँधीवाद के प्रति आस्था बनी रही है। जीवन की कुरूपता और नग्न वास्तविकता का यथार्थ चित्रण करते हुए भी उन्होंने नैतिक आदर्शों को अपने हाथ से नहीं जाने दिया है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'राम-रहीम' की भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि वे 'रोजमर्रा की दिलचस्प कहानी की टेक लेकर धर्म और समाज के तमाम काले चिट्ठे खोलकर रख देने की कोशिश करते हैं।' उनके कथा-साहित्य का यही मूल उद्देश्य है। लेकिन जहाँ उन्होंने समाज और व्यक्ति की दुर्बलताओं तथा यथार्थ कुरूपताओं के दर्शन कराए हैं, वहाँ अपने पाठकों को आदर्श जीवन का प्रकाश भी दिया है। राजा साहब 'उग्र-स्कूल' के कथाकार नहीं, जो समाज के काले चिट्ठे खोलकर अपने पाठकों को सामाजिक समस्याओं की भूल-भुलैयाँ में गुमराह कर देता है। राजा साहब ने जहाँ यथार्थ जीवन की वास्तविक और मानव-मन की दुर्बलताओं को अभिव्यक्त किया है, वहाँ उचित दिशा का मार्ग-प्रदर्शन भी कर दिया है। यथार्थवाद के मौसम में आदर्शवाद के 'छींटें' उनके साहित्य में बराबर देखने को मिलते हैं। अतएव, राजा साहब का कथा-साहित्य भारतीय परम्परा की पुकार और वर्तमान की गुहार को साथ लेकर चलता है। आज के प्रगतिवादी आलोचक उनके उपन्यासों को पढ़कर भले ही नाक-भौं सिकोड़ लिया करें; लेकिन इतना तो अवश्य है कि उन्होंने भारतीय साहित्य की डोर को एक झटका देकर तोड़ा नहीं, बल्कि उसे काफी मजबूत बनाया है। उनके कथा-साहित्य का आरम्भ प्रायः यथार्थ जीवन की कुरूपताओं से और अन्त आदर्श की सुघड़ और शीतल छाया में होता है। वे इस युग के सबसे बड़े समन्वयवादी हिन्दी-कथाकार हैं।

हिन्दी-साहित्य-संसार में राजा साहब अपनी रंगीन भाषा-शैली की सज-धज

के लिए सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। भाषा की सजीवता और नवीनता देखते ही बनती है। उनका गद्य अपने ढंग का बेजोड़ है। इस क्षेत्र में इनकी समता करने वाला कोई भी दूसरा हिन्दी-लेखक नजर नहीं आता। संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों के साथ उर्दू, फारसी के शब्दों को वे इस खूबी के साथ फिट करते हैं कि कहीं जोड़ मालूम नहीं होता। इन्हें न तो अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों से लुकाव-छिपाव है, न उर्दू-फारसी के चलते शब्दों से परहेज; और न संस्कृत के तत्सम शब्दों से घृणा ही। उनका शब्द-भण्डार भाषा-कोष का काम करता है। भाषा की दिशा में भी उन्होंने समन्वय से काम लिया है। उनकी गद्य-भाषा में मुहावरों और कहावतों की झड़ी लग जाती है। राजा साहब का वह कौन-सा वाक्य है जिसमें एकाध मुहावरा या कहावत न आई हो। उनका कथा-साहित्य हिन्दी-मुहावरों और कहावतों का बृहद् कोश है। इस दिशा में प्रेमचन्द और आचार्य शिवपूजनसहाय ही उनकी समता कर सकते हैं। हिन्दी-गद्य को राजा साहब ने लचीला और व्यावहारिक रूप दिया है। प्रवाह और प्रभुत्व, सरलता और सरसता इसकी मुख्य विशेषता है। चमक और अनुप्रास का जमघट तो देखते ही बनता है।

मोहनलाल महतो 'वियोगी'

[जन्म सन् १९०२]

बिहार के सबसे बड़े और पुराने कवि श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' हैं। लेकिन इनके साथ एक विचित्र असंगति यह है कि हिंदी के विद्वान् जितना इनके साहित्यिक व्यक्तित्व से परिचित हैं उतना हिंदी के साधारण पाठक इनसे दूर हैं। ये बिहार की विभूति तो हैं ही, हिंदी-संसार के गौरव भी हैं। वियोगी जी रवि-बाबू की साहित्य-साधना की सृष्टि हैं। उनके कवि-व्यक्तित्व का परिपोषण कवीन्द्र-रवीन्द्र की प्रेरणा से होता रहा है। ये अपने को 'रवीन्द्र का शिष्य' कहलाने में गौरव का अनुभव करते हैं। बिहार के छायावादी काव्य को वियोगी, द्विज तथा हंसकुमार तिवारी-जैसे कुछ कुशल कवियों ने ही पुष्ट किया है। हिंदी-साहित्य-संसार में श्री 'वियोगीजी' 'निर्माल्य' और 'एकतारा'-जैसी अमर रचनाएँ लेकर आए थे। तभी से उनकी साहित्यिक ख्याति बल पकड़ने लगी थी। आज भी ये अपनी साहित्य-साधना की अमर टेक का निर्वाह करते चले जा रहे हैं।

हिंदी साहित्य में वियोगीजी पहले एक कुशल संस्मरण-लेखक बनकर आए और फिर कवि की हैसियत से। एक समय था जब वियोगीजी के संस्मरणों की काफी धूम थी। लोग हिंदी के प्रमुख पत्रों में उनके संस्मरणों को बड़े चाव से पढ़ते थे और उनके प्रकाशन की कठोर प्रतीक्षा करते थे। लेकिन आज वे अपने को व्यंग्य-चित्र, उपन्यास, महाकाव्य, रेखा-चित्र आदि के लेखन में ही अधिक व्यस्त पाते हैं। उनकी दृष्टि में संस्मरण लिखने का समय बहुत पीछे छूट गया। संक्रान्ति-काल में संस्मरण का लिखा जाना खतरा मोल लेना है। इसीलिए वियोगीजी ने साहित्य के इस अंग से विराग ले लिया है। उनके साहित्य का क्षेत्र व्यापक है; और महान् है उनका व्यक्तित्व। उनके साहित्यिक रूप के अनेक पहलू

हैं, जिनकी आत्मा तो एक है, पर बाहरी ढाँचा अनेक रंगों से रंजित है। साहित्य का कोई भी अंग उनसे अछूता नहीं रहा। चित्रकार, व्यंग्यकार, गद्य-काव्यकार, कवि, संस्मरण-लेखक, उपन्यासकार, गीतकार, आलोचक, नाटककार, कहानीकार, महाकाव्यकार और कुशल वक्ता—इनमें से कोई भी विशेषण वियोगीजी के नाम के आगे सहज ही लगाकर उनके साहित्यिक व्यक्तित्व का मूल्यांकन किया जा सकता है। हिंदी में ऐसा सौभाग्य विरलों को ही मिलता है। महाकवि प्रसाद और निराला के बाद वियोगीजी, मेरे विचार से, वे तीसरे साहित्यिक व्यक्तित्व हैं जिन्हें साहित्य के हर क्षेत्र में पूरी-पूरी सफलता मिली है और जिन्होंने हिन्दी-साहित्य के मन्दिर को अनेक बहुमूल्य रत्नों से भरा है। रवि बाबू के व्यापक व्यक्तित्व का असर आखिर वियोगीजी पर चढ़कर बोल ही उठा। इसके अतिरिक्त वियोगीजी ने राजनीति और समाजशास्त्र के ठोस विषयों पर भी, समय-समय पर, अपने जोरदार विचार व्यक्त किये हैं।

किसी भी साहित्यकार की महानता का मूलाधार उसका व्यापक और गहन अध्ययन होता है। रवि बाबू, प्रसाद, निराला और संसार के अन्य महान् साहित्य-कारों की तरह इन्हें भी किसी स्कूल या कालेज में अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। जिस व्यक्ति ने दस साल की अवस्था में 'ककहरा' सीखना शुरू किया हो और १७ साल की उम्र में पं० पद्मसिंह शर्मा के लेखों से प्रभावित होकर गंभीर आलोचना लिखना प्रारम्भ किया हो, उसके अध्ययन की गहनता का क्या पूछना। ऐसा मालूम होता है कि वियोगीजी की साहित्यिक चेतना प्रस्फुटित होने पर वे अबाध गति से पढ़ते ही गए और आज भी नियमित रूप से अध्ययन का क्रम चलाते जा रहे हैं।

वियोगीजी की साहित्यिक प्रवृत्ति का जागरण-काल सन् १९१८ है, जब कि संसार के इतिहास में विश्व का दूसरा महासमर समाप्त हो चुका था। सन् '२५ तक वे संस्कृत, मराठी, गुजराती, बंगला, तथा अँगरेजी-साहित्य का अध्ययन करते रहे। बंगला के रवि बाबू, डी० एल० राय और शरच्चन्द्र उनके प्रिय साहित्यकार हैं, संस्कृत में कालिदास और वाल्मीकि। विदेशी लेखकों में टालस्टाय और टालस्की का साहित्य उन्हें बहुत पसन्द है। इनके अतिरिक्त पं० जवाहरलाल नेहरू की रचनाओं ने भी वियोगीजी को प्रभावित किया है। सारांश यह कि वियोगीजी के निर्माण में वाल्मीकि, कालिदास, रवीन्द्रनाथ, टाल्स्टाय, जवाहरलालजी—जैसी विभूतियाँ प्रेरक-शक्ति का काम करती रही हैं। वियोगीजी की साहित्य-साधना का वास्तविक प्रारम्भ सन् '२५ से ही हुआ। इसी समय से उनकी साहित्यिक प्रतिभा का प्रकाश विकीर्ण हुआ और तब हिन्दी-संसार ने यह अनुभव किया कि बिहार के पूर्व क्षितिज पर एक नूतन प्रकाश-पिंड का उदय हुआ।

वियोगीजी साहित्य के साधक हैं, व्यापारी नहीं; क्योंकि उनकी दृष्टि में साहित्यसाधना एक आध्यात्मिक सेवा है। साहित्य का मूल्य समाज से कहीं ऊपर है। समाज और साहित्य के बीच पारस्परिक सम्बन्ध बैठाने वाले आलोचक साहित्य के

वास्तविक मर्म और महत्त्व को समझ नहीं सके हैं, ऐसा उनका विश्वास है। उनका कहना है कि समाज साहित्य से लेता है, देता नहीं है; और जब वह कुछ नहीं देता तो फिर उससे (साहित्य) सम्बन्ध ही कैसा। सच्चा साहित्य, उनकी दृष्टि में, स्वर्गिक सन्देश का वाहक है, शान्ति और सामंजस्य का जनक है, संघर्ष का प्रतीक नहीं। साहित्य के माध्यम से समाज में घृणा का भाव पैदा करना साहित्य की आत्मा को कुण्ठित करना होगा, उसके साथ बहुत बड़ा विश्वास-घात करना होगा। इसके अतिरिक्त वियोगीजी का यह भी विश्वास रहा है कि जीवन के लिए संघर्ष है, संघर्ष जीवन नहीं है। जीवन को सुखी बनाना, उसे आनन्द और शान्ति से शोभित करना ही हमारा और साहित्यकार का कर्तव्य होना चाहिए। इस तरह हम देखते हैं कि वियोगीजी की साहित्य-परम्परा मूलतः भारतीय है और उसीकी रेखाओं को उन्होंने इन्द्र-धनुषी रंगों से रंजित किया है। जहाँ तक हो सका है उन पर विदेशी विचार-धारा का प्रभाव कम पड़ा है। उनकी समस्त रचनाओं में भारतीय आत्मा की ही आकुल-व्याकुल पुकार है और इसलिए उनकी रूप-रचना के साथ ही उनके साहित्य का प्राण भी पूर्णतः भारतीय है, जिसमें पश्चिमी विचार-पद्धति के लिए कम-से-कम गुन्जाइश है। यह तो हुई उनके साहित्यकार की सामान्य चर्चा। अब मैं यहाँ संक्षेप में उनके कहानीकार पर प्रकाश डाल देना चाहता हूँ, क्योंकि वियोगीजी ने अपनी नवीन कहानियों में कुछ मौलिक प्रयोग किये हैं, जो सर्वथा नूतन, नवीन और आकर्षक हैं तथा हिन्दी-कहानी के विकास में दिशा-परिवर्तन की सूचना देते हैं। उनकी कहानियों का संग्रह हाल ही में 'वन्दनवार' शीर्षक पुस्तक में प्रकाशित हुआ है। यद्यपि उनकी कहानियों का एक और संग्रह 'रजकण' नाम से बहुत पहले ही प्रकाश में आ चुका था, लेकिन 'वन्दनवार' में उनकी कहानी-कला का नूतन विकास देखने को मिलता है। उनकी छोटी-छोटी कहानियों के सम्बन्ध में एक लेखक ने ठीक ही लिखा है कि 'उनकी कहानियाँ छोटी-छोटी, कोमल, अश्रु-स्निग्ध होती हैं; जैसे उषा-काल की ओस से भरी बयार का झोंका अथवा जैसे सन्ध्या के दूराकाश में टिमटिमाती हुई नन्हीं तारिकाएँ।' इसी तरह के चल-चित्र उनकी नव-प्रकाशित रचना 'वन्दनवार' में संग्रहीत होकर आये हैं। 'भाषा का लालित्य उनमें कहीं नहीं होता, कहीं भी भार नहीं बनता; रूप का चमत्कार भावना के ज्वार को नहीं दबा सका।' वियोगीजी के मानस में 'चाँदनी' और 'मरघट' का अद्‌भुत संयोग हुआ है। उसी लेखक के शब्दों में 'उनकी चाँदनी खिलती है परन्तु उसके आलोक में मरघट की एक चिता भी दूर दिखाई पड़ जाती है।' पिछले तीस वर्षों से वियोगीजी सरस्वती के मन्दिर में अविचल भावों से, मूक भाव से भारती के चरणों पर अपने साहित्य के फूल चढ़ाते चले जा रहे हैं।

जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'

[जन्म सन् १९०४]

बिहार के पुराने कवियों और कहानीकारों में श्री जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' का स्थान सुरक्षित है। उनकी ख्याति हिन्दी-प्रान्तों के एक कोने-से-दूसरे कोने तक

सर्वत्र हुई है। ये सुकवि, आलोचक, सुवक्ता तथा एक कुशल कहानीकार हैं। अपने ओजस्वी व्याख्यानों द्वारा ये उत्तरप्रदेश और पंजाब में अपनी विद्वत्ता, योग्यता तथा प्रतिभा का परिचय दे चुके हैं। ये बिहार के सर्वश्रेष्ठ वक्ताओं में गिने जाते हैं। द्विज जी संम्भवतः हिन्दी के प्रथम आलोचक हैं जिन्होंने प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य पर आलोचना लिखी। उन्हीं के पथ-निर्देश पर अन्य आलोचकों ने प्रेमचन्द के साहित्य की आलोचना प्रस्तुत की। ऐसे प्रतिभा-पुत्र तथा सुलेखक का जन्म भागलपुर के रामपुरडीह में २४ जनवरी सन् १९०४ को हुआ था। बचपन से ही ये भावुक रहे। उनकी भावुकता उनकी काव्य-रचनाओं में छलक पड़ी। बनारस-हिन्दू-विश्वविद्यालय से उन्होंने हिन्दी और अंग्रेजी में एम० ए० स किया। उन्होंने काव्य, उपन्यास, शब्द-चित्र, कहानियाँ और आलोचना सब-कुछ लिखा है।

'द्विज' सर्वप्रथम एक कुशल कवि हैं, फिर और कुछ। उनकी काव्य-साधना ने ही प्रथम-प्रथम बल पकड़ा था। एक समय था जब कि उनकी कविता की बड़ी धूम थी। नवयुवक कवि उनकी कविताओं पर झूम उठते थे और फिर उन्हींके आधार पर काव्य-रचना में जुट जाते थे। न जाने स्कूल और कालेज के कितने नवयुवकों को प्रभावित किया और कितने उनकी प्रेरणा ग्रहण करके कवि और लेखक हुए—इसका कोई हिसाब नहीं है। बिहार प्रान्त में 'द्विज' की कविता का जादू नवयुवकों के सिर पर चढ़कर बोला है और आज भी बोल रहा है। दिनकर, द्विज, हंसकुमार तिवारी, जानकीवल्लभ शास्त्री आदि इस प्रान्त में ऐसे कवि हैं जिनका अनुकरण पहले भी हुआ और आज भी हो रहा है। लोग कहते हैं कि छायावाद का देहान्त हो गया और इसीलिए आज जहाँ-तहाँ उसकी शव-परीक्षा भी होने लगी है, लेकिन शव-परीक्षा करने वाले डाक्टरों को यह पता नहीं कि आज भी हिन्दी-संसार में, और विशेषकर विहार में ऐसे कवियों की संख्या कम नहीं है जो तथाकथित प्रगतिवाद के युग में भी छायावादी स्वरों को जाने-अनजाने अपनाये चले जा रहे हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर 'द्विज' की ऐतिहासिक महत्ता समझी जा सकती है। उनकी कविता द्विवेदी-युग की अतिशय इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया में प्रसूत हुई थी। अतएव यह कहा जा सकता है कि विहारी कवियों में द्विज वह प्रथम कवि हैं जिन्होंने इस प्रान्त की कविता-साधना को छायावाद के नूतन आवरणों से सुशोभित किया। सामान्यतः द्विज जी के काव्य में माननीय संवेदनाओं और करुणा के अजस्र और सहस्र स्रोत फूटे हैं। लेकिन उनकी कविता और कहानियों में एक विचित्र वात का अनुभव होता है। ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने कविता और कहानी के बीच एक विभाजक रेखा, एक मोटी दीवार खींच दी है, महादेवी वर्मा की तरह 'द्विज' अपने कविता-कानन में समाज अथवा देश की किसी भी समस्या का फूल नहीं खिलाते; इसके विपरीत समाज की विषम परिस्थितियों से उलझ कर उनके हृदय को जो ठेस, यवावस्था में, लगी है, जो वेदना वजी है, जो लालसा अतृप्त रह गई है, उसीकी

करुण अभिव्यंजना उनकी कविताओं में हुई है और यही वेदना उनकी कविता की मूल भित्ति बन गई है। इसके विपरीत कहानियों में उन्होंने समाज के संघर्ष और कोलाहल तथा जीवन की विषम असंगतियों का यथार्थ चित्रण किया है। यदि उनकी कविता में उनकी आत्मा का तार झंकृत हुआ है तो कहानी में मस्तिष्क के विचार उवल पड़े हैं या हृदय की समवेदना बोल उठी है। यदि उनकी कविता में भाव-पक्ष की प्रवलता है, तो कहानी में विभाव-पक्ष की तीव्रता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि 'द्विज' की कहानियों में समाज के किसी एक अंग का चित्रण बड़ी कुशलता के साथ हुआ है। मानवीय भावनाओं की यह पृथक्ता उनके साहित्य में बिलकुल स्पष्ट होकर आई है। जिस तरह श्रीमती महादेवी वर्मा की कहानियों में संस्मरण उनके बहिर्मुखी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हैं, उसी तरह द्विज की कहानियाँ भी हैं। लेकिन 'द्विज' के साथ एक बात है और वह यह कि उन्होंने मानव-हृदय की सात्विक वृत्तियों को ही अधिक खुलने का अवसर दिया है, उनके अन्ततम प्रदेश में होने वाले संघर्षों, घात-प्रतिघातों, और अन्तर्द्वन्द्वों को वाणी देने की कोशिश बिलकुल नहीं की। इससे उनकी कहानियाँ शिथिल पड़ गई हैं। मानव-जीवन की पवित्रता और नैतिकता के प्रति सजगता का भाव उनकी समस्त कहानियों में उभरकर आया है। द्विज के कहानीकार को यदि हम प्रेमचन्द-स्कूल के अन्तर्गत रखें तो विशेष हानि न होगी। प्रेमचन्द और 'द्विज' दोनों ने अपनी कहानियों में यथार्थ और आदर्श का समन्वय उपस्थित किया है। दोनों ने मध्यवर्गीय परिवार की हीनावस्था का सजीव वर्णन किया है। इस क्षेत्र में द्विज की कहानी-कला पर प्रेमचन्द का भारी ऋण है, लेकिन जहाँ प्रेमचन्द की कहानियों में विकास की रेखाएँ काफी स्पष्ट हैं, वहाँ 'द्विज' की कहानियाँ स्थिर और गतिहीन हैं। हिन्दी-संसार को 'द्विज' से बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं लेकिन जब से ये कालेज के प्रिंसिपल हुए तब से समयाभाव ने उनकी साहित्य-साधना में बहुत बड़ा अवरोध उपस्थित कर दिया है। आजकल 'द्विज' जी पूर्णिया कालेज के प्रिंसिपल हैं।

राधाकृष्ण

[जन्म सन् १९१२]

हिन्दी-कथा-साहित्य में श्री राधाकृष्ण का वही स्थान है जो स्थान अंग्रेजी-कथा-साहित्य में चार्ल्स डिकेन्स का है। दोनों ने जीवन की विकट और विषम परिस्थितियों और आर्थिक जीवन की विषमताओं का निकट से अध्ययन किया है। दोनों निर्धन परिवार में जन्म लेकर और अनाथ होकर जीवन की तूफानी लहरों को झेलते हुए शेष दिन विताते रहे। दिल में दर्द और होठों पर मुसकान ढोये फिरना किसी गरीब की धीरता की चरम सीमा है। राधाकृष्ण हिन्दी-कथा-साहित्य के एक ऐसे ही लेखक हैं, जिन्होंने अपने जीवन में वर्तमान आर्थिक अवस्था की जर्जरता और उसके तीव्र दर्शन का कड़वा अनुभव किया है। २० वीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी-उपन्यासकार प्रेमचन्द बिहार के इस प्रतिभाशाली निर्धन लेखक की ओर इतना

अधिक खिचे कि उन्हें यह कहना पड़ा कि हिन्दी-साहित्य में राधाकृष्ण एक ऐसे कथाकार हैं जिनकी टक्कर का दूसरा लेखक मुश्किल से पाया जायगा। प्रेमचन्द उनकी तेजस्विनी प्रतिभा के कायल थे। राधाकृष्ण की भयंकर गरीबी से वे इतने द्रवित हुए कि इन्हें वे नियमित रूप से २५) मासिक सहायता देने लगे। प्रेमचन्द जब तक जीवित रहे तब तक यह अर्थ-दान राधाकृष्ण को बराबर मिलता रहा।

राधाकृष्ण भयंकर गरीबी के प्रतीक बनकर इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए। इनका जन्म सन् १९१२ में एक निर्धन परिवार में हुआ था। बचपन में ही उनके माता-पिता उन्हें छोड़कर चल बसे। इनकी बड़ी बहन ने ही उनका लालन-पालन किया। प्रचंड दरिद्रता का प्रहार ये आरम्भ से ही सहते रहे। गरीबी की भयावनी सूरत के कारण उनकी शिक्षा पाँचवीं क्लास तक चलकर ठप हो गई। जिन दिनों ये राँची जिला स्कूल के पाँचवें दर्जे में पढ़ते थे तभी उन्होंने अपने नटखट स्वभाव का परिचय दिया था। स्कूल में शिक्षक द्वारा बीड़ी पीते हुए पकड़े जाने और अपने शिक्षकों की नकल उतारने के अभियोग में उन्हें कई बार सजाएँ भी भुगतनी पड़ीं। अन्त में उन्होंने स्कूली शिक्षा से अपना नाता सदा के लिये तोड़ दिया। आज भी यह रिश्ता टूटा हुआ है। बड़े होने पर उन्होंने कई वर्षों तक मोटर की कंडक्टरी की, लेकिन रात में समय निकालकर सफेद कागजों को काला भी करते रहे। उनकी साहित्यिक चेतना की कली तभी प्रस्फुटित हुई। घोर निर्धनता ने उन्हें न जाने कितनी जगहों की खाक छानने पर मजबूर किया। बम्बई की फिल्मिस्तान कम्पनी में कथा-लेखक की हैसियत से कुछ दिन काम करने के बाद वहाँ भी उन्हें गहरी निराशा ही हाथ लगी। प्रेमचन्द की तरह राधाकृष्ण को भी फिल्मी दुनिया से वैराग्य हुआ। दोनों ने अनुभव किया कि फिल्म-संसार में रहने वाले हिन्दी के कथा-लेखक अपने मालिकों के कठपुतले-भर होते हैं। वहाँ लेखक को अपने स्वतंत्र विचार प्रकट करने का अवसर नहीं दिया जाता। बम्बई में तीन महीने ठहरने के बाद, मँगनी माँगे हुए कुछ कपड़े और सेफ्टी रेजर गँवाकर, घर लौट आए। सन् १९४२—भारतीय जन-क्रांति का प्रतीक-वर्ष—में राधाकृष्ण की घोर दरिद्रता अपनी चरम सीमा लाँघने की चेष्टा करने लगी। सेठ-साहूकारों की नौकरी करने के बाद, उन्हें ऐसा लगा जैसे वे पूँजीवादी समाज के कीड़े होते जा रहे हैं। धक्के-पर-धक्के खाने के बाद सन् '४५ में उनके भाग्य ने करवट बदली। बिहार-सरकार की निगाह इस प्रतिभा-पुत्र पर गई और उसने बड़ी कृपा करके उन्हें राँची से प्रकाशित होने वाले सरकारी पत्र 'आदिवासी' का सम्पादक बना दिया। आज राधाकृष्ण 'आदिवासी' के सम्पादक हैं। वर्षों की ठोकरें खाने के बाद यह मजदूर लेखक, आज मध्यवर्गीय कहला सका है; अब इसके एक बीवी है, बच्चे हैं और एक छोटा-सा मकान है, जिसमें राधाकृष्ण की विगत और वर्तमान गरीबी आज भी कभी-कभी अट्टहास कर उठती है। जीवन की कुरूपताओं और वर्तमान आर्थिक शोषण ने जहाँ एक ओर उन्हें धीर और गंभीर बनाया है, वहाँ दूसरी ओर व्यंग्यकार भी बना दिया। कहानी लिखने का अभ्यास-प्रयास तो ये तभी से करते रहे जब वे

मोटर के कंडक्टर थे।

राधाकृष्ण को कहानी लिखने की प्रेरणा दो स्रोतों से मिली—एक तो प्रेमचन्द जी की ओर से। वास्तव में हिन्दी-कथा-साहित्य में राधाकृष्ण प्रेमचन्द के पूरक हैं। प्रेमचन्द अपने जीवन के शेष वर्षों में समाजवादी विचार-धारा की ओर बढ़ते गए और इसलिए अपने साहित्य के इस भाग में उन्होंने समाज के जिन निम्न स्तर वाले व्यक्तियों को चुना उनसे भी निम्न स्तर के व्यक्तियों को राधाकृष्ण ने अपने कहानी-साहित्य में स्थान दिया है। विहार में ये प्रेमचन्द के प्रतीक तो हैं ही, मानो विहार में प्रेमचन्द की आत्मा राधाकृष्ण के शरीर में आ गई है और उनकी अन्तर्चेतना ही राधाकृष्ण के साहित्य की वाणी है।

राधाकृष्ण को कहानी लिखने की प्रेरणा, मैं कह चुका हूँ, अपने जीवन की कुरूपताओं से भी मिली है। उनकी कहानियाँ व्यंग्य और हास्य की फुलझड़ियाँ हैं। ये प्रेमचन्द की तरह सुधारक नहीं, बल्कि एक व्यंग-चित्रकार हैं, जो जीवन की विषमताओं के टेढ़े-मेढ़े चित्र देकर मौन हो जाते हैं और अपने पाठकों पर उन पर विचार करने के लिए बहुत बड़ा बोझ डाल देते हैं। यही कारण है कि उनकी कहानियाँ समस्यामूलक हैं। हिन्दी-कथा साहित्य में राधाकृष्ण पहले कुशल व्यंग्य-लेखक हैं जिनके शिष्ट हास्य और मार्मिक व्यंग्यों में जीवन की वास्तविकता और सामाजिक समस्या की ईमानदारी होती है। आकाश-पाताल के कुलाबे मिलाने में इस लेखक का मन नहीं रमता। वह तो धरती के दुःख-दर्द की उलझी तस्वीरें हमारे सामने खींचकर रख देता है। उनका साहित्यिक उपनाम 'घोष-बोस-बनर्जी-चटर्जी' है। उनकी अधिकांश कहानियाँ इसी नाम से पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं।

राधाकृष्ण प्रधानतः एक कुशल व्यंग्यकार (satirist) हैं, फिर और कुछ। उनका व्यंग्य जितना तीखा और चुभता होता है उतना ही मार्मिक और स्वभाविक भी। घोर गरीबी की ठोकरें खाते-खाते व्यक्ति या तो विद्रोही हो जाता है या संयत व्यंग्यकार। राधाकृष्ण केवल व्यंग्यकार ही हैं। सुधार-वृत्ति में उनका विश्वास नहीं है, क्योंकि आज उनकी आवाज ही कौन सुनने वाला है। जब वर्तमान आर्थिक व्यवस्था ही उल्टी है तो फिर सुधार कैसा और किसका? इसलिए जीवन के भावात्मक आदर्शों से दूर रहकर ये वर्तमान शोषित समाज के संघर्षशील जगत् के बीच रहना अधिक पसन्द करते हैं। यही उनकी कहानी का मूलाधार है। उनकी कहानियाँ प्रगतिवाद की जय बोलती हैं और पूँजीवादी शक्ति का क्षय करने पर तुली हैं। राधाकृष्ण अभी अपने निर्माण-पथ पर चलते चले जा रहे हैं। पता नहीं कहाँ जाकर रुकेंगे।

राधाकृष्ण प्रसाद

[जन्म सन् १९२२]

बंगला के शरच्चन्द्र और हिन्दी कथाकार प्रेमचन्द वर्तमान भारतीय कथा-साहित्य की प्रेरक-शक्तियाँ हैं। इन दो लेखकों ने न जाने कितने कहानीकारों और उपन्यासकारों को अपने प्रभाव की छाया में पनपने दिया। विहार के

ऐसे कहानीकारों में श्री राधाकृष्ण प्रसाद का स्थान आता है जिनके संस्कार म शरत् और प्रेमचन्द की सम्मिलित शक्ति इस तरह घुल-मिल गई ह जैसे दूध से पानी मिल जाता है। यद्यपि राधाकृष्ण को हिन्दी के किसी भी कहानी-स्कूल के अन्तर्गत बाँधकर नहीं रखा जा सकता। वे बँधना चाहते भी नहीं। तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि इनके कहानी-साहित्य की प्रेरक-शक्ति शरत् और प्रेमचन्द ही हैं। उन्होंने एक वार मुझसे कहा ही था कि 'मेरे साहित्य पर शरत् का वहुत वड़ा प्रभाव पड़ा है।' कोई भी कहानीकार किसी भी दूसरे कहानीकार का अनुकरण नहीं करता वरन् उससे प्रेरणा की चिनगारी लेकर अपनी साधना, स्वाध्याय और स्वभाव से उसे अपना बना-कर मौलिक सृष्टियाँ करता है, क्योंकि कला अनुकरण न होकर सृजन होती है। राधाकृष्ण की कहानियों में जहाँ एक ओर शरत् की भारतीय नारी सकरुण मूर्ति की झाँकी देती है वहाँ दूसरी ओर प्रेमचन्द का व्यक्तित्व भारतीय समाज की रूढ़ियों पर गहरी चोट करता है। इनके अतिरिक्त उन्होंने फ्रायड के यौन-सम्वन्धी मनोविज्ञान को भी अपने कहानी-साहित्य में खपाने का प्रयत्न किया है। मनोविज्ञान राधाकृष्ण प्रसाद के कहानी-साहित्य का मेरुदण्ड है और मापदण्ड भी। इसके सहारे जहाँ उन्होंने बच्चों की मानसिक दशाओं का सूक्ष्म अध्ययन किया है, वहाँ दूसरी ओर नारी-पुरुष के स्वच्छन्द प्रेम-व्यापार का नए ढंग से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इसके अलावा, मनोविज्ञान ने उन्हें परम्परागत विश्वासों और धारणाओं की वास्तविकता को समझने में सहा-यता पहुँचाई है। इन सभी प्रभावों को ग्रहण करके राधाकृष्ण प्रसाद ने अपने कथा-साहित्य का सृजन किया है और आज भी वे इसी पथ का अनुसरण करते चले जा रहे हैं। वे हिन्दी कथा-साहित्य के उन इने-गिने कहानीकारों में हैं, जिन्होंने हिन्दी-साहित्य के इस अंग को सुदृढ़ और स्पष्ट करने में हृदय से योग दिया है। उनके कथा-साहित्य में, उपन्यास हो या कहानी—भाषा की सरलता और मधुरता साथ-साथ चलती हैं। इसमें इतनी स्पष्टता और मार्मिकता है कि कोई भी साधारण पाठक एक साथ ही 'आह' और 'वाह' की सम्मिलित ध्वनि प्रकट किये विना नहीं रह सकता। 'हास्य' और 'रुदन' का इतना निकट सम्मिलन अन्यत्र नहीं देखा जाता। इस कला की अभिव्यक्ति में इस लेखक को अच्छी सफलता मिली है।

नारी का मानसिक शोषण राधाकृष्ण प्रसाद के लिए असह्य हो उठता है। जहाँ-जहाँ उन्होंने समाज की रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों की चक्की में पिसती हुई नारी को देखा है, वहाँ लेखक की अन्तश्चेतना कराहकर चीख उठी है, उसके शरीर के तार-तार झनझना उठे हैं और तव वह विद्रोह और क्रांति के लिए उतावला हो गया है। ऐसे अवसरों पर राधाकृष्ण की औपन्यासिक कला अपने पाठकों पर जो अमिट छाप छोड़ती है, वह दीर्घकालीन है। ऐसे अवसरों पर उनकी आत्मा, पुराने वन्धनों को झकझोरकर तोड़ डालने के लिए विद्रोह का

हुङ्कार भरने लगती हैं। नारी और बालक उनके कथा-साहित्य के मूल आकर्षण-बिन्दु हैं। उन्हींकी वर्तमान मूक समस्याओं को वाणी देने के लिए वे कुछ लिखते हैं। बिहार में उनके कथाकार का सम्मान तो है ही, अन्य प्रान्तों में भी उनके साहित्य का अच्छा स्वागत हुआ है। २९-३० साल की छोटी अवस्था में ही अब तक उन्होंने जितना लिखा है वह उनकी उम्र के अनुपात में बहुत अधिक है। अब तक उनकी निम्नांकित रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं—

उपन्यास—(१) टूटती कड़ियाँ—सन् १९४३ मार्च
(२) आदि और अन्त—,, १९४३ दिसंबर
(३) हे मेरे देश—,, १९४७
कहानी-संग्रह—(१) देवता— ,, १९३९
(२) विभेद— ,, १९४०
(३) अन्तर की बात—,, १९४२
(४) खरा और खोटा—,, १९४४
(५) कटे पंख— ,, १९४५
(६) समानान्तर रेखाएँ—,, १९४९

इन सभी रचनाओं में लेखक ने भारत की विविध समस्याओं—सामाजिक राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक तथा आर्थिक—को समझने-समझाने का प्रयत्न किया है। 'देवता' और 'खरा और खोटा' में बालकोपयोगी कहानियाँ संग्रहीत हैं, जिनके अध्ययन से बालकों की वर्तमान समस्याओं और उनकी मानसिक स्थितियों का मानोवैज्ञानिक स्वरूप स्पष्ट होता है।

राधाकृष्ण प्रसाद का जन्म सन् १९२२ में आरा शहर में हुआ था। इनके बचपन का अधिकांश भाग मानभूम जिले में बीता है। यहाँ उन्हें बँगला-साहित्य का अध्ययन करने का मौका मिला। मिडिल परीक्षा बँगला लेकर पास की। १९३८ ई० में आरा इन्स्टीच्यूट से मैट्रिक की परीक्षा पास की। फिर छपरा के राजेन्द्र कालेज से आई० ए० और बी० ए० (ऑनर्स) की परीक्षाएँ पास कीं और सन् १९४७ में हिन्दी में एम० ए० किया। राधाकृष्ण प्रसाद जी की द्रव्योपार्जन और साहित्य-साधना साथ-साथ चलती रही है। केवल १८ वर्ष की अवस्था में उन्होंने पटना के प्रसिद्ध पत्र 'बालक' का संपादन किया और 'स्वाधीन भारत' के संपादकीय विभाग में भी कुछ दिन तक काम किया। सन् १९४५-४६ तक ये बिहार सरकार के अन्तर्गत प्रचार-विभाग में पब्लिसिटी आफिसर के पद पर काम करते रहे। इसके बाद सन् '४८ से ये आल इण्डिया रेडियो (पटना) के वार्त्ता-विभाग में एक उच्च पद पर काम कर रहे हैं।

राधाकृष्ण प्रसाद का रचना-काल सन् '३५ से आरम्भ होता है जब वे ७वीं क्लास में पढ़ते थे, तभी उनकी प्रथम कहानी 'धर्मपत्नी' महाकवि जयशंकर-प्रसाद की प्रसिद्ध पत्रिका 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थी। १०वीं क्लास तक पहुँचते पहुँचते उनकी कहानियाँ लगभग सभी प्रमुख पत्रों में छपने लगी थीं। उनकी अधि-

कांश कहानियाँ 'विशाल भारत' (कलकत्ता) में प्रकाशित हुई हैं। कहानी पढ़ना और लिखना इस लेखक का एक खास धन्धा रहा है। सन् '४४ तक कहानी लिखने का क्रम अबाध गति से चलता रहा। उनके साहित्य का अधिकांश भाग ९-१० वर्षों के अंदर प्रकाशित हुआ है। उनकी प्रारम्भिक कहानियाँ भावना-प्रधान हैं। आदि की कहानियों में भावना और बुद्धि का परिपाक अथवा सामंजस्य हुआ है।

राधाकृष्णप्रसाद हिन्दी के एक प्रगतिशील कहानीकार हैं, प्रगतिवादी लेखक नहीं। साहित्य को किसी राजनैतिक 'वाद' या सिद्धांत के कठघरे में बाँध रखना उन्हें स्वीकार नहीं है। वे साहित्य के स्वच्छंद प्रवाह और उन्मुक्त विकास में अधिक आस्था रखते हैं। इसीलिए उनकी कहानियों को हिन्दी के किसी भी कहानी-स्कूल के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। उनका कहना है कि हिन्दी-कहानी का विकास स्वतंत्र रूप में हुआ है। इसलिए उसको स्कूलों में या वर्गों में बाँटना उचित न होगा। पहले उन्होंने प्रगतिशील साहित्य आन्दोलन में दिल खोलकर भाग लिया था, लेकिन जब उसका रूप विकृत होने लगा तब उस ओर से उनकी सहानुभूति शिथिल पड़ने लगी। तब से ये स्वतन्त्र होकर साहित्य-साधना में लगे हैं। हिन्दी को इनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।

हंसकुमार तिवारी

[जन्म सन् १९१८]

सन् '३७ में गया-निवासी पं० हंसकुमार तिवारी 'जलता हुआ चिराग' लेकर हिन्दी-कविता के रंगमंच पर आये। उस समय मैं सातवें दर्जे का विद्यार्थी था। तब तिवारी जी की अवस्था सिर्फ १८ साल की रही होगी। उनकी 'जलता हुआ चिराग' शीर्षक कविता ने न जाने बिहार के कितने भावुक नवयुवक कवियों के हृदय को आलोकित, प्रज्ज्वलित, उल्लसित और प्रेरित किया। हिन्दी-साहित्य में ये पहले-पहल कवि की हैसियत से आए और इन्होंने हिन्दी-कविता को नूतन भाव और नवीन शैली दी। गया की पावन-भूमि से दो ऐसे कल्पतरु उगे, जिन्हें विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने कविता-जल से सींच-सींचकर बड़ा किया, वे हैं—पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' और पं० हंसकुमार तिवारी। दोनों के लिए स्कूल और कालेज के दरवाजे सदा बन्द ही रहे। वास्तव में ये दो कवि 'कविर्मनीषिः परिभू स्वयम्भू' हैं। स्वाध्याय, स्वावलम्बन और साधना ने ही अपने हाथों इन दो साहित्यकारों का साज-शृंगार किया है।

जिन दिनों हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद की सुगबुगाहट होने लगी थी और हिन्दी के बहुतरे कवि इस ओर बढ़ने लगे थे, तिवारीजी उसके स्वर को अनसुना कर के सरस्वती-मन्दिर में आत्मा का दीप जलाते रहे, और आज भी वे उसीके प्रकाश में लवलीन हैं। इस कवि ने 'रूप' की अपेक्षा 'प्राण' को अधिक महत्त्व दिया है। अतः उनके काव्य-साहित्य में मस्तिष्क की कसरत की अपेक्षा हृदय की सात्विक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है।

प्रगतिवादी आलोचक तिवारीजी की कविता में मानसिक व्यभिचार की गंध पाकर उन्हें 'पलायनवादी कवि' की संज्ञा दे सकता है, लेकिन वास्तव में वे ऐसे नहीं हैं। विचारों के क्षेत्र में तिवारीजी परम्परावादी होते हुये भी विकासशील हैं। यद्यपि अपने आलोचनात्मक निबन्धों द्वारा उन्होंने नूतन प्रगतिवादियों की कटु आलोचना की है, तथापि वे स्वयं सच्ची प्रगति की ओर उन्मुख होने को प्रस्तुत रहते हैं। उनकी मानवता उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ले जाती है। जीवन हो या साहित्य, गद्य हो या पद्य, गीत हो या प्रबन्ध, तिवारी जी की विशिष्टता सदैव उनके साथ सभी जगह बनी रहती है। जिस तरह उनका व्यक्तित्व हँसमुख, मिलनसार, तीक्ष्ण, चुटीला तथा अत्यन्त व्यंग्य-विनोद से मिश्रित है, उसी तरह उनका साहित्य भी है। अपनी कविताओं, कहानियों और आलोचनाओं में उन्होंने अपने व्यक्तित्व को चमकाकर झलका दिया है। उनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति और साहित्यकार दो प्राणी हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि तिवारीजी के काव्य में हृदय की सूक्ष्म अनुभूतियों को ही अधिक खुलने का अवसर मिला है और गद्य में मस्तिष्क के भौतिक हाहाकार और हलचल को। यह भेद व्यक्तित्व की विरूपता का नहीं, गद्य और पद्य के मूल अन्तर का है। कविता यदि हृदय के संचित सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति है, तो गद्य उसकी पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय भावनाओं का प्रखर प्रकाशन। तिवारीजी के साहित्य में गद्य और पद्य का यह भेद काफी स्पष्ट है। उनके कविता-संग्रह 'अनागत' और कहानी-संग्रह 'समानान्तर' का अध्ययन करने पर यह भेद और भी स्पष्ट हो जाता है। उनकी कविता में उनके हृदय की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ ही गीतियाँ बनकर निःसृत हुई हैं। पर कहानियों में उनकी बौद्धिक चेतना, व्यक्ति-जीवन की विवशता, नारी-पुरुष का पारिवारिक संघर्ष, आर्थिक विषमता आदि ही अधिक मुखरित हुई है। वास्तव में इस कवि के व्यक्तित्व का बाहर-भीतर समरस है। सच्चे साहित्यकार का व्यक्तित्व दुहरा नहीं होता। तिवारीजी का साहित्य दुहरे व्यक्तित्व के दोष से सामान्यतः मुक्त है। विचार की बहुलता उनके गद्य-साहित्य—कहानी और आलोचना—की अचल सम्पत्ति है और हृदय की सूक्ष्म, पर व्यक्तिगत अनुभूति काव्य-साहित्य में मोती के दाने की तरह छितरा गई है। उन्होंने जीवन के जागरूक साहित्य पर कभी परदा नहीं डाला। इसलिए तिवारीजी का साहित्य उनके प्राणों का स्पन्दन, सामाजिक जीवन के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया का प्रकाशन है।

तिवारीजी ने कविता से अधिक गद्य लिखा है। कहा जाता है—'गद्यं कवीनाम् निकषम् वदन्ति'। वास्तव में गद्य किसी कवि की प्रतिभा, शक्ति और योग्यता का मापदंड है। गद्य में ही कवि के पांडित्य और गहन अध्ययन का पता चलता है। तिवारीजी का गद्य-साहित्य उनके गंभीर अध्ययन और विद्वत्ता का परिचायक है। इससे यह पता चलता है कि उन्होंने देशी-विदेशी साहित्य का कितना गहरा अध्ययन किया है। यदि उनकी किसी एक कहानी या किसी एक आलोचनात्मक निबंध का सतर्कतापूर्वक अध्ययन किया जाय तो यह समझते देर न

लगेगी कि उनके निबंध-विषयक ज्ञान की पैंठ कितनी गहरी और सूझ कितनी बारीक है।

तिवारीजी की कहानियों की संख्या उतनी अधिक नहीं है; लेकिन उन्होंने जो कुछ लिखा है, उस पर देशी-विदेशी कहानीकारों का 'खिचड़ी' प्रभाव है। इनमें ओ० हेनरी, आँस्कर वाइल्ड, प्रेमचन्द, सुदर्शन, रवीन्द्र और शरत् के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उनकी कहानियों में वर्तमान 'जीवन की कटुता' और विषमता के यथार्थ चित्र अंकित हैं। उनकी दृष्टि में कहानी जीवन की किसी ऐसे क्षण-विशेष की उल्लेखनीय घटना का संक्षिप्तता में पूर्ण विकास है जिसका सीधा प्रभाव पाठक के मन पर पड़ता है। कहानी का विषय चुनने के लिए उन्हें धरती का अंचल छोड़कर नीले शून्य आकाश की उड़ान नहीं भरनी पड़ती। आज विषम जीवन की किसी एक घटना ने उनके दिल पर असर डाला तो कल किसी दूसरी ने। लेकिन ये स्फुट घटनाएँ तत्काल ही कहानी का रूप धारण नहीं करतीं बल्कि कुछ समय लेती हैं। उन्होंने स्वयं कहा है कि 'जीवन की कटुता और विषमता के चित्रों से प्रभावित हुआ जरूर। आज किसी घटना ने दिल पर कोई छाप छोड़ी तो कल ही उसकी कोई कहानी बनकर नहीं निकली। ऐसा भी हुआ है कि साल-छः महीने बाद उसने और ही ढंग से कहानी का रूप लिया। इसलिये घटना ने प्रेरणा दी भी तो अपने रूप में वह रूप नहीं पा सकी।'

तिवारीजी की भाषा-शैली उनकी अपनी सृष्टि है। लेकिन भाषा से अधिक उन्होंने भावों को महत्त्व दिया है। वे शब्द-शिल्पी और भाव-शिल्पी दोनों हैं, क्योंकि साहित्य में वे रूप (Form) और द्रव्य (Matter) दोनों के सम्मिलित महत्त्व को स्वीकार करते हैं। गद्य-भाषा में नवीन उपमाओं की कल्पना उनकी अपनी देन है। तिवारीजी कवि, समालोचक और कहानीकार ही नहीं, एक कुशल सम्पादक भी रहे हैं। जिस योग्यता से उन्होंने 'किशोर', 'बिजली', 'छाया' और 'ऊषा' का सम्पादन किया है इससे यह सिद्ध होता है कि उनमें सफल सम्पादक के भी गुण वर्तमान हैं। हिन्दी का इतना बड़ा कलाकार आज गया की सड़क पर किताब की एक छोटी-सी दूकान का स्वामी है। यह दूकान, जो गया में 'मानसरोवर' के नाम से प्रसिद्ध है, उनकी कार्यशीलता, स्वाभिमानता, धीरता तथा साहित्यानुरागिता की प्रतीक है जो आज साहित्य के विद्यार्थियों की प्यास बुझाने के लिए सचमुच मानसरोवर ही है। यह है हमारे अधिकांश हिन्दी-लेखकों की सामान्य अवस्था, स्वतंत्र भारत में।

जानकीवल्लभ शास्त्री

[जन्म सन् १९२०]

महाकवि निराला के परम भक्त कवि श्री जानकीवल्लभ शास्त्री हिन्दी के एक ऐसे कवि हैं जिनकी वाणी में तरल संगीत की मधुरता, हृदय में सरस भावों की स्निग्धता और कविता में अनुभूति की सत्यता तथा विह्वलता और जीवन में घोर निराशा और दुःख की अधिकता है। उनका जन्म एक मध्यवर्गीय गृहस्थ-परिवार

में हुआ था। उनके पिता अनेक शास्त्रों के विद्वान् हैं। पृथ्वी पर आने के पहले शास्त्रीजी के दो बहनें और एक भाई स्वर्ग सिधार चुके थे। अनेक देवी-देवताओं की उपासना के बाद अपनी माँ की 'धीर निष्काम सिद्धि' की तरह ही ये संसार में प्रकट हुए। शास्त्रीजी जब चार वर्ष के ही थे तभी उनकी माता चल बसी थीं। उनके पिता, शास्त्रीजी के शब्दों में 'क्रोधी' हैं और माँ साक्षात् सरल और शान्त थीं। माँ के अभाव ने शास्त्रीजी के मन-प्राण को इतना अधिक झकझोरा कि उनकी समस्त साधना 'माँ-मय' हो उठी। उन्होंने स्वयं लिखा है कि 'माँ का अभाव मेरे जीवन का वह भाग है जिससे मेरी प्रत्येक भावना ओत-प्रोत है।......माँ की तपस्या को गौरव देना आवश्यक हो तो मैं इतना अवश्य स्वीकार कर सकता हूँ कि संभवतः उसीकी प्रेरणा से मैं युग के तीन महान् तत्त्व-चिन्तकों—डार्विन, मार्क्स और फ्रायड—के वैज्ञानिक दर्शनों में ही न रमा रहकर वेद-वेदान्त के चिन्तन में भी यौवन के अलसाये, खुमार-भरे दिनों को भरसक जगाये रहा। वर्तमान की विपत्ति से ही कमर तोड़कर न पड़ गया; भविष्य सुधारने के लिए खून-पसीना एक करते रहना भी पसन्द न किया और जब तक विगत अतीत के दिव्य भावों का मनन-मन्थन करके अपने उथले-छिछले दिल को भरते रहने की भी थोड़ी-बहुत उपेक्षा की।' माँ के स्वर्ग सिधारने के बहुत दिनों के बाद शास्त्रीजी काशी पढ़नेचलेगए। बहुत थोड़ी उम्र में ही उन्होंने विविध-विषयक ज्ञानों का संचय किया; वह बहुत कम लोगों को नसीब होता है। उन्हींके शब्दों में सुनिये—"मैंने सात वर्ष की उमर में अपर पास किया था; नौ वर्ष की उमर तक अंग्रेजी की दो किताबें खतम करके दसवें साल संस्कृत शुरू की थी और ग्यारह साल की उमर में फर्स्ट क्लास में प्रथमा परीक्षा पास करके गवर्नमेण्ट की स्कॉलरशिप भी पाई थी, सोलहवें साल शास्त्री और अट्ठारह साल की उमर में बिहार-उड़ीसा भर में फर्स्ट होकर गोल्ड मैडल के साथ 'साहित्याचार्य' हुआ था। फिर अंग्रेजी और बंगला पढ़ी, परीक्षाएँ दीं, साहित्यरत्न और वेदान्ताचार्य हुआ, कितने ही बहुमूल्य स्वर्ण-पदक प्राप्त किये।" बारह-तेरह साल की उमर में शास्त्री जी का विवाह एक ऐसी लड़की के साथ कर दिया गया जो बिलकुल 'बेजोड़', 'अनपढ़' और 'अनाड़ी' थी। 'बेमेल के साथ धर्म के आग्रह से ही मेल-मिलाप बनाये रखने की दुश्चिन्ताओं से उनका स्वास्थ्य टूटता गया।' इस विवाह से यह सदैव खिन्न रहे। उन्होंने अपने मौजूदा स्वास्थ्य का वर्णन करते हुए लिखा है, "आज मैं तीस वर्ष का तीव्र-तीक्ष्ण तरुण नहीं, तनहाई में बैठकर किस्मत को कोसते रहने वाला पचास वर्ष का उदास-हताश बूढ़ा हूँ।" शास्त्रीजी का अब तक का जीवन दुश्चिन्ताओं, असंगतियों और वेदना की करुण कहानी बनकर रहा है। इसीलिए उनके साहित्य में, विशेषतः कविता में, निराशा का स्वर प्रखर होकर आया है। लेकिन निराशा को उन्होंने शक्ति के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने स्वयं लिखा है—"मेरे अब तक के जीवन में दुःख का कुहरा कुछ इतनी सघनता से छाया रहा कि उसकी छाया से मैं अपने काव्य के पदों को न बचा सका, बल्कि यों कहना चाहिए कि मैंने सचमुच ही 'अँसुवन-जल-सींच-सींच काव्य-

वेलि बोई।" दुःख उनके जीवन में सभी भावनाओं की अपेक्षा अधिक स्थायी है, इसीलिए उनके काव्य-जीवन का प्रधान रस करुण है। उनकी इस करुणा की अतल गहराई में मातृ-वियोग—दुधमुँहे बचपन में माँ से उनकी जुदाई—समाई हुई है। उनके मन की चिर संचित साध मानव बनने की रही है। आज भी वे इसी ओर अग्रसर हैं। उनका विश्वास है कि कवि पैदा होता है, बनाया नहीं जा सकता। शास्त्री जी अपने कवि और कविता के बारे में लिखते हैं—"मैं कवि हूँ, कविता किये बिना रह नहीं सकता, इसलिए कविता करता हूँ, इसलिए नहीं कि डायरी लिखने की तरह कविता करने की लत लगाई है, आदत डाली है।" हृदय में घोर निराशा और तीव्र वेदना को सँजोये रखने वाले कवि के साहित्य में वीर और रौद्र रसों की खोज करना व्यर्थ प्रयास करना होगा। शास्त्रीजी इनसे कोसों दूर हैं। उनके जीवन का सम्बल दुःख अवश्य है, लेकिन उसके साथ महादेवी की तरह, सदा के लिए समझौता करना उनकी प्रवृत्ति है।

आठवाँ खण्ड

नवोदित हिन्दी-कलाकार

: १ :

कवि महेन्द्र भटनागर

सन् '३५ में हिन्दी का प्रगतिवादी साहित्य जिन पवित्र उद्देश्यों को लेकर चला, कुछ ही वर्षों में गुमराह हो गया। यही कारण है कि हम एक भी ऐसे कवि को नहीं जानते जिसका जनता के जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा हो। इसका कारण काव्य-चेतना की सचाई का अभाव है। गोल्डेन फ्रेम का चश्मा पहन, गबर्डीन का सूट धारण कर, चाय की चुस्की ले, सिगरेट के वृत्ताकार धुएँ का आनन्द ले, ऊँची अट्टालिकाओं के किसी एक खूबसूरत कमरे में, बिजली के पंखे के नीचे बैठ, चुरुट का कश लेकर और दिमाग खरोंच-खरोंचकर हम भले ही प्रगतिवादी अथवा प्रयोग-वादी कविता लिखने का स्वाँग भरें, पर जिसमें समवेदना नहीं, अनुभूति की गहराई नहीं, विचार-पथ की स्पष्टता नहीं, कल्पना की सचाई नहीं, वह कवि नहीं हो सकता; उसकी कविता सही मानी में कविता नहीं हो सकती। फलतः 'प्रगति' और 'प्रयोग' के नाम पर कलम घिसने वाले हमारे कवि आज दो दलों में, आपसी फूट के कारण बँटे हुए हैं। एक दल अपनी प्रयोगशाला में हिन्दी-कविता का नित नया प्रयोग कर रहा है और दूसरा जीवन-प्रगति के नाम पर राजनैतिक मतवाद का प्रचार-पोषण करता जा रहा है। इस सम्बन्ध में श्री मन्मथनाथ गुप्त ने ठीक ही कहा कि "इस धमा-चौकड़ी और कोलाहल का सबसे अधिक असर हिन्दी-क्षेत्र में कविता पर पड़ रहा है। कहीं कोई झंडा उठा रहा है तो कहीं कुछ नारा बुलन्द हो रहा है। जाने कितने वाद खड़े किये जा रहे हैं। कुछ की जड़ें हिन्दी में हैं, कुछ की उनके बाहर साहित्यों में, और कुछ की जड़ें कहीं भी नहीं, यहाँ तक कि उनके प्रवर्तकों के मन में भी नहीं।" मध्यभारत के तरुण कवि श्री महेन्द्र भटनागर का उदय हिन्दी-कविता के ऐसे ही गत्यवरोध-काल में हुआ है, खासकर ऐसे समय में जबकि तथाकथित प्रगति-वादी साहित्य की दीवार में दरार पड़ चुकी थी, धराशायी होने ही वाली थी वह। लेकिन जन-वाणी, जन-शक्ति और जन-जागरण का यह पुजारी, नवयुवक कवि, सारी शक्तियों के साथ, दृढ़-विश्वास भरे शब्दों में दहाड़ता हुआ बोला :

गिर नहीं सकती कभी विश्वास की दीवार !
निर्मित तप्त जन-जन के लहू से,
वज्र-सी, फौलाद-सी दृढ़ हड्डियों से,

नींव के नीचे पड़े
कातर अनेकों मूक जन-बलिदान ![१]

प्रगति-पथ के इस चौकस चौकीदार को पाकर प्रगतिशील (प्रगतिवादी नहीं) हिन्दी-कविता धन्य हो गई है। कविता की इस नवीन वंश-परम्परा के नाम को उजागर करने वाले इस जिन्दादिल कवि को हमने मरुभूमि में ओएसिस की तरह पाया है। साहित्य के इतिहासकार को महेन्द्र भटनागर के नाम और काम के ऐतिहासिक महत्त्व के मूल्यांकन में कोई कठिनाई न होगी, क्योंकि अपनी रचनाओं के द्वारा वे स्वतन्त्र भारत को नवविहान और नवप्रभात का नव-संदेश देते जा रहे हैं। यद्यपि इस नवोदित कवि ने भी कविता में नये प्रयोग किये हैं, प्रगति के गीत गाए हैं, लेकिन श्री महेन्द्र इनका प्रयोग केवल प्रयोग के लिए नहीं, वरन् नवजीवन को सामाजिक नवचेतना देने के लिए करते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "मैं प्रयोग करता हूँ, लेकिन प्रयोग से मेरा अभिप्राय उन प्रयोगवादियों से भिन्न है जो प्रयोग के चामत्कारिक प्रदर्शनों से साहित्य की जनवादी विचार-धारा को दबा रहे हैं। प्रयोगों का सामाजिक सम्बन्ध होना अनिवार्य है।" प्रगतिवाद के विरुद्ध भी इस नवयुवक कवि के हृदय में प्रतिक्रिया के भाव उदित हुए हैं। 'बदलता युग' की भूमिका में उसने इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"मैं यह देख रहा हूँ कि हिन्दी के अनेक प्रगतिशील-जनवादी कवियों में आज वह तेजी नहीं रही जो पहले थी। उनमें से बहुत-से प्रयोग-शैली की भँवर में फँसकर जनवादी परम्पराओं से दूर होते जा रहे हैं। उनकी कविताएँ दुरूह, कलाहीन, अप्रभावशाली होती जा रहीं हैं। मैं जहाँ कविता में नये-नये प्रयोगों का समर्थक हूँ, वहाँ दूसरी ओर उसके विचार-पक्ष में प्रगतिशील दर्शन की छाया भी देखना चाहता हूँ; तभी कविता राष्ट्रीय तथा सामाजिक चेतना दे सकेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।" कवि के इस वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि कवि महेन्द्र ने हिन्दी के तथाकथित प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कवियों से अलग हिन्दी-कविता का एक ऐसा राज-पथ बनाने का निश्चय किया है, जिस पर सबको निर्भय और निर्द्वन्द्व होकर विचरण करने का जन्म-सिद्ध अधिकार स्वतः प्राप्त है। प्रसन्नता की बात है कि इस कवि ने एक ओर छायावाद की अतिशय कुहेलिका से और दूसरी ओर प्रगति और प्रयोग के नाम पर होने वाली त्रिशंकु-बहुल कविता की रचना से अपने को भरसक बचाया है और हिन्दी-कविता को स्वतन्त्र गति से प्रवाहमान होने का सुअवसर दिया है। वाद के बवंडर में पड़कर हिन्दी-कविता कटे पतंग की स्थिति में पहुँच गई है। श्री महेन्द्र-जैसे कवियों से हिन्दी-कविता का गतिरोध दूर हो सकेगा, ऐसी आशा की जाती है। हिन्दी-कविता को क्रमशः वे नई दिशा, नई चेतना और नई आशा का सन्देश दे रहे हैं। प्रगति-पंथी कवियों की अपेक्षा इनकी कविता में मानवीय समवेदना की सचाई, मार्मिकता और ईमानदारी अधिक है। डॉ० रामविलास शर्मा ने हिन्दी के इस उदीयमान कवि की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा है—"कवि महेन्द्र भटनागर की सरल, सीधी

१. 'बदलता युग'

सीधा सम्बन्ध न रहते हुए भी वह देश में घटने वाली राजनैतिक घटनाओं और परिणामों से अवगत रहा है। देश के प्रति उसकी वफादारी कवि महेन्द्र की अनेक कविताओं से झलकती है। उसके कवि-व्यक्तित्व की सामाजिकता में एक ओर मार्क्स-लेनिन की अर्थ-व्यवस्था की और दूसरी ओर गाँधीजी की नैतिकता की स्वीकृति है। वह किसी राजनैतिक पार्टी का सक्रिय सदस्य भी नहीं, वह सबका है, किसी का भी नहीं। कर्म की यह परख श्री महेन्द्र को हिन्दी के तमाम वामपंथी कवियों से अलग करती है। अतः इसको गाँधीवादी या कम्युनिस्ट की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसका व्यक्तित्व, दृष्टिकोण और शिल्प सब अपने हैं।

कवि महेन्द्र के काव्य पर व्यापक अनुशीलन करने का अवसर और अवकाश यहाँ नहीं है। यहाँ तो मैंने सिर्फ इतना ही निवेदन किया है कि हिन्दी-कविता के आकाश में यह नवोदित कवि सर्वथा नूतन और उज्ज्वल नक्षत्र बनकर उदित हुआ है, जो अपने साथ हिन्दी-कविता का नया पथ, नया संदेश और नई उमंग-आशा लेकर आया है। उसका स्वागत होना ही चाहिए। ऐसा न हो कि रानी लक्ष्मीबाई की झाँसी में पैदा होने वाला यह सिपाही, महाकवि कालिदास की प्रसिद्ध नगरी उज्जैन से शिक्षा-विशारद होने वाला यह शिक्षार्थी और राजा मानसिंह के ऐतिहासिक नगर ग्वालियर से स्नातक होने वाला यह विद्यार्थी प्रान्तीयता की चहारदीवारी में फँसा रह जाय। अब तक उनकी अनेक कृतियों का प्रकाशन हो चुका है। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) तारों के गीत (१९४९), (२) टूटती शृङ्खलाएँ (१९४९), (३) लड़खड़ाते कदम (कहानी-संग्रह १९५२), (४) बदलता युग (१९५३), (५) अभियान (१९५४), (६) चाँद, मेरे प्यार (१९५४)।

कवि महेन्द्र विकास और निर्माण के पथ पर बढ़े चले जा रहे हैं। उनसे हिन्दी-साहित्य को अभी बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। अभी तो उनकी काव्य-कला का प्रस्फुटन ही हुआ है, उभरना, निखरना और सँवरना तो बाकी ही हैं। राजनीति की सँकरी गली में अगर ये न फँसे तो निश्चय ही उनकी कविता सारे देश में जन-मन की आरती उतार सकेगी।

: २ :

उपन्यासकार कमल शुक्ल

स्वतन्त्र भारत में हिन्दी-उपन्यास की अपनी गति, अपनी नाक और अपना नक्शा है। प्रेमचन्द-जैनेन्द्र के बाद हमारे उपन्यास-साहित्य ने जो मार्ग अपनाया है। वह धक्का-मुक्की, रेल-पेल और नगर की अस्त-व्यस्तता और अशान्ति का है। हमारे उपन्यासकार आज चौक पर खड़े हैं। अत: गतिरोध है। आज देश में जितनी राजनैतिक पार्टियाँ हैं, जिन विचार-धाराओं का चलन है, हिन्दी-उपन्यासों के उतने ही रूप हैं। मतलब यह कि हमारा उपन्यास आज राजनैतिक दासता की अधीनता में विकास-पथ खोज रहा है। यदि कोई गाँधीवाद की सत्य-अहिंसा का प्रचार कर रहा है, तो कोई साम्यवाद अथवा समाजवाद का नगाड़ा बजा रहा है; यदि कोई वर्तमान की उपेक्षा करके भारत की विशुद्ध संस्कृति के प्रत्यावर्तन में व्यस्त है, तो कोई व्यक्ति के मन:विश्लेषण में जगत् और देश को भूला है। 'वाद' आज साहित्य का शृङ्गार हो गया है और हमारे साहित्यकार उस 'वाद' के बन्दी हैं। सिद्धान्त और विचार की सीमाओं में बँधकर काम करना हमारे उपन्यासकारों को भी अभीष्ट है। पर यह प्रसन्नता की बात है कि प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में नये-नये लेखक अपनी पूरी गति और महत्त्वाकांक्षा के साथ सामने आ रहे हैं। इनमें हंसराज 'रहवर, कंचनलता सब्बरवाल, नागार्जुन, अब्बास, कृष्णचन्द, रांगेय राघव, धर्मवीर भारती, गुरुदत्त, देवराज, मन्मथनाथ गुप्त राहुल इत्यादि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। श्री कमल शुक्ल भी इन्हीं नवोदित कथाकारों में से हैं जिनका उदय अभी हाल ही में हुआ है। लेकिन कुछ ही वर्षों में उनके उपन्यास-साहित्य में अच्छी पकड़ और पहुँच आ गई है। कमल शुक्ल की एक विशेषता यह है कि इन्होंने प्रेमचन्द की परम्परा को जीवित रखने का भरसक प्रयत्न किया है और अपने को किसी भी 'वाद' का बन्दी होने नहीं दिया है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में नगर और गाँव के उस परिवारिक जीवन का चित्रण किया है जो नैतिक और आर्थिक दृष्टियों से पतित होता रहा। कमल शुक्ल भी मूलत: 'परिवार' के उपन्यासकार हैं, उस परिवार के, जो जर्जर है, अस्त-व्यस्त, त्रस्त, तबाह और बर्बाद है और जो निम्न मध्य-वर्ग की सीमाओं को तोड़कर श्रमिकों की परिधि में समा जाने वाला है। इस लेखक की दृष्टि में आर्थिक जीवन के महत्त्व का मूल्य कम नहीं। इसने नैतिकता के पतन में, व्यक्तित्व के लोप में, सद्भाव-सहयोग के विनाश

में अर्थ का पतन देखा है। परिवार में सुख-शान्ति के अभाव का कारण अर्थ के संतुलन का ह्रास तो है ही, कुछ रूढ़िगत परिस्थितियाँ भी हैं, जो व्यक्ति के जीवन के साथ लगी हैं, जो जन्म से लेकर मृत्यु तक उसका साथ नहीं छोड़तीं। हमारे दुःख और अशान्ति का कारण भाग्यवाद भी है। कमल शुक्ल के उपन्यासों में, विशेष रूप से 'मौलश्री' में, भाग्यवाद और पुरुषार्थवाद का संघर्ष दिखलाया गया है। समाज की रूढ़ियों और परिस्थितियों से पुरुषार्थी चरित्र जूझते हैं, तूफानों से खेलते हैं, लेकिन उनसे उनका उद्धार नहीं होता; क्योंकि ये रूढ़ियों, परिस्थितियों और आर्थिक स्थितियों के आगे अपने को निरुपाय और निस्सहाय पाते हैं। 'काले नगर में' में कमल शुक्ल ने उमाकान्त के द्वारा यही दिखलाया है। 'मौलश्री' का राकेश, 'राग और त्याग' का शैल और 'काले नगर में' का उमाकान्त—ऐसे ही चरित्र हैं। ये सभी नायक हैं, पर अपनी सीमाओं में बँधे, परिस्थितियों के बंदी और सर्वहारा-वर्ग के प्रतिनिधि हैं। शुक्ल जी के नायक भाग्य, भगवान् और रूढ़ियों से संघर्ष करते हैं लेकिन अन्त में उनके आगे घुटने टेक देते हैं। उनकी नायिकाएँ भारतीय नारीत्व का प्रतिनिधित्व करती हैं। सच तो यह है कि उनकी नायिकाओं के चरित्र जितने सजीव उतरे हैं, उतने नायकों के नहीं। यदि नायकों में संघर्ष का तेज है, तो नायिकाओं में शान्ति का संयम। नीलकमल, मौलश्री, तुलसी, जयन्ती ऐसी ही नारियाँ हैं।

कमल शुक्ल की औपन्यासिक संभावनाएँ धीरे-धीरे स्पष्ट होती जा रही हैं। उनके चार उपन्यास प्रकाश में आ चुके हैं—१. राग और त्याग, २. मौलश्री, ३. काले नगर में, ४. पथ से दूर। इनके अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उनकी उपन्यास-कला विकास-पथ पर अग्रसर है।

'राग और त्याग'

'राग और त्याग के 'अवलोकन' में श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने लिखा है, "उसकी (राग और त्याग) कथा में पकड़ है। उसके पात्रों में लौकिक चिन्ता-धारा का स्वाभाविक आवेश और संतुलन है।......उसमें घटनाओं का अभाव नहीं है, वरन् एक प्रकार से हम इस उपन्यास को घटना-मूलक ही कहेंगे।" डा० रांगेय राघव को इस उपन्यास में 'परिवारिक जीवन का......सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्रण' मिला है। 'सामाजिक रूढ़ियों तथा क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का तुमुल अन्तर्द्वन्द्व 'राग और त्याग' में है। यह हमारे मन पर असर करता है।' यह लेखक की प्रथम कृति है, अतः इसकी कुछेक त्रुटियाँ विस्मरणीय हैं। इसके कथानक की गति-विधि सिनेमा की कथा-पद्धति से प्रभावित मालूम होती है। सिने-कथानक का सबसे बड़ा दोष आकस्मिक घटनाओं का समावेश है। शुक्ल जी का उपन्यास साहित्य इस दोष से सर्वथा मुक्त नहीं। 'राग और त्याग' में आकस्मिक हृदय-परिवर्तन और दो चरित्रों की अचानक भेंट, कई स्थानों पर हुई है। इनसे कथा की स्वाभाविकता और जीवन की यथार्थता को धक्का लगा है। लेकिन इस दोष का मार्जन शुक्लजी के उपन्यासों के अन्तिम अध्याय

कर देते हैं। उपन्यास का अंत जितना सुन्दर, आकर्षक तथा सजीव हुआ है, उतना आरम्भ नहीं। कथा की धारा ज्यों-ज्यों प्रवाहित होती गई है, त्यों-त्यों प्रभाव का उत्कर्ष बढ़ता गया है। 'राग और त्याग' का अन्त नाटकीय, पर आकस्मिक है। लेकिन इसकी आकस्मिकता नाटकीयता के आवरण में विलुप्त हो गई। इस उपन्यास के जीते-जागते चरित्रों में शैल, रीता, नीलकमल और चौबेजी हैं। पूरे उपन्यास में इन चरित्रों में राग और त्याग का संघर्ष दिखलाया गया है। अतः उपन्यास का नाम सार्थक है।

मौलश्री

यह शुक्लजी का दूसरा उपन्यास है। मौलश्री इसकी नायिका है। वह विधवा है, बाल-विधवा। उसका न कोई स्वजन है, और न परिजन। उसका जीवन सेवा का प्रतीक है। भारतीय नारीत्व उसमें कूट-कूटकर भरा है। कमल शुक्ल की उपन्यास-कला की दूसरी विशेषता यह है कि वे घटना और चरित्र-चित्रण के संतुलन में अधिक सफल हुए हैं। आज उपन्यासों में घटनाओं की न्यूनता होती जा रही है। शुक्ल जी उन उपन्यासकारों में से हैं जो घटना और चरित्र में से किसीको गौण स्थान देना नहीं चाहते। अतः यह कहना उचित होगा कि इस दिशा में शुक्ल जी को अपनी उपन्यास-कला में सफलता मिली है। 'मौलश्री' में घटनाएँ बनती हैं और सँवरती हैं तो चरित्र भी उभरते गए हैं। घटना और चरित्र का यह संयोग अद्भुत है। इस उपन्यास में समाज और परिवार, व्यक्ति और समाज का संघर्ष दिखलाया गया है। उपन्यासकार ने 'आमुख' में लिखा है कि "मौलश्री के पात्रों के साथ मेरी अपनी अनुभूति और निज के स्पंदनों का बड़ा ही घनिष्ठ संबंध है।" इसीलिए 'मौलश्री' 'राग और त्याग' से अधिक सुन्दर और सजीव उपन्यास बन पड़ा है। 'मौलश्री' के नारी-चरित्र में जो शालीनता, संयम, शांति और चरित्र की निष्ठा रखी गई है वह असाधारण है।

काले नगर में

यह कमल शुक्ल की तीसरी कृति है, अथवा लेखक का अगला तीसरा कदम है। यहाँ लेखक ने पिछले दो उपन्यासों की भाव-भूमि छोड़कर दूसरा मार्ग अपनाया है, प्रेमचन्द-कृत 'गोदान' का। यह उपन्यास आदर्श की छाया से दूर, वर्तमान यथार्थ जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है। उपन्यासकार ने स्वयं इस पुस्तक की 'प्रेरणा' में स्वीकार किया है—'यह एक नए ढंग का लघु-उपन्यास है। आकार में लघु, किन्तु विचारों में बहुतों से बड़ा।' लेखक के इस कथन में सचाई है और गहराई भी। 'गोदान' के ६०० पृष्ठ वाले कथानक को शुक्ल जी ने १३८ पृष्ठों में समाविष्ट कर दिया है। यहाँ लेखक ने उमाकान्त (जो इस उपन्यास का नायक है) के जीवन की एक ही कहानी कही है। वह कहीं भी इधर-उधर नहीं भटका है। कथा की यथार्थता और सजीवता में यह उपन्यास पिछले दो उपन्यासों से अधिक मार्मिक है। अन्य उपन्यासों में शुक्लजी ने बहुतेरे पात्रों की जीवनगत कहानियाँ कही हैं,

लेकिन इसमें केवल उमाकान्त की कहानी कही गई, जिसमें आँसू, अवसाद और अभाव का आग्रह विशेष रूप से उभरा है। 'काले नगर में' एक निर्धन शिक्षक की करुण, परिवारिक जीवन की कशमकश का जीता-जागता चित्रण है।

पथ से दूर

कमल शुक्ल का यह चौथा उपन्यास नये मार्ग की खोज में निकला है। शिक्षक के आर्थिक जीवन की कहानी कह लेने के बाद अब वह 'गुमराह और अधकचरे छात्रों' के ह्रासोन्मुख नतिक जीवन की कहानी कहने चला है। शुक्लजी ने पुस्तक की भूमिका में लिखा है····"गुमराह और अधकचरे छात्रों के लिए यह पुस्तक एक आइना है, जिसमें प्रतिक्षण वे अपना वास्तविक प्रतिबिम्ब निहारकर जीवन-पथ पर आगे बढ़ सकते हैं।" क्योंकि लेखक को "अपने विद्यार्थी-वर्ग से विशेष सहानुभूति है और यही सहानुभूति प्रेरणा बनकर इस कृति में उतर आई है।" इस उपन्यास में दो प्रकार के नारी-चरित्रों की सृष्टि हुई है—जयन्ती और नीलिमा। नीलिमा 'गोदान' की मालती है, जो अपने पंखों की छाया में मधु-संचय किये बैठी है, जो रस के भौरों को अपनी ओर आकर्षित करके उसका सब-कुछ चूस लेती है। जयंती 'ममत्व की चाँदनी' है, जिसमें चन्द्र-किरण की शीतलता और शालीनता है। शुक्ल जी ने इस लघु-उपन्यास के द्वारा यह दिखलाया है कि आज नारी में नीलिमा का बंश बढ़ता जा रहा है और जयन्ती युग के पर्दे के पीछे छिपती जा रही है। आज के स्कूल-कालेजों के वातावरण में पनपने वाली युवतियाँ जयन्ती की जय में नहीं, नीलिमा के निलय में रहना रुचिकर समझती हैं। मुकुल उपन्यास का नायक है, जो नीलिमा के नशे में चूर है। आज की भारतीय नारी पथ से दूर है, युवक भी पथ से दूर चला गया है। यही इस उपन्यास का सन्देश है। फिर भी, उपन्यासकार नीलिमा के प्रति अनुदार नहीं है, चाहिए भी नहीं। आज कालेज और विश्व-विद्यालय का डिग्रीधारी विद्यार्थी फिल्म-नायक, लेखक, कवि और कलाकार बनने के मीठे सपने लेकर चहारदीवारी के बाहर आता है, लेकिन बदले में मिलती हैं, असफलता, बेकारी और भुखमरी। शुक्लजी ने कुछ इसी तरह का निष्कर्ष निकाला है।

उपर्युक्त चार उपन्यासों के विवेचन और अध्ययन से यह स्पष्ट है कि हिंदी में कमल शुक्ल अभी अपने प्रयोग और निर्माण-काल में हैं, जिनमें विकास और उत्कर्ष की संभावनाएँ आशाप्रद हैं। निसन्देह यह लेखक हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में ऊँचा आसन ग्रहण करेगा, अगर इसने अपनी दृष्टि स्पष्ट रखी और अपने को किसी 'वाद' का वन्दी नहीं बनाया।